

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 3, अंक : 8, अप्रैल-जून 2016

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

# मुक्तांचल



मूल्य : 50 रुपये



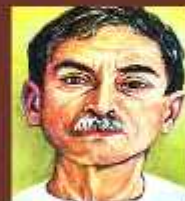
विद्यार्थी मंच



## उत्स पार से...

प्रेमचंद

(31 जुलाई 1880 - 08 अक्टूबर 1936)



उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है। अगर उसमें इसका अभाव है, तो वह अपने काम में कभी सफल नहीं हो सकता। उसमें और चाहे जितने अभाव हों पर कल्पना-शक्ति की प्रखरता अनिवार्य है। अगर उसमें यह शक्ति मौजूद है तो वह ऐसे कितने ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है, जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। अगर इस शक्ति की कमी है, तो चाहे उसने कितना ही देशाटन क्यों न किया हो, वह कितना ही विद्वान क्यों न हो, उसके अनुभव का क्षेत्र कितना ही विस्तृत क्यों न हो, उसकी रचना में सरसता नहीं आ सकती। ऐसे कितने ही लेखक हैं जिनमें मानव-चरित्र के रहस्यों का बहुत मनोरंजक, सूक्ष्म और प्रभाव डालने वाली शैली में बयान करने की शक्ति मौजूद है; लेकिन कल्पना की कमी के कारण वे अपने चरित्रों में जीवन का संचार नहीं कर सकते, जीती-जागती तस्वीरें नहीं खींच सकते। उनकी रचनाओं को पढ़कर हमें यह ख्याल नहीं होता कि हम कोई सच्ची घटना देख रहे हैं।

इसमें संदेह नहीं कि उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिए; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शब्दों का गोरखधंधा रचकर पाठक को इस भ्रम में डाल दें कि इसमें जरूर कोई न कोई गूढ़ आशय है। जिस तरह आदमी का ठाट-बाट देखकर हम उसकी वास्तविक स्थिति के विषय में गलत राय कायम कर लिया करते हैं, उसी तरह उपन्यासों के शाब्दिक आडम्बर देखकर भी हम ख्याल करने लगते हैं कि कोई महत्त्व की बात छिपी हुई है। संभव है, ऐसे लेखक को थोड़ी देर के लिए यश मिल जाय, किंतु जनता उन्हीं उपन्यासों को आदर का स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।

साहित्य का उद्देश्य

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

# मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-3, अंक- 8, अप्रैल-जून 2016

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा  
सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय  
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा  
प्रबंध संपादक : आनंद प्रसाद नोनिया  
कला संपादक : शुभांगता श्रीवास्तव  
आकल्पक : सोनू प्रजापति

## व्यवस्थापन :

सुलेखा कुमारी, प्रियंका सिंह, जीवन सिंह

## विशेष सहयोग :

डॉ. इतु सिंह : खिदिरपुर कॉलेज, कोलकाता  
डॉ. मनीषा झा : उत्तर बंग विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग  
डॉ. पुनीत कुमार राय : शा. महाविद्यालय, शंकरगढ़, छत्तीसगढ़  
राजीव रंजन : अरुणाचल विश्वविद्यालय, अरुणाचल

मुक्तांचल A/c- 50200014076551  
HDFC BANK, BURRABAZAR,  
KOLKATA- 700007  
IFSC CODE- HDFC0000219

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं  
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र  
कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

## संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन  
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल  
संपर्क - 0332675 7195/1686  
ई-मेल - muktanchalquarterly2014@gmail.com

## संपर्क :

संपादक : 098314 97320,  
Email : sinhameera48@gmail.com  
सह- संपादक : 098308 39032  
Email : pandeyarchanaphd@gmail.com  
प्रबंध संपादक : 09748322234  
Email : anand87prasad@gmail.com

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,  
कोलकाता-700 009

## हिंदी उपन्यास पर विशेष

## मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

## सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

## संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/-, आजीवन- ₹ 2500/-

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त ₹ 30 देय होगा।

‘केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त’

## अवस्थिति

शोध	संस्तुति	
	आलेख	
समीक्षा	08 देवनाथ सिंह आनंद गौतम :	भीष्म साहनी : दृष्टि और सृष्टि
	13 डॉ. राणा प्रताप :	बीसवीं सदी का अंत और उपन्यास
	22 डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ :	समकालीन हिंदी उपन्यास के फ्रेम में 'लोकतंत्र'
	27 डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र :	सेवासदन : समकालीन समस्याओं का आख्यान
	31 डॉ. छोटेलाल बहरदार :	मैला आँचल : व्यक्ति, समय और समाज
	40 डॉ. पुनीत कुमार राय :	प्रेमचंदोत्तर हिंदी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन
क्षण	46 डॉ. रामकिंकर पाण्डेय :	ऐतिहासिक उपन्यासों के सर्जक : वृंदावललाल वर्मा
	अनुशीलन	
	51 डॉ. तस्सेम गुजराल :	'कुम्भीपाक' का सभ्यता विमर्श
	58 डॉ. विवेक कुमार जायसवाल :	'कितने पाकिस्तान' : रूहानी तकलीफों का दास्तान
सृजन	64 डॉ. प्रिया राय :	ग्लोबल गाँव का देवता: आदिवासी समाज का आर्तनाद
	विमर्श	
संज्ञ	67 प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी :	उत्तर-आधुनिक अवस्था
	अन्तःपाठ	
	76 अरुण अभिषेक :	तापसी : अनस्तित्व से अस्तित्ववान स्त्री
	पुनर्पाठ	
संज्ञ	79 डॉ. शशिभूषण द्विवेदी :	शताब्दियों और शाश्वत प्रश्नों के 'आज' की चित्रलेखा
	गवेषणा	
संचार	84 रमेश कुंतल मेघ :	क्या भवभूति की नाट्य-चित्रवीथी अजंता की गुफाओं की चित्रदीर्घाओं से भी अनुप्रेरित है ?
	कविता	
	94 कृष्ण भावुक :	ऊधमसिंह कहाँ है !
	95 काली प्रसाद जायसवाल :	कविता, धुआँ आँखों से, वे
र	96 अशोक अंजुम :	गज़ल

शोध	97 ज़हीर कुरेशी :	गज़ल
	98 डॉ. नलिन :	गज़ल
	99 धर्मेन्द्र गुप्त साहिल :	गज़ल
समीक्षण	सरगम के सुर साधे	
	100 सुनीता जैन :	बिना तुम्हारे, गीली परांत में
	कहानी	
	103 राकेश भारतीय :	बर्फ़
	109 सुशान्त सुप्रिय :	कहानी कभी नहीं मरती
	115 विद्या लाल :	नहीं उठेगा जनाजा मेरा
सृजन	भाषान्तर	
	119 महेश जायसवाल :	निर्वाचित कविता- सुनील कुमार (बांग्ला कविता)
		मूल कथाकार: सुनील कुमार
संस्कार	पुस्तकायन	
	121 डॉ. मीरा सिन्हा:	‘पानी भीतर फूल’: ‘अ-भाव’ में ‘भाव’ का दिव्य संसार
	125 डॉ. गोरेलाल चंदेल :	आदमी की तलाश का सफ़रनामा ‘मेनलैंड का आदमी’
	129 डॉ अर्चना पाण्डेय :	बौद्धिक चिंतन का प्रकर्ष : महादेवी के साहित्य का गद्य पर्व
संस्कार	गतिविधियाँ	
	132 साहित्यिक गतिविधियाँ	
	134 अभिमत	

## संस्तुति

रफ्तार तेज से तेज होती जा रही है- डंके बज रहे हैं- विकास का बवंडर सब कुछ उड़ाये ले जा रहा है- आसमान में कुछ भी साफ नहीं है न सूरज, न चाँद, न बरसने वाले बादलों का आगाज़- सिर्फ आशंकित और आतंकित मन-प्राण त्रस्त हैं घबराये हुए परिन्दों की तरह कि क्या होगा ? बदल रहा है जमाना ? लेकिन वह बदलाव कैसा जहाँ संतोष का कोई स्रोत ही नहीं- जहाँ शांति की छावँ भी नहीं- सिर्फ हहराते सागर पर फैला निविड़ अंधकार, बाहर विकास का रावण मानवता की उलटी दिशा में चल रहा है- अगर दिशा सीधी पकड़ता तो वह दानव नहीं देव होता। त्रास इतना कठिन है कि मूल्यों को बचा पाना मुश्किल हो गया है। खुले बाजार में व्यवस्था नीलामी पर तुली है और बिकाऊ है शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति और समस्त जीवन-मूल्य।

साहित्य आज भी दर्पण-धर्म का पालन करता है। समाज को प्रतिबिंबित करने का काम वह बखुबी करता रहा है परन्तु समय ने उसकी सोद्देश्यता पर कलंक लगा दिया है। अब साहित्य का उद्देश्य अन्याय-अविचार का उद्घाटन कर उसके विरुद्ध लोगों में प्रतिरोध की क्षमता जगाना नहीं है बल्कि उनके संवेगों को उकसाकर प्रतिकार की आग में झोंकना है। साहित्य में कोई न कोई मुठभेड़ ही है। विमर्शों का दौर प्रतिक्रियाओं से भर कर प्रतिकार की चेतना से आक्रांत कर रहा है। प्रतिरोध की चेतना जहाँ सकारात्मक शक्ति देकर क्रियाशील करती है वहीं प्रतिकार नकारात्मक दिशा में ले जाकर प्रतिक्रियायित करती है। धन की खिलन्दड़ी ताकत आज सम्पूर्ण माध्यमों पर अपना कब्जा जमाये हुए है- उसके शिकंसे से निरपेक्ष हुए वगैर रोशनी तक नहीं पहुँचा जा सकता।

ऐसे में सवाल उठता है कि साहित्य अपने दर्पण में क्या 'फोकस' करे। आप दूर संचार में डूबते हुए आदमी की तस्वीर दिखा रहे हैं। किनारे खड़े तमाम लोग तमाशा देख रहे हैं। इतना ही नहीं कुछ लोग एक आदमी को पीट-पीटकर मारे डाल रहे हैं। संचार माध्यम स्क्रीन पर दृश्य जारी कर देता है। लोग निरपेक्ष दृश्यों का अवलोकन करते हैं, आस्वादन करते हैं उतनी ही निरपेक्षता से जैसे भैंस जुगाली कर रही हो। यहीं पर साहित्य और कला के फोकस का सवाल बड़ी शिद्दत से उठता है। साहित्य कला है उसमें संप्रेषण की कला निहित है परन्तु अगर वह हमारे संवेदनों को नहीं छू पाती तो उसका 'फोकस' कहीं गलत दिशा की ओर जा रहा है। समस्या यहीं जटिल हो रही है जहाँ हमारे संवेदन के समस्त सहारे जटिल और प्रभावहीन हो रहे हैं केवल 'उपभोग' ही हमारा प्रेय हो गया है। उपभोक्ता संस्कृति हमें मानवीय संवेदना से शून्य कर रही है, सुख की मृगतृष्णा में भटका रही है। कथाकार प्रेमचंद के 'ठाकुर का कुआँ' पर पानी भरने की लड़ाई वाजिब है लेकिन क्या कभी हम 'बूढ़ी काकी' की असहाय भूख को भी पहचानने की कोशिश करते हैं। साहित्य हमें पहले संवेदनशील बनाता है और तभी औचित्य भी समझाता है जिससे कि मानवता के सभी पक्षों की पुष्टि हो सके। सौ वर्ष पहले के औपनिवेशिक भारत का मानव समाज तमाम तरह की रूढ़ियों और कुरीतियों से ग्रस्त था शिक्षा एवं तकनीक की तब इतनी उन्नत नहीं थी। नवजागरण काल में लेखक, पत्रकार, बुद्धिजीवी, कलाकार एवं संवेदनशील लोग उस समय के जीवन यथार्थ में आदर्शों का रंग भरना चाहते थे जिससे अधिक मानवीय एवं उन्नत भाव हो सकें। गाँधी की विचारधारा सर्वोदय की परिकल्पना से लैस थी तो समाजवादी विचारधारा सारी दुनियाँ में वर्गहीन समाज तैयार करने का स्वप्न देख रही थी। लेकिन बीसवीं सदी के अर्धांश तक पहुँचते-पहुँचते उत्तर औपनिवेशिक काल में सपने टूटे और ध्वस्त होते गये। आदर्श धूलिसात हुए और यथार्थ ने अपने कसैलेपन से भर दिया। जनवादी चेतना संघर्षरत रही और साहित्य कला तथा संस्कृति पर अपना एक मुकाम कायम किया... किन्तु उत्तर शती पूँजी का विशाल अजगर भूमंडलीकरण के बहाने जन प्रतिरोध के सभी द्वार

पर ताले जड़ दिये। बाजार मुक्त हुआ उपभोग की छूट बढ़ी- उदारीकरण में नये विमर्शों ने साहित्य की दुनियाँ में अपनी जगह बनाई। 'सबाल्टर्न' साहित्य में चमका परन्तु वास्तव की दुनियाँ से उनकी अपनी कला और संस्कृति से विदाई हो गई। आदिवासी, जनजाति, श्रमजीवी स्त्री-पुरुष-प्रकृति के साहचर्य में जीने वाले लोग- जाति-पांति संप्रदाय के नाम पर बाँट दिये गये और अपराध एवं आतंक के नाम पर उनकी बलि दे दी गई। उनकी हिमायत में लिखा जाने वाला साहित्य आज भी अपराध का परचम माना जाता है। अभिव्यक्ति की आजादी पर हमले होते रहे हैं और अब तो उनके तरीके और भी खतरनाक होते जा रहे हैं। देश के प्राकृतिक संसाधनों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा निरंतर दोहन एवं अवशोषण का क्रम जारी है। कोई भी सत्ता विकास की उद्घोषणा लेकर व्यवस्था की बागडोर थामती है लेकिन उस छलावे में कहीं मानवता के विकास का लेश भी नहीं नजर आता। भाषा-साहित्य, कला और संस्कृति आधुनिकता के इस उत्तर युग में सब की सब छद्म लड़ाइयों से जूझ रही हैं हमारा अपना कुछ नहीं है यहाँ तक कि हमारी मनुष्यता भी केवल छद्म है हम मनुष्य होने की औपचारिकता पूरी करते हैं इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। आज की संस्कृति आय करने वाली संस्कृति है। हम कितना अधिक आय कर सकते हैं वह हमारी योग्यता में शामिल है। हमारा सृजन-संसार भी आय से मुखालिफ है- हम रचते ही क्यों हैं- सोचते भी क्यों हैं- क्योंकि इसके एवज में हमें पारिश्रमिक मिलता है।

इस अंक के लिए हिंदी उपन्यास पर विशेष रूप से आलेखों, पाठों एवं समीक्षाओं का संयोजन किया गया है। वस्तुतः हिंदी उपन्यास की परंपरा को आलोचना के कुछ रूढ़ औजारों से ही खरादा जाता रहा है। जहाँ कई सारी कृतियाँ महत्वपूर्ण होते हुए भी समीक्षित और चर्चित होने से मरहूम रही हैं वहीं कुछ नई रचनाएँ भी अपना सही मुकाम हासिल नहीं कर पा रही हैं। इन सारे हालातों के पीछे व्यवस्था एवं बाजार का अतिरिक्त दबाव ही है। कोई भी रचना सही कसौटी से गुजरे और अपनी सही जगह बना ले इसके लिए 'आलोचक' पाठक की बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है। मैंने 'आलोचक' को पाठक के विशेषण के रूप में घोषित किया है जैसे दोनों ही एक दूसरे के लिए विशेषण-विशेष्य हो सकते हैं- पाठक आलोचक या आलोचक पाठक। पाठ को पढ़ने और विश्लेषित करने की प्रवृत्ति लुप्त होती जा रही है। अध्ययन-अध्यापन, शोध एवं समीक्षण की धरती ऐसी बंजर होती जा रही है कि उसमें मौलिकता पनप ही नहीं पा रही है। पेशेवर ढंग से आलोचना पढ़कर आलोचना लिख डालना और अपने शोध-पत्र के रूप में उसका मूल्यांकन करवा लेना सहज-साध्य है। 'मुक्तांचल' के अंकों का संयोजन एवं संपादन करते हुए मैंने वरिष्ठों से जितना सहयोग पाया है वैसा नये लोगों से बिल्कुल नहीं है। नई जमात क्या केवल डिग्रियाँ बटोरकर बैठ जायेगी ? उनके लिए भाषा और साहित्य क्या सिर्फ रोजी-रोटी का जरिया बनकर रह जायेगा। क्या साहित्य जगत चर्चा-परिचर्चा, पाठ-पुनर्पाठ, आलोचना-प्रत्यालोचना से दूर होता ही चला जायेगा ? ये कुछ ऐसे विकट प्रश्न हैं जो साहित्य संसार में बढ़ती जा रही विपत्ति का संकेत देते हैं। शोध और समीक्षण में तो संकट है ही सृजन का पक्ष भी बहुत कमजोर हो रहा है। कहानी हो या कविता बड़ी ही सपाट हो रही हैं। विमर्शों के दौर में लिखी जाने वाली रचनाएँ जबरन किसी-न-किसी संकेत से जुड़ने की कोशिश करती हैं अतः अपनी निजस्वता एवं स्वाभाविकता दोनों ही खो बैठती हैं। कहानियाँ 'स्लोगन' से ज्यादा कुछ नहीं कह पातीं और कविताएँ शब्दों को भावों के साथ संवलित नहीं कर पातीं फिर कोई भी बात कविता तो नहीं हो जाती न! हो भी सकती है कोई बात कविता जब कवि शब्दों की सवारी ठीक तरह से गाँठ सके और 'अर्थ संकोच' और 'अर्थ-विस्तार' को सही आयाम दे सके। 'मुक्तांचल' के अगले अंक को कविता केंद्रित करने की योजना है। शोध, समीक्षण, पाठ, पुनर्पाठ, अन्तःपाठ एवं गवेषणा, विमर्श एवं पुस्तकायन काव्य-जगत से संबद्ध होंगे। सभी लेखकों, समीक्षकों, शोधार्थियों एवं विद्यार्थियों से यथोचित सहयोग की अपेक्षा रहेगी।



संपादक

## भीष्म साहनी : दृष्टि और अदृष्टि देवनाथ सिंह आनंद गौतम

लोकगीत की एक पंक्ति है-

“उड़ गए फूलना रह गई वास”।

(फूल तो चले गए, पर सुगंध अब भी बसी हुई है)

किसी भी बड़े लेखक के चले जाने के बाद, उसकी एक और नयी जिंदगी शुरू होती है। भीष्म साहनी (8 अगस्त 1915-11 जुलाई 2003) की पार्थिव काया को गए हुए बारह वर्ष हो गए हैं। मुक्तांचल (त्रैमासिक) ने स्व. भीष्म साहनी जैसे यशस्वी लेखक के जन्म शतवर्ष पर, उनके द्वारा प्रदत्त क्रांतिकारी विचारों एवं परिवर्तनशील चेतना का आयोजन किया है, वह स्वागत योग्य है। भीष्म साहनी अखिल भारतीय उपस्थिति के सत्-साहित्यकार थे, जिन्होंने अपने लेखकीय कर्म और धर्म का, कभी विज्ञापन नहीं किया। उनके पास एक अनविल निष्पक्ष आँखें थीं। तभी वे घटनाओं के पीछे से झाँकती सच्चाईयों को देख सके हैं। वे पंजाबी भाषी जरूर थे लेकिन हिंदी उनके लिए मातृभाषा जैसी रही। इसीलिए वे हिंदी-साहित्य की विविध विधाओं में यथेष्ट साहित्य-सृजन कर सके हैं। आज उन्हें हिंदी-साहित्य के इतिहास ग्रंथों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

भीष्म साहनी ने साहित्य की अनेक विधाओं में लिखा है- कहानी, उपन्यास, संस्मरण, आत्मकथा, साक्षात्कार, निबंध, नाटक आदि। उन्होंने अनेक विधाओं में लिखा अवश्य है किंतु चर्चित हुए कहानियों और उपन्यास ‘तमस’ के बल पर। श्री साहनी ने साहित्य संबंधी अपने विचारों का निचोड़ ‘मेरे साक्षात्कार’ की अपनी छोटी सी भूमिका में जो प्रस्तुत किया है, उसे हम यहाँ उद्धृत करना चाहेंगे, जो इस प्रकार है-

“समूचे साहित्य-सृजन के केंद्र में मनुष्य खड़ा है। सारा साहित्य मानव-केंद्रित है। पर यह मनुष्य अलग नहीं जीता। जितना हम अधिक मनुष्य को उसके एकाकीपन में दिखाने की, उसे उसके संदर्भ से काटकर दिखाने की चेष्टा करेंगे, उतना ही उसका चित्रण एकांगी और अधूरा होगा।” कहना न होगा कि श्री साहनी जैसे वरिष्ठ रचनाकार के साहित्य-संबंधी विचारों और मान्यताओं को समझने के लिए, उपर्युक्त कथन अत्यंत महत्वपूर्ण और उपयोगी है।

भीष्म साहनी के संपूर्ण कृतित्व के संक्षिप्त विवरण की प्रस्तुतीकरण में, हम सर्वप्रथम उनके कथा-साहित्य को लेना चाहेंगे, क्योंकि वही उनके साहित्य की आधार-शिला है। भीष्म साहनी प्रेमचंदोत्तर कहानीकारों में प्रमुख स्थान रखते हैं। प्रेमचंद ने कथाकारों के लिए लिखा है- “कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है, तो इसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता। जहाँ तक मानव-न्याय-बुद्धि, उसकी मौत न माँगे।”

कथा-सम्राट प्रेमचंद का उक्त कथन पढ़ते हुए कथाकार भीष्म के “किस्सा पहली कहानी” का वृत्तांत को प्रस्तुत करने का लोभ-संवरण मैं नहीं कर पा रहा हूँ, लीजिए उनकी पहली कहानी का उन्हीं के शब्दों में बयान-



भीष्म साहनी की पहली कहानी- 'अबला' शीर्षक था मेरी पहली कहानी का, जो इंटरमीडिएट कॉलेज की पत्रिका में छपी थी। हिंदी का लेखक अपनी पहली कहानी अक्सर 'अबला' नारी के बारे में लिखता है। तब मैं दसवीं में पढ़ता था। आगे की पढ़ाई के लिए, जब मैं लाहौर पढ़ने गया, तो वह कहानी वहाँ की कालेज की पत्रिका में छप गई।

देश के बँटवारे के लगभग चालीस बरस बाद लाहौर के गर्वनमेंट कॉलेज की सौवीं सालगिरह मनाई जा रही थी। कॉलेज की पत्रिका "रानी" के छात्र संपादक का मुझे पत्र मिला कि मैं इस पर कुछ लिख कर भेजूँ। मैंने प्रश्नोत्तर में उस कहानी का जिक्र किया, जो 1934 के आसपास छपी थी। मैंने यह भी लिखा कि उस कहानी की प्रतिलिपि यदि मुझे मिल सके तो मैं आभारी रहूँगा। लिख तो दिया, पर मैं जानता था कि कहानी मिलेगी नहीं, खासकर इसलिए कि वहाँ अब नागरी लिपि कौन जानता होगा। पर मुझे कहानी मिल गई। बावजूद इसके कि वहाँ कोई नागरी लिपि नहीं जानता था। छात्र संपादक माथेर हासमी की बहन मीरा ने नागरी लिपि सीखने का फैसला किया और महीने भर में उसे इतना अक्षर-बोध हो गया कि कहानी का शीर्षक पढ़ सके। साठ साल पुरानी फाइलों में कहानी ढूँढ़ी गई और मुझे भेज दी गई। कहानी तो मेरी अजीब नहीं थी, पर सम्पादक और उसकी बहन मीरा ने तो मेरा दिल जीत लिया।- भीष्म साहनी

सचमुच ही भीष्म साहनी 'संत साहित्यकार' थे। 'संत-साहित्यकार' शब्द का प्रयोग डॉ. बच्चन सिंह ने वाराणसी की 'भीष्म साहनी: एक श्रद्धांजलि' जो उनके देहावसान (11 जुलाई 2003 ई.) को अपरिणित सभा में कही थी, जो मुझे आज भी याद है, तथा जो दैनिक हिंदुस्तान वाराणसी/लखनऊ शनिवार 11 जुलाई 2003, पृ. 10 के अंक में प्रकाशित है, मुझे दूसरे दिन पढ़ने को मिला है। आज के साहित्य जगत के प्रपंचों तथा एक दूसरे को आहत करने वाली भावनाओं से दूर रहकर वे मिशनरी भाव से अपने लेखन-कर्म में लगे रहते थे। तथा मिशनरी-भाव से काम करने वालों की कद्र करते थे, जिसका एक दृष्टांत हमें उनकी पहली कहानी 'अबला' के प्रसंग में देखने को मिला है।

भीष्म साहनी के नौ कहानी-संग्रह : 'भाग्य रेखा'

(1953 ई.), 'पहला पाठ' (1957 ई.), 'भटकती राख' (1966 ई.), 'पटरियाँ' (1973 ई.), 'वांङ्चू' (1978 ई.), 'शोभा-यात्रा' (1981 ई.), 'निशाचर' (1983 ई.), 'पाली' (1989 ई.), 'डायन' (1998 ई.) प्रकाशित हैं। भीष्म जी अपनी प्रगतिशील जीवन-दृष्टि के लिए प्रख्यात रहे हैं। नयी कहानी के दौर में उनकी 'चीफ की दावत' कहानी बहुत प्रसिद्ध हुई थी। सन् 1954 के बाद की कहानी 'नयी कहानी' कही गयी है। नयी कहानी के उद्भव की प्रेरणा कहानीकारों को प्रेमचंद की विश्व-विख्यात कहानी 'कफन' से मिली है। भीष्म जी प्रेमोचन्दोत्तर कहानीकारों में प्रमुख स्थान रखते हैं, जिन्होंने कहानी और नई कहानी दोनों को रचने और समृद्ध करने में पर्याप्त योग दिया है। सामाजिक यथार्थ की जो परंपरा प्रेमचंद जी ने प्रारंभ किया, उसे अधिक वैज्ञानिक सूझ-बूझ तथा कलात्मक आधार देकर वे ही प्रस्तुत कर सके हैं। 'चीफ की दावत' में पिछली कालातीत पीढ़ी की प्रतीक 'माँ' का उपयोगितावादी आकलन करते हुए वर्तमान मूल्य-संकट की ओर संकेत किया गया है। पूँजीवादी व्यवस्था में परिवार किस तरह टूटते हैं, 'चीफ की दावत' में बड़ी खूबसूरती से दर्शाया गया है।

भीष्म जी की जिन कहानियों की आलोचकों ने मुक्तकंठ से सराहना की है, उनमें 'अमृतसर आ गया', 'ओ हरामजादे', 'वांङ्चू' और 'यास' को लिया है। 'नया ज्ञानोदय' जनवरी, 2009, पृ. 105 में, भीष्म साहनी की लम्बी कहानी 'वांङ्चू' छपी है। जिसे विजयमोहन सिंह ने गहरे अर्थ की राजनैतिक कहानी माना है। इस कहानी को पढ़ते हुए, हमने यह अनुमान किया है कि कहानीकार ने भारत-चीन के रिश्तों की हकीकत से दुनिया का परिचय कराया है। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार- 'सादगी और सहजता भीष्म जी की कहानी-कला की ऐसी खूबियाँ हैं, जो प्रेमचंद के अलावा और कहीं नहीं दिखाई देती हैं। जीवन की विडम्बनापूर्ण स्थितियों की पहचान 'भीष्म साहनी में अप्रतिम है। यह विडम्बना उनकी अच्छी कहानियों की जान है।

अपनी कथा-दृष्टि के बारे में अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय के शम्भूनाथ शुक्ल सभागार में जहाँ मैंने

उन्हें पहली बार देखा उन्होंने बोलते हुए कहा था- 'पात्र को जिंदगी से उठाता हूँ, पर कहानी अपनी कहता हूँ।' उन्होंने यह भी कहा था, 'मैं सोचता था रचना-प्रक्रिया पर बात करना कठिन नहीं होगा, लेकिन ज्यों-ज्यों इसके बारे में सोचता रहा, मुझे लगा कि यह काफी मुश्किल काम है। मोटी-मोटी बातें अपने अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि लेखन के दौरान लेखक किन अनुभवों से गुजरता है। अक्सर ऐसा नहीं होता कि जिस रूप में किसी पात्र की कल्पना की जाती है, वैसा ही कहानी और उपन्यास के अंत में भी आए। वह कौन सी प्रक्रिया होती है, जिससे बदलाव आता है। उसकी व्याख्या इतनी आसान नहीं है। कविता भले ही भावों की दुनिया में रमती रहे और यथार्थ जीवन का केवल निष्कर्ष प्रस्तुत करे, लेकिन कथा-कहानी में यथावत चित्रण जीवन के किसी प्रसंग का होता है, मान निष्कर्ष का व्यक्त करना, काफी नहीं होता, इससे कथ्य में प्रामाणिकता आती है, विश्वसनीयता आती है। साहनी जी ने रूस में अपने जीवन के जो सात साल गुजारे थे, उसके विषय में कुछ संस्मरण भी सुनाए, जिसके उल्लेख का यहाँ उचित अवसर नहीं है।'

जहाँ तक हिंदी उपन्यासों के विकास का प्रश्न है, उसे कई श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है, जैसे प्रेमचंद्र-पूर्व हिंदी उपन्यास, प्रेमचंद्र-युगीन हिंदी उपन्यास, प्रकृतिवादी उपन्यास, व्यक्तिवादी उपन्यास, मनोविश्लेषणवादी उपन्यास, समाजवादी यथार्थवादी (प्रगतिवादी) उपन्यास, ऐतिहासिक पौराणिक उपन्यास, आंचलिक उपन्यास और महिला उपन्यासकार। सामाजिक यथार्थवादी (प्रगतिवादी) उपन्यासकार जिसमें यशपाल, नागार्जुन, मन्मथनाथ गुप्त, रांगेय राघव, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृतराय, भीष्म-साहनी, अमरकांत, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, राही मासूम रजा, काशीनाथ सिंह आदि आते हैं। साहनी जी के कुल सात उपन्यास 'झरोखे' (1967 ई.), 'कड़ियाँ' (1970 ई.), 'तमस' (1973 ई.), 'वसंती' (1980 ई.), 'मय्यादास की गाड़ी' (1988 ई.), 'कुन्तो' (1993 ई.), 'नीलू नीलिमा नीलोफर' (2000 ई.) प्रकाशित हैं। इस छोटे से आलेख में हम सभी उपन्यासों के विषय में कुछ नहीं कहकर, केवल 'तमस', जो उनका सर्वाधिक चर्चित उपन्यास

है तथा जिसने उनकी यशकीर्ति में चार चाँद लगाए हैं, कुछ कहने का प्रयास करेंगे। 1947 में भारत का विभाजन हुआ। साम्प्रदायिक उन्माद के कारण, अभूतपूर्व दंगे हुए। बड़े पैमाने पर जनता अपनी जमीन से उजड़कर दूसरी जगह जाने और विस्थापित होने को मजबूर हुई। निःसंदेह यह भारतीय इतिहास की अपूर्व त्रासदी थी।

भीष्म साहनी का जन्म 08 अगस्त 1915 को रावलपिंडी (अब पाकिस्तान) के आर्यसमाजी परिवार में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा गुरुकुल परंपरा के अन्तर्गत हुई। उनकी प्रारंभिक स्कूली शिक्षा रावलपिंडी और उच्च शिक्षा लाहौर में हुई। बँटवारे के पूर्व उन्होंने पैतृक व्यापार किया। 1947 के मार्च-अप्रिल में रावलपिंडी शहर तथा 120 गाँवों में 5-6 दिन भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए, जिन्हें लेखक ने स्वयं देखा था। 'तमस' में इन्हीं पाँच-छः दिनों की कहानी प्रस्तुत की गई है। 'तमस' उपन्यास के विषय में लेखक स्वीकार करता है कि- एक बड़े संकटपूर्ण स्थिति की पृष्ठभूमि में विभिन्न धर्मों, वर्गों, विचारधाराओं के लोगों की प्रतिक्रिया और उनके कारनामे दिखलाए गए हैं। इससे अधिक कुछ नहीं। भारत-विभाजन के लगभग 25 वर्षों बाद 'तमस' की रचना की गई है, जो 1973 ई. में प्रकाशित हुई। 1975 में इस कृति पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। निःसंदेह 'तमस' एक कालजयी कृति है। 'तमस' जैसा उपन्यास अब हिंदी में कभी नहीं लिखा जायेगा। ऐसा मैं इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि विभाजन की त्रासदी उपन्यासकार ने खुद झेली थी और उसे अपनी रचना का विषय बनाया। 'तमस' पर बने टी.वी. धारावाहिक ने उन्हें लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचा दिया। 'तमस' की लोकप्रियता का एक पक्ष यह भी है कि पेग्विन प्रकाशन जैसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन संस्था ने, इसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया है।

भीष्म साहनी ने अपने पहले उपन्यास 'झरोखे' (1969 ई.) की रचना-प्रक्रिया पर कहा है कि- 'आमतौर पर मैं नहीं जानता कि अन्य लेखकों का क्या अनुभव है, लेकिन मेरा अनुभव यह रहा है कि जब व्यक्ति पहला उपन्यास लिखने बैठता है तो आमतौर पर वह अपने जान-पहचान के पात्रों को अपने पन्नों पर उतारता है। वे ज्यादातर अपने

परिवार के, अपने ही निकट परिवेश के लोग होते हैं, जिन्हें वह गहराई से जानता है, जिनकी मानसिकता को वह समझता है। जिसके साथ उसने कुछ वर्ष बिताये होते हैं। लेखक समझता है कि बड़े अधिकार से उन चरित्रों को अपने पन्ने पर उतार सकेगा, और मेरे साथ भी दरअसल कुछ ऐसा ही हुआ है।”

‘झरोखे’ उपन्यास में मानव की जिजीविषा को उसकी शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें हमें यह भी बतलाया गया है कि जिसमें समय के साथ चलने और अपने को बदलने की शक्ति नहीं होती, वह समय गति के सामने रोड़ा बनकर चूर-चूर हो जाता है। लेखक ने अपने अंतिम उपन्यास ‘नीलू नीलिमा नीलोफर’ में दो नारी पात्रों नीलू (नीलोफर) और ‘नीलिमा’ को केन्द्र में रखकर पूरे उपन्यास की कथा का ताना-बाना बुना है। आज भी हमारे देश में हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या का समाधान नहीं हो सका है। उपन्यासकार की दृष्टि में- हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या के समाधान के लिए व्यक्ति का हृदय परिवर्तन हो तथा कृत्रिम सामाजिक-बंधनों को काटकर मनुष्यत्व को ऊपर उठाया जा सके, तभी बहुत कुछ साम्प्रदायिक समस्या का हल निकाला जा सकता है।

स्मरण का मुख्य आधार है, पुराने दिनों की स्मृति। संस्मरण में विविध घटनाएँ, तथ्य और पात्र एकत्र होते रहते हैं तथा अनावश्यक तत्त्व विस्मृति के गर्त में विलीन होते रहते हैं किंतु महत्त्वशील जीवन-प्रकरण संचित होते रहे हैं और समय के साथ मानस में उनका रूप निखरता रहता है। यही संस्मरण का आधारभूत तत्त्व है। ‘आजकल’ (मासिक) के दिसम्बर 2008 ई. के अंक में भीष्म साहनी का एक संस्मरण मुझे पढ़ने को मिला है। मन गद्गद हो उठा। देवेन्द्र सत्यार्थी जी भीष्म के बड़े भाई बलराज साहनी के मित्र थे, जो उनके साथ घुमक्कड़ी करते थे। यह बात 1937 की है। रावलपिंडी का इलाका पीठोहार कहलाता था, साहनी परिवार वहीं का रहने वाला था। रावलपिंडी से 17 मील दूर तक्षशिला था। तक्षशिला की विश्वविख्यात यूनिवर्सिटी किसी जमाने में रही थी, जो उत्तरी पर्वतमालाओं को जाने वाले रास्तों पर पड़ती है, जो रास्ता प्राचीन भारतीय संस्कृति और ज्ञान के आदान-प्रदान का माध्यम

हुआ करता था। शायद इसी रास्ते से गांधार मूर्तिकला से हमारे देशवासियों का परिचय हुआ। देवेन्द्र सत्यार्थी के विषय में साहनी जी ने जो कुछ लिखा है, वह उल्लेखनीय हैं- ‘सत्यार्थी जी की सजगता, उनकी सूझ और लोक संस्कृति के साथ उनके गहरे लगाव से बेहद प्रभावित महसूस करता हूँ। सत्यार्थी जी उन पहले साहित्यिकों में से थे, जिन्होंने लोकगीतों को इकट्ठा करने का बीड़ा उठाया, यह काम आसान नहीं था। उनसे मिलकर ऐसा लगा हिंदुस्तान सचमुच आजाद हो गया है।’ निःसंदेह सत्यार्थी जी के बारे में साहनी के संस्मरणों का महत्त्व साहित्य-जगत में बना रहेगा।

जीवनी की भाँति आत्मकथा में भी किसी व्यक्ति-विशेष का जीवन-वृत्तांत होता है। डॉ. जान्सन की प्रसिद्ध उक्ति है, ‘सबसे अच्छा यह होता कि प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन चरित्र स्वयं लिखता।’ हिंदी में अनेक साहित्यकारों ने अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं। जिसमें सर्वाधिक बहुचर्चित आत्मकथा (चार खंडों में) हरिवंश राय ‘बच्चन’ की रही। आत्मकथा का मुख्य आधार है पुराने दिनों की स्मृति। इसी अंचल में भीष्म साहनी जी ने रावलपिंडी से उखड़कर दिल्ली बसने तक के उतार-चढ़ाव के वैविध्यपूर्ण जीवन का चित्रांकन किया है। उनकी आत्मकथा का नाम है ‘आज के अतीत’। मुक्तांचल के अंक जुलाई-सितम्बर 2015 में पाठक बहुत कुछ जानकारी हासिल कर चुके हैं, अतः हमारा यहाँ कुछ लिखना पुनरावृत्ति की कही जायेगी। अतएव, हम यहीं अपनी लेखनी को विराम देते हैं।

हिंदी नाटकों के विकास में भीष्म साहनी का योगदान अप्रतिम है। वे एक प्रयोगधर्मी नाटककार रहे हैं। उनके नाटकों के सफल मंचन भी हुए हैं। उनके नाटकों के नाम प्रकाशन क्रम के अनुसार हैं- ‘हानूश’ (1977), ‘कबिरा खड़ा बाजार में’ (1981), ‘माधवी’ (1985), ‘मुआवजे’ (1993), ‘रंग दे वसंती चोला’ (1998), ‘आलमगीरि’ (1999) है। अब तक हमने केवल दो ही नाटक पढ़े हैं- ‘हानूश’ और ‘माधवी’, अतः इनके ही विषय में कुछ कह सकने का साहस करेंगे। ‘हानूश’ नाटक चेकोस्लोवाकिया में प्रचलित एक लोक कहानी पर आधारित है। 17 वर्षों के अनथक परिश्रम के बाद, ताला बनाने वाले एक मिस्त्री

द्वारा अद्भुत अजीज, अपने ढंग की अनूठी एक मीनार घड़ी बनाई गई थी, जिसे नगरपालिका की मीनार पर लगाया गया। बादशाह के द्वारा घड़ी बनाने वाले मिस्त्री की आँखें निकलवा ली जाती हैं ताकि वह किसी दूसरे राज्य में जाकर, दुबारा वैसी घड़ी न बना सके। नाटककार ने कलाकार की दारुण पीड़ा का जो चित्रण किया है, वह हृदय-विदारक है। दरबारियों की चाटुकारिता का चित्रण भी अच्छा बन पड़ा है। दर्शकों की मनवीय सहानुभूति श्रमशील-सृजनशील मिस्त्री की ओर उमड़ पड़ती है। यह नाटक कई बार अनेक मंचों पर खेला गया है। 'माधवी' नाटक की कथा का आधार पौराणिक कथा पर आधारित होते हुए भी, उसे आधुनिक संदर्भ से जोड़कर प्रस्तुत किया गया है। गालन ऋषि विश्वामित्र के शिष्य थे। हजारों वर्षों से पशुवत् जीवन व्यतीत करती हुई भारतीय नारी की गहन-गंभीर पीड़ा को सफलतापूर्वक प्रभावी ढंग से जो इस नाटक में प्रस्तुतीकरण है, वह पाठकों का ध्यान वरबस खींच लेता है।

निबंध गद्य-साहित्य की एक विधा के रूप में स्वीकृत है। आज सभी प्रकार की रचनाएँ चाहे वे हृदय-प्रधान हो या बुद्धि प्रधान निबंध नाम से जानी और पहचानी जा रही हैं। अंग्रेजी के 'एसे' के समानार्थी रूप में हिंदी में 'निबंध' शब्द का प्रयोग होता है। साहनी जी ने निबंध की दिशा में भी अपनी कलम चलाई है। उनके निबंधों का संग्रह 'अपनी बात' में संग्रहीत है।

लेखक साहनी जी की बाल साहित्य संबंधी दो किताबें 'गुलेल का खेल' और 'वापिसी' प्रकाशित है।

'मेरे साक्षात्कार' में भीष्म साहनी का सम्पादकीय रूप देखने को मिलता है। इसका प्रकाशन 1994 ई. में हुआ है। इसमें लेखक ने अपने सत्ताईस साक्षात्कारों का संचयन-संपादन किया है। इसकी भूमिका का उल्लेख प्रस्तुत आलेख में पूर्व में भी किया गया है, जिसमें कहा गया है- "समूचे साहित्य-सृजन के केन्द्रमें मनुष्य खड़ा है।" साहनी जी ने लगभग ढाई वर्षों तक 'नई कहानियों' का संपादन भी किया है।

भीष्म साहनी का लगभग सात वर्ष (1956-1963) मास्को में विदेशी भाषा प्रकाशन गृह मास्को में अनुवादक

के रूप में बीता है। उन्होंने वहाँ टालस्टाय एवं अन्य रूसी लेखकों की कृतियों का हिंदी में अनुवाद किए हैं।

अभिनय-कला :- भीष्म साहनी जी अध्यापन, पत्रकारिता और 'इप्ता' नामक नाटक मंडली में अभिनय से संबंधित गतिविधियों से जुड़े रहे। भीष्म जी अपने अग्रज बलराज साहनी के नक्शे कदम पर चलते हुए कुछ फिल्मों में भी अभिनय किया, किंतु बॉम्बे जैसी फिल्म नगरी उन्हें रास नहीं आयी। वहाँ से शीघ्र ही पंजाब आकर अध्यापन से जुड़े, कालांतर में दिल्ली विश्वविद्यालय के जाकिर हुसैन कॉलेज जहाँ के स्थायी प्रवक्ता थे, अवकाश ग्रहण किया। फिल्मों में अभिनय की तमन्ना 'मोहन जोशी हाजिर हो' जिसे सईद मिर्जा ने अस्सी के दशक में बनाया था, उसमें उन्होंने शानदार अभिनय किया। गोविन्द निहलानी ने उनके ही उपन्यास 'तमस' पर फिल्म बनाई, जिसमें साहनी ने भी अभिनय किया।

सम्मान :- श्री साहनी को साहित्य अकादमी पुरस्कार के अतिरिक्त सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार, एफ्रो ऐशियाई लेखक पुरस्कार भी मिला। भारत साकार ने पद्मभूषण सम्मान से सम्मानित किया। वे साहित्य अकादमी के मानद फेलो भी रहे।

श्री भीष्म साहनी एक प्रसिद्ध प्रतिबद्ध रचनाकार थे, जो आजीवन प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े रहे। पर मेरी दृष्टि में सत्य तो यह है कि लेखक मात्र समाज या राजनीति का मंचीय अलंकरण नहीं है, क्योंकि लेखन की प्रासंगिकता और मानवीय मूल्यों की प्रासंगिकता सत्ता नहीं, लोक मानस निर्धारित करता है। इस कसौटी पर साहनी जी आधुनिक-काल में भी खरे उतरते रहे हैं और भविष्य में वे अपने लेखन के बल पर जीवित रहेंगे, क्योंकि वैज्ञानिक-विवेक, सामाजिक-बोध, सरल, सहज और सादी अभिव्यक्ति भीष्म जी को आधुनिक हिंदी-साहित्य का स्मरणीय रचनाकार बनाती है। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ पाठक की चेतना में शीघ्र ही संक्रमित हो जाती है। वे एक ऐसे लेखक थे, जो हर पीढ़ी के लेखक को सम्मान देते थे। यह मैंने बीसवीं सदी के अंतिम दशक में उनके दो दिवसीय रीवा(म.प्र.) प्रवास में स्वयं अनुभव किया है।

**संपर्क :** उदयाचल निलयम खालिसपुर, मिर्जामुराद, वाराणसी- 221307, मो. 09452075517

## श्रीशर्मा बहदी का अंत और उपन्यास

डॉ. राणा प्रताप

आप उपन्यास के बहाने गार्सिया मार्खेज पर बात करें या अल्बेयर कामू और गुंटर ग्रास पर, कोई फर्क नहीं पड़ता। आपका ध्यान केवल शिल्प-वैचित्र्य और भाषा-प्रयोग तक ही सीमित रहेगा। उसके अंतस के मर्म को स्पर्श करने की न आपमें बेचैनी है, न ही इच्छा-शक्ति। रचना के लिए खतरा उठाने की बात तो खैर है ही नहीं। एक मध्यवर्गीय सोच और संवेदना है जो यहाँ से वहाँ तक फैली है और मिट्टी से जुड़ने के बजाय आपको शार्टकट की ओर धकेल देती है। फ्लाबेयर का यह कहना कितना सही है कि जातीय कला व साहित्य का जन्म अपनी मड़ैया तले ही होता है, रचनाओं को फलने-फूलने का मौका तभी मिलता है।

ठीक इसी तरह शिक्षा व संस्कृति पर बातचीत करते हुए आप चाहे जितनी बार नुगी का थ्योंगे अथवा पाउले फ्रेयरे का उल्लेख करें, आपकी नजर से शिक्षा व संस्कृति के भीतर ताने-बाने के रूप में मौजूद उपनिवेशवादी तत्त्व ओझल ही रहेगा। अन्यथा क्या कारण है कि लगभग दो सौ वर्षों तक भारत ब्रिटेन का उपनिवेश रहा और पुनः आर्थिक उपनिवेश बनने की ओर अग्रसर है। पर हिंदी में उपनिवेशवाद यानी साम्राज्यवादी शोषण, दमन और उत्पीड़न पर एक भी अविस्मरणीय उपन्यास नहीं है। आखिर क्यों? जबकि क्रांतिकारियों पर जुल्म ढाने से लेकर कहर बरपाने तक के किस्से आमफहम के बीच खूब मशहूर रहे हैं।

औपनिवेशिक दासता के इतने गहन समय में 'चंद्रकांता' उपन्यास की अपार लोकप्रियता और उस पर खुश होते हमारे आलोचक का क्या मानी है? एलेन सिंगवुड ने लोकप्रिय संस्कृति के बारे में बड़ी अच्छी बात कही है, "यह धर्म, साहित्य, लोकनृत्य, विज्ञान-गल्प, भयावह फिल्में, उन्नीसवीं सदी के लोकगीत एवं देहाती गानों का आलिंगन है। लोक-संस्कृति और लोकप्रिय संस्कृति में मुख्य फर्क यही है कि लोक-संस्कृति 'जन' की धारणा पर आधारित है और लोकप्रिय संस्कृति सामंती संस्कृति का ही एक अंग है। यह उत्पादन के स्तर पर व्यक्ति और संपूर्ण समाज के मध्य आपसी संबंधों से कार्यशील होती है।"

विचार, वर्ग और सामाजिक प्रवृत्ति को ध्यान में न रखने की वजह से औपन्यासिक आलोचना के तहत कई प्रकार के घपले हुए हैं। यहाँ उन बिंदुओं को रेखांकित करना जरूरी है। 'चंद्रकांता' उपन्यास की लोकप्रियता के पीछे सामंती प्रवृत्ति ही थी और अंग्रेजी की बहुतायत वाली सस्ती किताबें जिनमें रोमांचकारी उपन्यास, भावात्मक एवं पारिवारिक कहानियाँ थीं



जिनके शीर्षक रोमांचकारी होते थे, जैसे मृत्यु का जहाज, समुद्री लुटेरे, लुटेरे की दुल्हन, पाताल का पागल एवं कुछ डिक्सेस के अनुकरण रहते थे, जैसे कि ओलिवर ट्विस्ट, निकोलस नकलवी, पिकनिक अमेरिका में आदि।

जैसा कि जैक गुडी और आयन वाट ने बताया है कि एक अशिक्षित समाज में सांस्कृतिक परंपरा आमने-सामने के वार्तालाप की शृंखलाओं के जरिये कार्यरत होती है तथा संवाद की शर्तें अतीत और वर्तमान में तारतम्य का पोषक होती हैं और इसमें आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं होता, ऐसे समाजों में संशय भले विद्यमान हो, परंतु उनका रूप व्यक्तिगत और निजी होता है। वे आगे बताते हैं कि अशिक्षित सभ्यताओं में इतिहास और मिथक का एक-दूसरे में समन्वय हो जाने की गतिविधि रहती है। मौखिक परंपराएँ 'लकीर का फकीर' तत्त्वों द्वारा सम्पोषित होती हैं जिसमें विश्लेषण नगण्य होता है। यह सिर्फ लेखन के विकास और बौद्धिक चमत्कार की प्रवृत्ति से संभव हो सका कि संस्कृति के विभिन्न अवयवों को पृथक-पृथक किया गया और आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रतिष्ठित हुआ।

हमारे यहाँ सभ्यता और संस्कृति के अवयवों को अभी तक पृथक-पृथक नहीं किया गया है। मध्यवर्गीय बौद्धिक चमत्कार से हमारे लेखक और आलोचक इतने पीड़ित हैं कि अगर उपन्यास पर चर्चा करेंगे तो केंद्र में केवल उपन्यास होगा। ज्यादा से ज्यादा यथार्थ पर बातचीत करके छुट्टी पा लेंगे। निकट भविष्य में इस प्रवृत्ति से छुटकारा मिलेगा, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। बौद्धिक चमत्कार की प्रवृत्ति का सिर चढ़कर बोलने का ही नतीजा है कि आज 'नौकर की कमीज', 'दीवार में खुलने वाली खिड़की', 'मुझे चाँद चाहिए' जैसे उपन्यास पढ़े-लिखे वर्ग के बीच लोकप्रिय हो रहे हैं। यहाँ 'जन' की धारणा पूरी तरह गायब है।

उपन्यास के क्षेत्र में मध्यवर्गीय चेतना की शुरुआत हिंदी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' से ही शुरू हो गई थी। सामाजिक समस्याओं तथा अप-संस्कृति पर टिप्पणी करने का काम भी तभी से मध्यवर्गीय लेखक के जिम्मे हो गया था जो आज तक बदस्तूर जारी है। बीच में हैं गोपालराम गहमरी और लज्जाराम शर्मा, जो पारिवारिक किस्से कहानियों

के जरिए उपन्यास का ताना-बाना बुनते रहे। सन् 1918 में जाकर प्रेमचंद के 'सेवासदन' का प्रकाशन होता है। यह उपन्यास भी मध्यवर्गीय आदर्श से ऊपर नहीं उठ सका है। 'गबन' का भी यही हाल है। लेकिन उपन्यास के अंत में अंग्रेजों के दाव-पेंच की चर्चा से समकालीन समाज की थोड़ी-बहुत झलक मिलती है। इसकी चर्चा हम आगे के शीर्षकों में करेंगे।

1860 में अंग्रेजों के काश्तकारों के लिए लगान कानून लाया था। यह कानून काश्तकारों के लिए जानलेवा था। एक तो सामंती प्रथा पहले से जानलेवा बनी हुई थी, ऊपर से कहर ढाने वाला लगान कानून। एक तो करेला, दूजे नीम चढ़ा वाली बात हुई। इसके बाद से ही भारत के विभिन्न इलाकों में छिटपुट रूप से किसान आंदोलन शुरू हो गये। इस आंदोलन के तात्कालिक रूप से दो ही निशाने थे- (1) सामंतवाद और (2) साम्राज्यवाद।

1873 तक आते-आते यह आंदोलन बड़ा रूप लेने लगा और कहीं-कहीं तो महाविद्रोह के रूप में फूट पड़ा। जैसा कि शीर्षक से ही आभास होता है- बंगाल का किसान विद्रोह, संथाल विद्रोह, अवध का किसान आंदोलन आदि। बिहार में चलाया गया सहजानंद सरस्वती द्वारा किसान आंदोलन जिसमें राहुल सांकृत्यायन और नागार्जुन जैसे लेखक भी शामिल थे। 1921 में मोपलाओं का किसान विद्रोह शताब्दी के पच्चीस वर्षों में हुए किसान विद्रोह में से एक था। लगभग छह महीने तक मोपलाओं (मोपलाओं से मतलब आमतौर पर मुसलमानों से है) ने खाड़ी पर उपनिवेशवादी शासन की बड़ी फौज/पुलिस दस्ते के खिलाफ मोर्चा लगाये रखा। विद्रोहियों ने दक्षिण मालाबार के अंदरूनी हिस्से में प्रशासन को घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया और अपने नियंत्रण के अंतर्गत कुछ ताल्लुकों में जन सरकारें भी बना ली थीं। लेकिन दमनकारी भूमि संबंधों के खिलाफ छेड़ी गयी यह लड़ाई कई कारणों से बहुत आगे जारी नहीं रह सकी और इसे फरवरी, 1922 में कठोरता से दबा दिया गया।

हमारे भारतीय समाज में किसान तबका सबसे बड़ा तबका है और वही सबसे ज्यादा उत्पीड़ित है। इस बात को हमारे लेखक भली-भाँति समझने लगे थे। निराला का यह

कहना कि “किसान के बेटे हो न, किसानों के बारे में ज्यादा लिखना। वे ही देश के भावी दिशा के वाहक होंगे।” इतना ही नहीं, आचार्य रामचंद्र शुक्ल का चंद्रशेखर आजाद से यह कहना कि “बेटे, भारत माँ को खेतों में ढूँढो” का मर्म समझते देर नहीं लगती।

इधर प्रेमचंद भी ‘प्रेमाश्रम’ और ‘रंगभूमि’ की यात्रा करते भारतीय किसान जीवन के उस मर्म तक जा पहुँचे जिसे पकड़ पाने में बाद के लेखक भी सफल नहीं हो पाये। ‘देहाती दुनिया’ के जरिये आचार्य शिवपूजन सहाय और ‘तितली’ के माध्यम से यही काम जयशंकर प्रसाद भी कर रहे थे। लेकिन 1936 में प्रकाशित ‘गोदान’ प्रेमचंद के तमाम उपन्यासों में ही सर्वश्रेष्ठ नहीं, बल्कि आलोचकों ने सर्वसम्मति से किसान जीवन के सजीव चित्र का मील का पत्थर मान लिया।

हैरत की बात है कि प्रेमचंद की आँखों के सामने किसान आंदोलन के एक से बढ़कर एक विद्रोह थे जिनमें संगठित शक्ति का प्रदर्शन था, अपनी जन सरकार कायम करने का हौसला भी था, बावजूद इसके प्रेमचंद ने उन आंदोलनों को छुआ नहीं और किसान जीवन का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य लिख गये। ध्यान देने की बात है, यहाँ होरी के चरित्र में समस्त भारत के किसानों की आत्मा झलकती है, केवल यथार्थ का चित्र नहीं। और यही उपन्यास की सबसे बड़ी ताकत है। समस्त भारतीय किसान आंदोलन की असफलता का शोकगीत है ‘गोदान’।

इसके बाद सीधे 1952-53 में जाकर किसान आंदोलन के दूसरे गढ़ बिहार से दो उपन्यास आते हैं— ‘मैला आँचल’ और ‘बलचनमा’। बिहार के दोनों लेखक संयोग से किसान के बेटे थे। अतः ये दोनों लेखक किसान जीवन से तथा उसके आंदोलन से पूरी तरह सम्बद्ध रहे। नागार्जुन ने तो सीधे-सीधे किसान आंदोलन में भागीदारी भी की। वैसे रेणु का भी संबंध समाजवादी आंदोलन के नेताओं से लगातार बना रहा। स्मरण रहे, तब तक तेलंगाना का महान किसान विद्रोह घटित हो चुका था। यह आंदोलन भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा चलाया गया सचेत, संगठित और दिशाबद्ध आंदोलन था। बावजूद इसके भारतीय फौज ने इस आंदोलन को बुरी तरह कुचलकर रख दिया। अगर आप उसके

ब्यौरे में जायेंगे तो आपके रोंगटे खड़े हो जायेंगे। हालाँकि ‘मैला आँचल’ और ‘बलचनमा’ में रोंगटे खड़े कर देने वाले ब्यौरे का अभाव है, उपन्यासकारों का ऐसा विशिष्ट भी नहीं रहा है। किंतु ‘मैला आँचल’ को अपनी विशिष्ट शैली का संपूर्ण उपन्यास मानने में किसी को भी कोई हिचक नहीं है। और ‘बलचनमा’ सचेत किसानी चेतना का प्रतीक बनकर उभरा। यहाँ गाँव की नयी तब्दीली की भी सूचना थी और राजनीतिक चेतना की भी। ‘गोदान’ में जो कुछ छूट गया था, इन दोनों उपन्यासों ने उसे पूरा किया।

इसके बाद किसानी जीवन के कई चित्र, दृश्य-परिदृश्य, चेतना के कई-कई स्तर और शिल्प-शैली के नये-नये रूप सामने आये, जैसे पानी के प्राचीर (विवेकी राय), आधा गाँव (राही मासूम रजा), अलग अलग वैतरणी (शिव प्रसाद सिंह), धरती धन न अपना (जगदीश चंद्र) आदि। इनमें ‘धरती धन न अपना’ अपनी चेतना, संघर्ष और संरचनात्मक बनावट सभी दृष्टि से ‘गोदान’ के विकास को द्योतित करता है। दूसरे दलित चेतना की जिस संभावना को निराला ने ‘कुल्ली भाट’ और ‘चतुरी चमार’ में देखा था, उसका सीधा विकास ‘धरती धन न अपना’ में देखने को मिलता है। निश्चित रूप से इसे ‘अंडर लाइन’ करने की जरूरत है।

सारी दुनिया इसी आकाश और सूर्य तले है। पृथ्वी अपनी धुरी पर निश्चित गति से घूमती है, पर एक ही काल में संसार के मानचित्र पर खिंची टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में बँटे छोटे-बड़े हिस्सों पर निवास करने वाले मनुष्य की नियति एक-सी नहीं है। समय का तूफान एक ही रफतार से उन सब पर से नहीं गुजरता। काल के बहुत सारे पन्ने यूँ ही अनपलटे-अपढ़े रह जाते हैं और उन अनछुएँ नाजुक सफों पर जो हरफ गुदे होते हैं वे सब रूमानी भावुकता से भरे नहीं होते। कभी-कभी बड़े ही कर्कश, काँटेदार, निर्मम और भयानक होते हैं। वे पन्ने, जिनमें अविश्वसनीयता की हद तक नंगी सच्चाइयों का खौफनाक खेल खेला जा रहा होता है।

नक्सलबाड़ी के किसान आंदोलन को कुछ लोगों ने अति रूमन के रूप में देखा था तो कुछेक लोग आज भी अतिवाद के रूप में देखते हैं। लेकिन उस आंदोलन के

भीतर जो रक्त और धूल मिला था, उसे बहुत कम लोग ही देख पाते हैं। इस चेतना ने भी बहुत दूर तक लेखकों-कलाकारों को प्रभावित किया और सृजन के नये-नये द्वार खोले। मनमोहन पाठक का उपन्यास 'गगन घटा घहरानी' एक ऐसा ही उपन्यास है जिसमें एक अछूते प्रसंग को उठाया गया। दलित चेतना की झलक सर्वप्रथम निराला में देखने को मिली थी, बाद में जगदीश चंद्र के उपन्यास 'धरती धन न अपना' में प्रखर रूप से प्रकट हुई। आदिवासियों की जिंदगी अब तक हिंदी उपन्यास की मुख्य धारा से बाहर थी। यहाँ मनमोहन पाठक ने आदिवासियों को सामने लाकर एक ऐतिहासिक काम को पूरा किया है। भारतीय किसान का यह हिस्सा अभी तक हाशिये पर ही था। अतः औपन्यासिक यात्रा के क्रम में इस उपन्यास को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

असहयोग आंदोलन के विफल होने और वापस लिए जाने के बाद मजदूर वर्ग पर आधारित एक नयी राजनीतिक शक्ति भारतीय दृश्य-पटल पर उभरने लगी। दिसम्बर, 1925 में 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी' का औपचारिक रूप से गठन हुआ। जबकि 1924 में ही 'एटक (मजदूर संघ)' यह प्रस्ताव पास कर चुका था कि आजाद भारत को एक समाजवादी गणतंत्र होना चाहिए। उभरते हुए सर्वहारा की वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा को आम मजदूरों के बीच ले जाते हुए कम्युनिस्टों ने यूनियन कार्य को गंभीरतापूर्वक लिया। कांग्रेसी, समाजवादी और अतिवादी सभी किस्म के बुद्धिजीवी उनके बीच गये।

ट्रेड यूनियन को मजबूत करने में इन लोगों ने कोई कोरकसर नहीं छोड़ी। यह देख बड़े पैमाने पर बुद्धिजीवी उनकी ओर आकर्षित हुए। 1917 की रूसी क्रांति की सफलता और मार्क्सवाद के प्रति खासकर नौजवानों का आकर्षण भी कम महत्व की बात नहीं थी। मार्क्सवाद की प्रेरणा से ही 1929 में साम्यवादी दल ने 'अखिल भारतीय मजदूर संघ' पर अपना अधिकार जमा लिया। नये नेतृत्व में मजदूरों की चिंतन-पद्धति तथा कार्य-पद्धति दोनों में सुधार हुआ। इससे पूर्व एन.एम. जोशी आदि मजदूर नेता क्रांतिकारी नहीं थे, बल्कि वे सुधार चाहते थे। लेकिन इस नये क्रांतिकारी नेतृत्व के कारण मजदूर वर्ग पूँजीपति वर्ग

के शोषण को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध था। इनका प्रेरणा-स्रोत समाजवादी देश रूस था, जहाँ मजदूरों का राज्य स्थापित हो गया था।

हिंदी उपन्यास साहित्य पर इस दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि आरंभ में यानी प्रेमचंद काल में प्रायः उपन्यासकार इस वर्ग की समस्याओं के प्रति बहुत अधिक जागरूक नहीं हो सके। इसका कारण यही हो सकता है कि कृषि-प्रधान देश के लेखक होने के कारण औद्योगिक सभ्यता से उत्पन्न इस समस्या पर उनका ध्यान ही नहीं गया हो। लेकिन धीरे-धीरे यह स्थिति समाप्त होती है और हम देखते हैं कि प्रेमचंद काल में ही कुछ लेखकों को मजदूरों का यह शोषण प्रभावित करता है तथा अपनी रचनाओं में वे इस नृशंस शोषण का विवरण प्रस्तुत करते हैं। साथ ही प्रेमचंद भी 'गोदान' में खन्ना की मिल में हड़ताल दिखाकर मजदूर आंदोलन की संगठित शक्ति का पूर्ण परिचय प्रस्तुत करते हैं।

लेकिन मजदूर आंदोलन का पर्याप्त विस्तार से वर्णन यशपाल के अभाव में अधूरा ही रहता, लेकिन 'दादा कामरेड', 'सिंहावलोकन' तथा 'देशद्रोही' आदि उपन्यासों में ग्रहण किये गये मजदूर आंदोलन के व्यापक स्वरूप को देखते हुए ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः हिंदी उपन्यास साहित्य में मजदूर आंदोलन को व्यापक परिप्रेक्ष्य देने वाले लेखक के रूप में यशपाल जी अकेले ही याद किये जाते हैं। (हिंदी उपन्यास का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ. रमेश तिवारी, पृ. 228)

हाँ, इस बीच की उल्लेखनीय घटना 'मिल मजदूर' नामक फिल्म अवश्य रही, जिसकी कहानी प्रेमचंद ने लिखी थी और फिल्म में छोटी सी भूमिका भी की थी। हालाँकि यह सिलसिला बहुत दूर तक नहीं चल सका। जिस मजदूर वर्ग की संघर्षकारी चेतना को लेकर मध्यवर्ग के लेखक समाजवादी समाज के सपने देख रहे थे, उस वर्ग को लेकर एक भी अविस्मरणीय उपन्यास हिंदी साहित्य में नहीं, यह हैरत की बात है।

मुझे ऐसा लगता है कि आजादी के बाद कांग्रेस सरकार ने इस दिशा में जो तोड़-फोड़ की कार्रवाई शुरू की, उसके चलते काफी नुकसान हुआ। इस तरह कांग्रेस ने ट्रेड यूनियन

आंदोलन में फूट, बिखराव, सुधारवाद और अर्थवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया। कम्युनिस्ट पार्टी की टूट-फूट और बिखराव ने भी इस आंदोलन को धक्का पहुँचाया। मजदूर आधारित जो राजनीति भारतीय दृश्यपटल पर एक उभार ले रही थी, एकाएक पार्श्व में चली गयी। इसी अनुपात में सांस्कृतिक आंदोलन भी बिखरता गया। फिर कहाँ मजदूर वर्ग और कहाँ मजदूर वर्ग के उपन्यासकार ?

फूट और बिखराव के चलते जो जड़ता इस क्षेत्र में आयी, उसे निश्चित रूप से नक्सलबाड़ी के किसान आंदोलन ने एक झटका दिया और सृजन के नये द्वार खोले। मार्क्सवाद की क्लासकीय भाषा में जिसे आवारा सर्वहारा कहा जाता है यानी महानगरों के फुटपाथ पर जीने वाले आधा मनुष्य और आधा पशु, उनके जीवन को केंद्र पर जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने 'मुर्दाघर' नामक उपन्यास लिखा। उपन्यास के छपते ही भरपूर चर्चा हुई और थोड़े ही दिनों बाद उसे भी पार्श्व में डाल दिया गया। हालाँकि वर्गीय विशिष्टता के चलते 'मुर्दाघर' हिंदी का एक विशिष्ट उपन्यास बन गया है।

इसके बाद असंगठित मजदूरों की बात आती है। असंगठित मजदूर आज भी अपनी समस्याओं से आप जूझ रहे हैं। उनका कोई माँ-बाप नहीं है। अब्दुल बिस्मिल्लाह ने ऐसे ही असंगठित मजदूरों यानी कि बनारस के बुनकरों को ध्यान में रखकर 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' नामक उपन्यास लिखा है। असंगठित मजदूर का दर्द क्या होता है, पहली बार इस उपन्यास में देखने को मिलता है। यही कारण है, इस विषय पर लिखा गया यह उपन्यास हिंदी साहित्य का एक उल्लेखनीय उपन्यास बन गया है। बावजूद इसके बनारस के बुनकर आज भी वहीं के वहीं हैं।

'सावधान नीचे आग है' के माध्यम से संजीव ने सर्वथा एक नयी जमीन की तलाश की है। कोयलांचल के संगठित-असंगठित मजदूर उपन्यास के मुख्य पात्र हैं। संजीव ने बड़े मनोयोग से इस उपन्यास को रचा है। मुझे लगता है, अगर आप 'मुर्दाघर', 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' और 'सावधान नीचे आग है' को साथ रखकर पढ़ें, तो कुछ रोचक निष्कर्ष निकलेंगे। इस तरह के अध्ययन और विश्लेषण की पद्धति हमारे यहाँ नहीं है। जबकि वैचारिक और सांस्कृतिक विचलन

की स्थिति में ऐसे कार्य को आगे बढ़ाया जाना चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी का अंत और बीसवीं शताब्दी का प्रारंभ राजनीतिक दृष्टि से कई महत्वपूर्ण परिवर्तनों का काल रहा। विशेषकर अंग्रेजों की शासन नीति में बहुत कुछ परिवर्तन इस काल में देखने को मिलता है। अब तक ईस्ट इंडिया कंपनी केवल व्यापार के उद्देश्य तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि उसका स्वरूप शासन सत्ता के रूप में 1833 के आस-पास ही स्पष्ट हो चुका था। धर्म, राष्ट्र, जाति तथा वर्ण-भेद के बिना प्रत्येक व्यक्ति कंपनी की नौकरी प्राप्त कर सकता था। कंपनी का शासन चलाने के लिए अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों की आवश्यकता थी। अतः पहली बार इसी समय सरकारी सहायता पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार के लिए प्रदान की गयी तथा शिक्षा-सुधार कानून बनाये गये।

इसके पश्चात 1857 में विद्रोह हुआ जिसके पश्चात ईस्ट इंडिया कंपनी से इंग्लैंड की सरकार ने राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में ले ली और महारानी विक्टोरिया उसकी प्रतिनिधि के रूप में यहाँ साम्राज्ञी बनकर आयीं। यहाँ से ब्रिटिश सरकार के रूप में ईस्ट इंडिया कंपनी का परिवर्तन होता है और कंपनी का इतिहास एक प्रकार से समाप्त हो जाता है। आगे का इतिहास इंग्लैंड की सरकार के साथ जुड़ा हुआ है और भारतीय प्रशासनिक नीतियों पर इंग्लैंड की प्रशासनिक नीतियों का तथा सरकारी मनोवृत्तियों का प्रभाव देखा जा सकता है। (हिंदी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ. रमेश तिवारी, पृ. 191)

इसके बाद लार्ड कर्जन का आगमन और फूटपरस्ती की नीतियों का बीजा-रोपण। अंग्रेजों ने यह साफ देख लिया था कि 1857 का गदर सिर्फ गदर नहीं, बल्कि हिंदू-मुस्लिम एकता का चरम विस्फोट भी था। अतः कर्जन ने बंगाल को विभाजित करके हिंदू-मुसलमान की साम्प्रदायिकता का पहली बार स्वागत तथा श्रीगणेश किया। इस बंग-भंग नीति के दो स्पष्ट उद्देश्य थे- एक बंगाल को प्रशासनिक दृष्टि से कमजोर बनाना तथा दूसरा हिंदू-मुसलमान का आधार ग्रहण करके दोनों धर्मों के लोगों में एक-दूसरे के प्रति सदा के लिए वैमनस्य पैदा करना। उपनिवेशों में साम्राज्यवादी नीति का यही उद्देश्य रहा है कि

शासित जातियों में फूट डालकर राज्य किया जाये।

1942 का दंगा इसी फूट नीति का परिणाम था। फिर तो 1947 में आजादी की खुशी के साथ देश विभाजन की ऐसी त्रासदी मिली, जो कभी न भूलने वाली ऐतिहासिक त्रासदी बन गयी। प्रगतिशीलता की दम तोड़ती साँसें और साम्प्रदायिक फासीवाद का उदय। एशिया महादेश के इस सबसे बड़े देश में यह एक ऐसा नासूर बन गया है जिसका इलाज शायद किसी के पास नहीं है। अलग-अलग दृष्टि और अलग-अलग विचार। इसी देश में कभी सूफी-संतों की प्रेमिल वाणी का परचम लहराया करता था, आज घृणा का वातावरण समूची मनुष्यता को लील रहा है। संगठित मजदूर और किसान हमेशा पार्श्व में रहते हैं, जबकि इस समस्या के हल की कुंजी संभवतः इन्हीं लोगों के पास है।

ऐसे जबर्दस्त विषय के प्रति हमारे लेखकों-कलाकारों का संवेदनशील होना स्वाभाविक है। यशपाल का 'झूठा-सच' इस विभाजन के दर्द का महाकाव्य है, ऐसा कहा जाता है। ऐसे महाकाव्य की रचना यशपाल के बूते की ही बात थी, किसी अन्य लेखक के लिए संभव भी न था। इस दृष्टि से यह उपन्यास भीषण त्रासदी का एक अनूठा गवाह बन जाता है। अगली सदी में भी इस उपन्यास को कोई सरपास करेगा, शायद, संभव नहीं।

डॉ. सुरेश सिन्हा ने इस उपन्यास की एक खास विशेषता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है जो उचित ही है। उनका कहना है, "इस उपन्यास की खास विशेषता यह है कि इसमें यशपाल का मार्क्सवादी प्रचारक का नहीं, उपन्यासकार के रूप में प्रौढ़ चिंतक का रूप सामने आता है। इसमें सबसे बड़ी कलात्मक विशेषता यह है कि अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को पूरी तरह पचाकर उन्होंने कथानक का संगुंफन किया है और उसके सूत्र अत्यंत सूक्ष्मता से उसमें अंतर्निहित होकर स्वतः गतिशील होते हैं। इसमें कहीं सायासपन या यांत्रिकता लक्षित नहीं होती। यह एक कलात्मक संयम है जो यशपाल में पहली बार (और बाद के 'बारह घंटे' तथा 'क्यों-कैसे?' नामक उपन्यासों को देखकर शायद अंतिम बार) इतने सशक्त ढंग से उभरा है।"

इसके बाद भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' आता

है। जहाँ तक 'तमस' की बात है, साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित इस कृति के लेखक भी संयोग से प्रगतिशील धारा से ही जुड़े रहे हैं। लेकिन यहाँ भी कोई वाद या विवाद का आग्रह नहीं है, आग्रह है तो सिर्फ उस मानवीयता को बचाने का जिसके जरिये मनुष्य मनुष्य कहलाने लायक बनता है।

जब गोविंद निहलानी ने इस पर टी.वी. सीरियल बनाया तो एक अजीब किस्म का हंगामा बरपा हुआ। कुछ लोग हाईकोर्ट तक पहुँच गये। लेकिन न्यायाधीश बख्ताबर लेंटिन और सुजाता मनोहर का कहना था के 'तमस' भारत विभाजन के उन काले दिनों की दास्तान है जब आदमी को भेड़िया बनने पर विवश कर दिया गया था। अपनी सम्पूर्णता में यह सीरियल साम्प्रदायिक उन्माद की निरर्थकता और मनुष्य की मूलभूत अच्छाई की विजय का संदेश देता है।

पहले ही खंड में भीष्म साहनी ने खुद को बताया था कि 'तमस' का मकसद गड़े मुर्दे उखाड़ना नहीं, बल्कि उस त्रासदी के पीछे सक्रिय शक्तियों को उखाड़कर उन मूल्यों को उभारना है जब समझदारों से ज्यादा साधारण लोगों ने इंसानी हमदर्दी की मिसालें पेश कीं। लेखक के इस वक्तव्य के बाद 'तमस' के खिलाफ माहौल बनने की गुंजाइश नहीं रहनी चाहिए थी, पर वह बना और प्रदर्शन वगैरह की योजनाएँ तैयार हुई, क्योंकि आखिर हमारे समाज में ऐसी ताकतें भी हैं जो गड़े मुर्दे उखाड़कर ही जीवित रहती हैं।

न्यायमूर्ति लेंटिन और सुजाता मनोहर ने इतिहास के प्रति हमारे रवैये पर कुछ पते की बात कही हैं। उन्होंने कहा है कि इतिहास सबक सीखने के लिए होता है, गलीचे के नीचे छिपाने के लिए नहीं। हमारी एक विडंबना यह रही है कि हम इतिहास की पड़ताल करने से कतराते हैं, उससे साक्षात्कार नहीं करना चाहते। यह अकारण नहीं है कि हिंदी में विभाजन को आधार बनाकर लिखी गई रचनाएँ लगभग नगण्य हैं जबकि विभाजन का अँधेरा दौरा पंजाब के बाद हिंदी प्रदेशों में ही ज्यादा रहा। इतिहास के बारे में हमारा दृष्टिकोण इस बात से ही तय होता है कि हम किस तरह का समाज बनाना चाहते हैं, उसकी हमारी कल्पना क्या है? अगर हम समानता, सहानुभूति और मददगारी का



समाज बनाना चाहते हों तो हम युवा पीढ़ी को इतिहास के उन नारकीय गड़ढ़ों से सचेत करते चलेंगे, जिनमें एक दौर के अनेक लोग फँसा दिये गये थे। 'तमस' एक बड़ी हद तक यह काम करता है, इसलिए विभाजन के बाद पली-पुसी युवा पीढ़ी के लिए यह और भी जरूरी है। (जनसत्ता का संपादकीय, 25 जनवरी, 1998)

अंत में स्वयं भीष्म साहनी के उस कथन को रखने की अनुमति चाहता हूँ जिसे एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा था- “‘तमस’ में मुख्य मुद्दा हिंदू-मुसलमान पर दंगों का आरोप लगाना तो था ही नहीं। मुख्य बात तो यह थी कि 1947 के दंगों में हिंदू-मुसलमानों के बीच जिसने आग लगाई, वह तीसरी शक्ति थी जो दंगे की त्रासदी से निकली लपटों पर हाथ सँकती रही। ‘तमस’ का उद्देश्य उन मानवीय मूल्यों की स्थापना भी था जिनके अभाव में ही हम एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। और जब अचानक पूरा देश इस सच्चाई को समझने के बजाय कुछ बहुत ही गलत समझने लगे तो अकेला होना स्वाभाविक है। पर यह स्थिति ज्यादा देर तक नहीं रही। जितने वेग से विरोध का उफान उठा था उतनी ही गति से मेरे पास पाठकों और दर्शकों की चिट्ठियाँ आने लगीं ‘तमस’ के समर्थन में! और मुझे घबराहट से न मरने के लिए हौसला बढ़ाती चिट्ठियाँ! अर्थात् हमें हमारे गंभीर पाठकों और दर्शकों ने अकेला रहने नहीं दिया। इस भावना और अभिव्यक्ति को देखकर हम कृतज्ञ भाव से निरुत्तर हो उठे, जब सारा देश हमारे साथ है तो घबराने की क्या बात? इतना ही नहीं, दिल्ली में मैं जहाँ रहता हूँ, वहाँ मुहल्ले में कभी किसी ने मुझे कुछ नहीं कहा। पड़ोसी भी उत्साह बढ़ाते रहे। ढेरों स्थानीय लोगों के फोन आने लगे जो रावलपिंडी दंगे के शिकार होकर हमारी तरह दिल्ली में वर्षों से थे। उनमें से एक सरदार जी तो फोन पर मुझे शुक्रिया कहते-कहते बिलखकर रोने लगे। अब भी प्रतिदिन तीन-चार सौ की रफ्तार से चिट्ठियाँ आ रही हैं, उन सबके जबाब दे सकने की हालत में मैं नहीं हूँ, पर जैसी निश्छल प्रतिक्रिया पूरे देश ने ‘तमस’ के प्रति दिखाई है, उसे गहराई से महसूस कर मैं पूरे दावे के साथ कह सकता हूँ कि एक आम भारतीय कतई साम्प्रदायिक नहीं है और भारत की आत्मा

केवल जनसाधारण के बीच ही सुरक्षित है।” (सलिल सुधाकर और राणा प्रताप के साथ भीष्म साहनी की बातचीत, पाटलिपुत्र टाइम्स, 1988)

बदीउज्जमा का उपन्यास ‘छाको की वापसी’, विभूति नारायण राय का ‘शहर में कफ़्यू’ और मंजूरे ऐहतेशाम का ‘सूखा बरगद इसी कड़ी को आगे बढ़ाने वाले उपन्यास हैं। चिंतन-मनन को उत्प्रेरित करने वाली ऐसी कृतियों को आम अवाम हमेशा प्यार से गले लगाती है और लेखकों का उत्साहवर्द्धन करती है।

आधुनिक भारतीय उत्थानकाल में समाज सुधारकों ने अगर किसी समस्या को महत्वपूर्ण तथा गंभीर समस्या के रूप में लिया तो वह समस्या थी- नारी समस्या। उन्नीसवीं शताब्दी के सभी तरह के समाज सुधारकों के दिमाग में नारी समस्या ही थी। यही स्थिरित प्रारंभकालीन हिंदी उपन्यासकारों की भी रही। युगों से प्रताड़ित नारी की विभिन्न समस्याओं को इन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों का विषय बनाया। वस्तुतः भारतीय समाज में नारी की स्थिति अत्यंत चिंत्य थी जिससे अनेकानेक समस्याएँ तथा बुराईयाँ उत्पन्न हो रही थीं। यही कारण है कि इन बुराईयों को दूर करने वाले प्रत्येक समाज सुधारकों का ध्यान नारी समस्या की ओर बरबस चला जाता है। (हिंदी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ. रमेश तिवारी, पृ. 99)

उस काल में सभी समाज सुधारकों ने नारी के उत्थान के लिए शिक्षा को सबसे महत्वपूर्ण माना। उनके ख्याल में नारी की बदतर स्थिति का कारण अशिक्षा ही था। इसलिए नारी को शिक्षित करके उसे मुख्यधारा में लाना तथा उसे स्वाधीनता आंदोलन से जोड़ना यही मुख्य कार्य था। इसमें भी हम दो दृष्टिकोण देखते हैं, पहला, यह कि नारी के लिए नवीन शिक्षा पर जोर। दूसरा, पुराने खयाल के लोगों को मानना था कि नारी को उतना ही भर शिक्षा की जरूरत है जिससे वह गृह कार्य में दक्ष हो सके। पाश्चात्य शिक्षा के संपर्क में उसे आना भी नहीं चाहिए, क्योंकि इससे अपने समाज में नैतिक पतन को बढ़ावा मिलेगा।

प्रारंभिक उपन्यासकारों में मेहता लज्जाराम शर्मा तथा किशोरीलाल गोस्वामी सरीखे उपन्यासकार पुरानी सनातनी मनोवृत्ति का ही परिचय देते हैं। मेहता लज्जाराम शर्मा

अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'आदर्श हिंदू' में लिखते हैं, "उसका प्रियतम ही उसका सच्चा हृदयेश्वर है, उसका स्वामी है, और वही स्वामी है जिसने पाँच पंचों में बैठकर सूर्य-चंद्रमा की साक्षी से ध्रुवतारे का दर्शन करके अपने अटल संयोग की प्रतिज्ञा के साथ एक के दुख में दूसरे के दुखी होने और एक के सुख में दूसरे के सुखी होने का वादा करके जन्म-जन्मांतर तक मरने के बाद भी साथ न छोड़ने के प्रण के साथ पाणिग्रहण किया था।"

इस संबंध में किशोरीलाल गोस्वामी का भी दृष्टिकोण लगभग वही है। उनकी नायिकाओं का हृदय तो इतना विशाल है कि वह अपने अंतिम समय में एक ओर तो दूसरे जन्म में अपने उसी पति की दासी बनने की कामना करती हैं, साथ ही अपने पति से अपनी मृत्यु के उपरांत दूसरा विवाह कर लेने का आग्रह करना नहीं भूलतीं, जिससे इस लोक पति को सुखी देखकर वह भी परलोक में सुखी रह सकें। उनकी नायिका एक स्थान पर कहती है, "आज मेरे बड़े ही आनंद का दिन है कि तुम्हारे चरणों का दर्शन करके मरती हूँ। अब तुम मुझे ऐसी शिक्षा दो कि जिससे दूसरे जन्म में मैं तुम्हारी चरण-सेवा का अधिकारिणी होकर चिरकाल तक इन चरणों में स्थान पाऊँ और तुम्हें सच्चे जी से शपथ दिलाकर कहती हूँ कि तुम दूसरा विवाह करके अवश्य सुखी होना। यदि तुम ऐसा करोगे तो तुम्हारा सुख देखकर मैं परलोक में सुख पाऊँगी।" (उपरिवत्, पृ. 106)

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की नायिका भी इन्हीं संस्कारों में पली है तथा उसे भी अपनी माँ से यही शिक्षा मिली है। 'अधखिला फूल' की नायिका को उसकी माँ यही उपदेश देती है कि जो स्त्री अपने पति के चरणों की सेवकाई करती है, पति को देवता मानती है, उन्हीं की पूजा करती है, उन्हीं में मन लगाती है, सपने में भी उनके साथ बुरा बर्ताव नहीं करती, भूलकर भी उनको कड़ी बात नहीं कहती, कभी उनके साथ छल-कपट नहीं करती, वह मरने पर भी इसी भाँति अपने पति के साथ रहकर स्वर्ग-सुख लूटती है।" (उपरिवत्, पृ. 107)

लेकिन औपन्यासिक विकास का अगला चरण जो इतिहास में प्रेमचंद युग के नाम से जाना जाता है, इस दृष्टि

से महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस काल में सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने की तीव्र आकांक्षा लेखकों में देखी जा सकती है। वैवाहिक समस्या के संबंध में भी क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किये गये हैं और विवाह के प्रचलित रूपों की भी मीमांसा की गयी है।

स्वयं प्रेमचंद ने इस समस्या को अपने उपन्यासों में उठाया है, यथा 'वरदान' आदि में तथा बाद के उपन्यासों में 'सेवासदन', 'कर्मभूमि', 'निर्मला', 'गोदान' आदि में। प्रेमचंद अनमेल विवाह का विरोध करते हैं, विधवा विवाह का समर्थन करते हैं और एक कदम आगे बढ़कर अंतरजातीय विवाह का भी समर्थन करते हैं।

प्रेमचंद के अतिरिक्त पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'शराबी' उपन्यास में यह समस्या हीरा और मानिक के परस्पर प्रेम के माध्यम से उठायी है। हीरा-मानिक दोनों परस्पर प्रेम करते हैं, लेकिन उनका विवाह उनकी इच्छा से नहीं हो पाता। बल्कि हीरा का विवाह एक पशु वृत्ति के पुरुष से कर दिया जाता है जिसका दृष्टिकोण स्त्रियों के विषय में इस प्रकार है, "स्त्री खाने और कपड़े के दामों पर मुफ्त के माल की तरह लूट लेने की चीज है। स्त्रियों का केवल यही कर्तव्य होता है कि वह जिसके हाथों बिके, उसके लिए, उसके परिवार के लिए, उनके संसार के लिए अपने तन-मन के लहू की एक-एक बूँद गार दें।"

'तितली' उपन्यास में प्रसादजी अपना सदा की भाँति समन्वयवादी समाधान प्रस्तुत करते हैं। 'चंद हसीनों के खतूत' में उग्र ने कई कदम आगे बढ़कर मुरारी कृष्ण और नर्गिस के प्रेम संबंधों के माध्यम से हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिक एकता के साथ-साथ अंतरधार्मिक विवाह का समर्थन करके क्रांतिकारी विचार व्यक्त किया है।

वैसे हिंदी आलोचकों और लेखकों ने नारी मुक्ति का प्रस्थान बिंदु सही मायने में जैनेन्द्र को उपन्यास 'त्याग-पत्र' से माना है। 'त्याग-पत्र' को अगर नारी मुक्ति आंदोलन का घोषणापत्र मान लिया जाए, तो निश्चित रूप से नारी मुक्ति आंदोलन 'मुझे चाँद चाहिए' तक ही पहुँचेगा, उससे आगे नहीं। क्योंकि जैनेन्द्र ने मृणाल के माध्यम से जो विद्रोह दिखाया है, उसकी परिणति आत्मपीड़न में ही है। सामाजिक विद्रोह से उसका कोई लेना-देना नहीं। दरअसल,

नारी मुक्ति आंदोलन की अपने यहाँ दो-तीन धाराएँ मिलती हैं, जैसे-

1. पहली धारा मध्यवर्गीय सुधारवाद की धारा है जिसके तहत नारी को शिक्षित करके अनुकूल जगह पर लगाना है। इस धारा का प्रतिनिधित्व प्रेमचंद-प्रसाद आदि करते हैं।

2. अपने को पीड़ा की तरफ उन्मुख कर, पुरुषों को आजाद कर पीड़ा के भीतर मुक्ति की तलाश। यह जैनेन्द्रिय सिद्धांत था, इसलिए जैनेन्द्र का 'त्याग-पत्र' पुरुषों को भी बहुत भाया। हालाँकि यह न गाँधीवाद है और न जैन-दर्शन का उत्पीड़न के मनोविज्ञान। फिर भी नारी के प्रति रुग्ण दृष्टिकोण के प्रति एकबारगी संपूर्ण विद्रोह सभी लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचता है।

3. मुक्त चिंतन के आधार पर पश्चिमी तौर-तरीके से प्रभावित नारीवादी आंदोलन। 'चितकोबरा' जैसे उपन्यास को इसी श्रेणी में रखा जाना चाहिए।

4. मजदूर-किसान आंदोलन के साथ स्त्री का प्रेमतत्त्व, उसका संघर्ष स्वाधीनता और इस तरह पुरुष सत्ता, धार्मिक

सत्ता तथा आर्थिक सत्ता से मुक्ति। इस मार्क्सवादी धारणा को यशपाल भी अपनाते हैं और नागार्जुन भी। बल्कि यों कहा जाये कि मार्क्सवाद को चेतना के स्तर पर स्वीकार करने वाले सभी लेखकों-कलाकारों का दृष्टिकोण यही है।

इन्हीं उपर्युक्त खानों में बँटा-बँटा नारी मुक्ति आंदोलन हिंडोले खाता रहा है। अलग से अपना स्वरूप लेकर अभी तक यह आंदोलन उभर नहीं पाया है। हालाँकि इस बीच नारी-विमर्श बदस्तूर जारी है, नारीवाद अब खुलकर सामने आ भी रहा है, बावजूद इसके 'नारी मुक्ति' अब भी एक संभावना ही बनी है।

रही बात स्त्री-पुरुष के संबंधों के बीच पिसते बाल मनोविज्ञान की, तो इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है 'आपका बंटी'। यहाँ 'डूब' नहीं है, 'चाक' भी नहीं, आत्मकथा और जीवनी भी नहीं, समस्त उत्तर कथा को रचता 'कुरु-कुरु स्वाहा' है और 'महाभोज' में तब्दील होती समस्त भारतीय संस्कृति और राजनीति है।

#### संपर्क :

बंगाली कॉलोनी, पो. बेगमपुर,  
पटना- 800009, मो. 9234763168

वरिष्ठ साहित्यकार मुद्राराक्षस (21 जून 1933- 13 जून 2016)  
के पुण्य-प्रयाण पर श्रद्धावनत् है- 'मुक्तांचल परिवार'!

## समकालीन हिंदी उपन्यास के फ्रेम में 'लोकतंत्र'

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

प्रेमचंद की आशंका अंततः सत्य सिद्ध हुई। 'जॉन' की जगह 'गोविंद' प्रतिष्ठित हुए। आजाद भारत में केवल सत्तासीन चेहरे बदले, जनता की नीति और गति जस की तस रही। सन् 1919 में ही प्रेमचंद ने स्वराज्य के नेताओं के जन विरोधी चरित्र को पढ़ लिया था और साफ-साफ लिखा था- 'कोई कारण नहीं कि वह (जनता) दूसरे देश के हाकिमों के मुकाबले आपको ज्यादा पसंद करे।' इसके बावजूद स्वतंत्रता की प्राप्ति जनसाधारण के लिए एक विराट और मूल्यवान सपने के साकार होने जैसी थी। उसे वास्तविकता का ज्ञान बहुत बाद में हुआ। आजादी और लोकतंत्र का जनसाधारण ने इस आशा के साथ स्वागत किया था कि अब साम्राज्यवादी उत्पीड़न, पूँजीवादी शोषण और सामंतवादी जकड़न से मुक्ति मिल जायेगी। रामदरश मिश्र के उपन्यास 'पानी के प्राचीर' का समापन कुछ इसी तरह के आशावाद में हुआ है, "इन्हें गुलामी ने और बलवान बना दिया है- ये हमारी फसलें लूट लेती हैं- आज हमें आजादी मिली है। अब ये पानी की दीवारें टूटेंगी- खेतों में नए सपने खिलेंगे।" मनु शर्मा कृत 'मरीचिका' में संकेतित है कि तमाम किंतु- परंतु के बावजूद आजादी का स्वागत किया गया था: 'यह हमारी आँखों की रोशनी है। हमारे श्वासों में वायु का प्रकम्पन है। हमारे जीवन की उष्मा है। इसमें थोड़ी त्रुटि भी हो तो हमें उसका स्वागत करना चाहिए।' सपने के साकार होने के भ्रम में जनसाधारण लगभग दो दशकों तक जीता रहा, जब तक लोकतांत्रिक व्यवस्था की कुरूपताएँ और कर्णधारों के अन्तर्विरोध खुलकर सामने नहीं आ गए। 'मिलजुल मन' की भूमिका में मृदुला गर्ग ने इस त्रासदी के संबंध में लिखा है- "आजादी के बाद मासूमियत और दुविधा के घालमेल से बना सपना दस-बीस बरस देखा गया और देखने के दौरान टूट कर बिखर गया।" लोगों को महसूस होने लगा कि आजादी झूठी और नयी व्यवस्था साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी व्यवस्था का संशोधित संस्करण है। नेता, पूँजीपति, अधिकारी- लोकतंत्र के मालिक बन बैठे हैं। यशपाल ने बहुत क्षोभ के साथ 'झूठा-सच' ('देश का भविष्य') में लिखा था "सब शासन पुराने आई. सी. एस. चला रहे हैं। इन लोगों ने सेवा करनी नहीं शासन करना सीखा है। इन्हें डेमोक्रेसी नहीं, ब्यूरोक्रेसी की आदत है। वही कानून है, वही राज।"

जनहितकारी सार्थक बदलाव न होने की तकलीफ प्रायः हर स्वतंत्रता परवर्ती हिंदी कथाकार के मन को मथती रही है। प्रेमचंद को स्मरण करने के क्रम में भीष्म साहनी को लगा है कि तब से अब स्थितियाँ बहुत नहीं बदली हैं- "कहीं ऐसा तो नहीं कि हलकू का वंशज 'पूस की रात'

में अभी भी ठिठुरन के मारे कुत्ते से लिपटता फिरता हो कि कुछ गरमाईश मिले ? और जोखू का वंशज अभी ठाकुर के कुएँ से पानी न निकाल सकता हो।” कुछ अपवादों को छोड़ दें तो मौजूदा लोकतंत्र में गरीब और गरीब होता गया है और दलित की स्थिति पिछड़े हुए अंचलों में खास अच्छी नहीं है। ‘हजार घोड़ों का सवार’ में स्वतंत्र भारत का दलित सांसद एक ठाकुर के कुएँ से पानी भरने के प्रयास में मार दिया जाता है। जो ‘ठाकुर का कुआँ’ प्रेमचंद के जमाने में जानलेवा था वही यादवेन्द्र शर्मा ‘चंद्र’ के युग में भी प्राणघातक बना हुआ है।

समकालीन हिंदी साहित्य विशेषतः उपन्यासों में ‘नारी-विमर्श’ और ‘दलित-विमर्श’ का विशद हस्तक्षेप यूँ ही नहीं है। ये सीधे बदलाव के सवालियों से जुड़े हैं। ‘नाच्यौ बहुत गोपाल’ में अमृतलाल नागर ने निर्गुण के माध्यम से जो प्रश्न पूछा है, वह आज तक अनुत्तरित है, “दुनिया के बड़े-बड़े गिरे लोगों की तकदीरें पलट गयीं। अफ्रीका के लोग जो कल तक गुलाम थे, अब खुदमुख्यार हो गए। दुनिया के इत्ता-इत्ता इनक्लाब-जिंदाबाद और आजादी के नारे लगे पर हम मेहतारों को किसी ने आज तक आजाद नहीं किया बाबू जी।” इसी तरह की स्थिति नारी की है। प्रभा खेतान ने ‘छिन्नामस्ता’ में पूछा है- “औरत कहाँ नहीं रोती। सड़क पर झाड़ू लगाते हुए, खेतों में काम करते हुए या फिर सारे भोग ऐश्वर्य...अपने-अपने तरीके से जिंदगी जीने की कोशिश में छटपटाती ये औरतें।” वस्तुतः संविधान और संसद में दिये गये दलितों और नारियों के अधिकारों को पूर्णतः व्यवहार में नहीं लाया जा सका है। दहेज विरोधी अधिनियम और हरिजन एक्ट जैसे प्रावधान हैं, लेकिन इनका दुरुपयोग अधिक होता है। शोषक वर्ग समानता, समता आदि मूल्यों को स्वीकार नहीं करता। वस्तुतः समूची आर्थिक-सामाजिक संरचना को बदले बिना नारी और दलित को मौजूदा व्यवस्था में राहत संभव नहीं है। ‘सोनभद्र की राधा’ में मधुकर सिंह ने सही कहलवाया है कि लोग बाँटने के नाम पर ही बौखला उठते हैं, जब दलितों द्वारा छीन कर लेने की बात उठेगी तब पता नहीं कैसी स्थिति बने ? अतः यह अस्वाभाविक नहीं है कि ‘हरा समंदर गोपीचंद्र’ में लक्ष्मीनारायण लाल ने आह्वान

किया है- ‘सहो नहीं, विरोध करो। अधिकार मांगो नहीं ले लो।’ इसमें संदेह है कि अधिकार प्राप्त करने का दलित आवेश अधिक समय तक अहिंसक रह पायेगा। ‘छप्पर’ (जयप्रकाश कर्दम) और ‘जसतस भई सबेर’ (सत्यप्रकाश) जैसे दलित उपन्यासों में यही बोध व्यंजित है।

ऐसा नहीं है कि गत पचास वर्षों की लोकतंत्र की शोभा-यात्रा हमेशा फीकी रही है, इसके कुछ अच्छे और गुणात्मक प्रभाव भी हैं। स्त्रियों और दलितों की शिक्षा और नौकरी का बढ़ता प्रतिशत इसी व्यवस्था की देन है। लेकिन जो भी सकारात्मक परिवर्तन है, अपर्याप्त नहीं है। विकास महानगरों, नगरों और कुछ गांवों तक सीमित रहा। विवेकीराय के उपन्यासों- ‘सोनामाटी’ और ‘समरशेष है’ में ग्रामीण जनता ‘सड़क’ और ‘पूल’ जैसी सामान्य सुविधाओं के लिए तरस रही है। या तों सड़कें कागजों पर बन जाती हैं या राजनीतिक षड्यंत्र की बलि चढ़ जाती है। विवेकीराय ने अपनी एक अन्य कृति ‘नमामि ग्रामम्’ में क्षोभपूर्वक दिखाया है कि शहरों से थोड़ा आगे बढ़ते ही कथित विकास की कलाई खुल जाती है: “फिर यह बताइये कि इन चार-पाँच पुरवों में कोई नाम-मात्र का भी विकास कार्य आपने देखा है ? एक हैंड पाइप भी कहीं लगा है ?” ऐसे परिवेश में भूमंडलीकरण, ग्लोबल वार्मिंग, पर्यावरण-प्रदूषण जैसे मुद्दे कितने जरूरी हो सकते हैं ? ‘मुन्नी-मोबाइल’ (प्रदीप सौरभ) में इंग्लैंड के मंत्री से आनंद भारती का यह कथन बेहद प्रासंगिक है: हमारे देश के लिए सबसे बड़ी समस्या भूख है। साफ पानी है। अकाल और सूखा है। इससे हम बचेंगे तभी ग्लोबलवार्मिंग जैसे सवाल हमारे एजेंडे में आयेंगे।”

अनेक उपन्यासों में आजादी आधी अधूरी रह जाने लोकतांत्रिक व्यवस्था के शोषकों के पक्ष में खड़े होने और संविधान प्रदत्त समता, समानता, स्वतंत्रता और सामाजिक न्यास की खुलेआम अवहेलना जैसी विसंगतियाँ क्षोभ का कारण बनी हैं। कृष्ण सुकुमार के उपन्यास ‘हम दोपाए हैं’ में आया एक वाक्य बहुत व्यंजक है। बूढ़े पंद्रह अगस्त का सोच है- ‘मेरी बेटी स्वतंत्रता और मुझे नजरबंद कर डाला गया है।’ ‘गाथा अमरबेल की’ (सुषमाबेदी) का शिवा बार-बार कथित-आजादी पर प्रश्नचिह्न लगाता है: ‘क्या



कर लेंगे हम आजादी लेकर गर पंचानबे फीसदी जनता उसी गरीबी और जहालत के अँधेरे में पड़ी है।' वह एक स्थान पर कहता है- 'मैं पूरी आजादी की बात करता हूँ... देश के हर इंसान को तरक्की का मौका मिलना चाहिए।' मौजूदा लोकतंत्र यदि 'लोक' का हित नहीं कर पाया तो इसका एक बड़ा कारण यही है कि स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक मूल्यों के विरोधी मुद्दीभर लोगों ने समूची व्यवस्था पर अधिकार कर लिया और इसे अपने हितों और स्वार्थों के लिए इस्तेमाल किया। 'कितने नीलकंठ' (उषा यादव) में इस विडंबना पर प्रहार करते हुए कहा गया है- "वे आदमी जो आज पतित हो चुके हैं, अपने स्वार्थ में अंधे हो चुके हैं। अपने आचार-विचार में इतने घृणित, भ्रष्ट और निर्लज्ज हो चुके हैं कि अपने कुकर्मों पर उन्हें कभी ग्लानि नहीं होती। उनकी सारी संवेदनाएँ मर कर खाक हो चुकी हैं। उन्होंने हर जगह नरक बना दिया है।"

'जल टूटता हुआ' (रामदरश मिश्र) गाँव में स्वतंत्रता दिवस के वर्णन से प्रारंभ हुआ है। इस वर्णन में तीन विसंगतियाँ ध्यानाकर्षक हैं। अध्यापक सुग्गन तिवारी भूखे ही स्कूल आए हैं, आजादी का त्यौहार मनाने। छात्रों की हालत उनसे बेहतर तो क्या होगी? आयोजन के मुख्य अतिथि पूर्व सामंत महीप सिंह हैं, जिनके बारे में सर्वसाधारण का विचार था कि आजादी मिलने पर ऐसे देशद्रोहियों को फाँसी से कम सजा नहीं होगी। तीसरी महत्वपूर्ण बात है कि झंडा बाँधा रह जाता है, जनगणन नहीं हुआ। संकेत स्पष्ट है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में क्या किसान, क्या मास्टर सभी भूखे रहने को अभिशप्त हैं। झंडे से बाँधे रह जाना सूचक है कि कुछ वर्षों के बाद ही आजादी मिलने की खुशी तिरोहित हो चुकी थी। महीप सिंह जैसे बाहुबलियों और वर्गशत्रुओं के गाँधी टोपी पहन कर रातों रात पाला बदल लेने के हादसे को फणीश्वर नाथ 'रेणु' और नागार्जुन बहुत पहले 'मैला आँचल' और 'बलचनमा' में बहुत दुख और क्षोभ के साथ बयान कर चुके हैं। ये प्रसंग समझदार और संवेदनशील व्यक्तियों और संगठनों को भी इस कुरूपता के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं क्योंकि उनकी कायरता ने अपराधी तत्त्वों को 'वाकओवर' दे लिया और वे तत्त्व जनप्रतिनिधि बन बैठे। रेणु की एक चर्चित कहानी 'जलवा'

में फातिमा दी का आरोप सही है कि आवाम की कसमें खाने वाले टुकुर-टुकुर देखते रहे और फिरकापरस्त अजदेहों ने पूरी कौम को लील लिया। आज लोकतंत्र में लोक-हित का तिरस्कार एक ज्वलंत सच्चाई है। दूसरों की मेहनत पर मौज करने वाले कुलीन और भद्र लोगों को सरपरस्ती में ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। मनोज शर्मा के शब्दों में 'शायद ही कोई इस सत्य को झुठलाए कि दशकों से हमारे लोकतंत्र का व्यावहारिक पक्ष ऐसे अभिजनों को स्थापित कर रहा है जो समाज के रसूखदार लोग हैं। लोकतंत्र के हजार वर्षों के इतिहास में एथेंस के प्रत्यक्ष लोकतंत्र से लेकर भारत के लोकतंत्र तक इस सेटअप ने अपना चरित्र नहीं बदला है।' (अलाव, जुलाई-अगस्त 2010, पृ. 22)

राजू शर्मा के उपन्यास 'विसर्जन' में भूमंडलीकरण, बाजारवाद उदार अर्थनीति के संदर्भ में पाया गया है: 'हमारे देश में दो भारत हैं, एक भारत शताब्दियों की जंजीरे तोड़ छलांग लेना चाहता है, सम्पूर्ण जगत की अपेक्षाएँ सिद्ध करना चाहता है, दूसरा भारत शंकाओं में घिरा है।' पहले भारत का प्रतिनिधित्व हमारे नवधनाढ्य अभिजन करते हैं, जिनके लिए लोकतंत्र व्यर्थ है। इस नवपूँजीवाद का प्रतिनिधि रंगराजन एकदम निभ्रांत है: 'तुम्हारा राज्य और उसके अंग उत्तर आधुनिक समाज का कैदखाना है। राज्य का स्वरूप व नियमन युग की सृजन क्षमता की राह में काँटा है। ...इस देश में आज एक लाख सेनानी हैं, जो डॉलर मिलियनायर हैं, देश की दस फीसदी आय इनकी बंदौलत है। कारोबार, उद्यम और सृजन के ईंधन यही हैं।' धन-संपदा की ये ऊँची-ऊँची मीनारें जनतांत्रिक मूल्यों के ध्वंस पर खड़ी हैं। आम आदमी इस माहौल में विक्षुब्ध है और स्तब्ध भी है। उसे व्यवस्था का क्रूर और अमानवीय चरित्र चारों ओर से डरा रहा है। स्वप्न-विहीन, संकल्प विहीन, शक्ति-विहीन लोकतंत्र उसे ढाढ़स बाँधाने में असमर्थ है। इस स्थिति को लक्ष्य करके प्रमोद कुमार तिवारी ने 'डर हमारे जेबों में' शीर्षक उपन्यास में सवाल उठाया है- 'निडर मनुष्य और निडर जनतंत्र, ऐसे दुर्लभ क्यों हो गए इस आजाद देश में।' यह हताशा मिथिलेश्वर कृत 'सुरंग और सुबह' में भी केन्द्रस्थ है। डॉ. शिव कुमार मिश्र ने इस

उपन्यास के शीर्षक को व्यंजनाधर्मी मानते हुए कुछ इस तरह से परिभाषित किया है: 'रचनाकार का बल सुरंग पर नहीं, उसके भीतर फूटने वाली सुबह पर है, जिसे अपने प्रकाश को बिखरने के लिए अनंत आकाश मिला है। परन्तु वह फूट चुकी है।' (प्रयास- 2004-05, पृ. 33) लोकतंत्र का क्षत-विक्षत होना सुरंग का अंधेरा है और बहुत से परिवेश सजग लोग संगठित रूप में अंधकार को लक्ष्य करके लिख गए 'कटरा बी आर्जू' (राही मासूम रजा), 'शांतिभंग' (मुद्रा राक्षस), 'रात का रिपोर्टर' (निर्मल वर्मा), 'बीच की धूप' (महीप सिंह) आदि उपन्यासों में आलोकधर्मी प्रतिवाद अपेक्षाकृत अधिक मुखर है।

बहुत दिनों तक यह भ्रम बना रहा था कि कुछ न सही, बोलने की आजादी तो इस व्यवस्था में मिली हुई है। आपातकाल लागू होने के बाद यह भ्रम भी टूट गया, जब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर कुठाराघात हुआ। राही मासूम रजा ने 'कटरा बी आर्जू' के बहाने पूरे देश की जुबान गूँगी होने की विडंबना का बयान किया है। मजे की बात यह रही कि तब से बुद्धिजीवी अंधेरे को उजाला कहने और अभिव्यक्ति पर आघात को तर्कसंगत सिद्ध करने में जुटे थे। 'बीच की धूप' में संजीव ऐसे ही महानुभावों का प्रतिरूप है। यह अकुंठित बेहयाई के साथ प्रेस की आजादी और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रहार को सैद्धांतिक रूप प्रदान करता है: 'अभिव्यक्ति की स्वाधीनता पूँजवादी व्यवस्था का हथकंडा है...कुछ प्रतिगामी और प्रतिक्रियावादी लोग अभिव्यक्ति की स्वाधीनता के नाम पर समाज में सर्वहारा के पक्ष में आते हुए परिवर्तन के रास्ते पर रोड़ा अटकाना चाहते हैं। ऐसे लोगों के साथ सख्ती से निपटना चाहिए।' प्रायः सभी उपन्यासकार एकमत हैं कि लोकतंत्र में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन असह्य है। कई उपन्यासकार तटस्थता और उदासीनता को भी लोकतांत्रिक अपेक्षाओं के अनुरूप न मान कर गलत और गलत के विरोध के पक्षधर हैं। जो बीच के लोग हैं, वे एक तरह से जनविरोधी शक्तियों के हाथ को मजबूत करते हैं। 'समय एक शब्द भर नहीं है' में धीरेन्द्र अस्थाना ने इन तत्त्वों की खूब खबर ली है- 'क्या तुम अनायास ही कातिलों के पक्ष में जाकर खड़े नहीं हो गए? अपने व्यक्ति की चाहतों को स्थगित कर देने की

अपनी निजी स्वतंत्रता का इस्तेमाल करते हुए तुमने दूसरों की स्वतंत्रता का दमन अनायास ही नहीं कर दिया क्या?'

संसदीय लोकतंत्र, व्यवहार में बूर्जुआ लोकतंत्र और जन आकांक्षाओं की पूर्ति में असफल तंत्र सिद्ध हुआ है। अतः वर्तमान व्यवस्था के प्रति असंतोष की अभिव्यक्ति और 'दूसरे प्रजातंत्र की तलाश' का उपक्रम अस्वाभाविक नहीं है। कई उपन्यासों में 'संघर्ष', भले ही वह व्यक्ति का ही क्यों न हो, बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। लवलीन कृत 'स्वप्न ही रास्ता है' में अपरा ने सुगनी से कहा है- 'हमारा सपना इस जनम में तो पूरा नहीं होगा, लेकिन आत्मा में यह संतोष तो होगा कि हम लड़े। हमने इस कुव्यवस्था से समझौता नहीं किया।' प्रतिवाद और प्रतिरोध में विश्वास रखने वाले तमाम प्रख्यात-अख्यात उपन्यासकारों का विचार है कि 'लोकतांत्रिक व्यवस्था' में आमूल परिवर्तन होना चाहिए। उपन्यासकार इस सत्य को संप्रेषित करना चाहते हैं कि आम जनता भाषण नहीं, अपने सवालियों के सच्चे और जिंदा जवाब चाहती है। यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र' ने 'हजार घोड़ों का सवार' में इसलिए नयी व्यवस्था गढ़ने की जरूरत जताई है कि आम आदमी सम्मान से पेट भर सके। लेकिन जिस जनसाधारण के हितों के लिए नयी व्यवस्था जरूरी है वह सचेत तो है लेकिन मूल्यमूढ़ता या संदेह की स्थिति से गुजर रही है। 'राग दरबारी' के एक चरित्र का यह कहना कि वोट कोई छप्पन टके की चीज तो नहीं है जो चाहे ले जाए, स्थिति की गंभीरता को दर्शाता है। विवेकी राय कृत 'सोनामाटी' में वोटों की ताकत के बल पर लूट लिया जाता है और इससे 'संसद', 'चुनाव' आदि की प्रासंगिकता स्वतः समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में निराशा और हताशा का जन्म होता है और शोषित दलित हथियार उठाने के लिए विवश होते हैं: 'बदलते इतिहास के बीच दूसरे-दूसरे गाँवों में कितना-कितना, क्या-क्या नहीं बदल गया। यह दिन भी देखना पड़ा कि दलितोन्मेष खूनी क्रांति का उद्घोष बनकर घहराने लगा है। सुदूर चीन से चल कामरेड माओ निचाट ग्रामांचल में पहुँचने लगा है।' विशंभरनाथ उपध्याय के उपन्यासों 'पक्षधर', 'विशुद्ध', प्रियवंद कृत 'छुट्टी के दिन का कोरस' में छापामार युद्ध के माध्यम से व्यवस्था को बदलने की संभावना वर्णित है।

आदिवासियों पर केन्द्रित 'जहाँ बाँस फूलते हैं' (श्रीप्रकाश मिश्र), 'जंगल जहाँ से शुरू होता है' (संजीव), 'सराहना' (पुन्नी सिंह) आदि में स्वतंत्रता-परवर्ती परिवेश में नेताओं-अफसरों-नवधनाढ्य लोगों की मिलीभगत से विकास के नाम पर होने वाले विनाश की भयावहता वर्णित है। दूरस्थ जंगलों में आदिवासियों की जीवन-पद्धति प्रभावित हुई है। जो परिवर्तन हुए, अधिकतर नकारात्मक हैं। 'बरखा रचाई' में असगर वजाहत ने क्षोभपूर्वक लिखा है: '...गरीब के हित में किए जाने वाले काम दरअसल सत्ता के लिए चुनौती होते हैं और सत्ता उन्हें सफल होने नहीं देती।' ऐसी स्थिति में उत्पीड़ितों का विद्रोह, अन्याय, शोषण की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। 'सुनामी में विजेता' (मुशरफ आलम जौकी) में इस स्थिति का विश्लेषण ध्यानाकर्षक है: 'मेहनत किसान करे-बीज बोए किसान मेहनत-मजदूरी करे और धरतीधार सारी मेहनत हड़प जाए। यहीं से आरंभ

हुआ नक्सलवाद।' लेकिन उपन्यासकार विचारधारा के फैशन और नक्सलवाद के उद्योग बन जाने के खतरों की ओर भी इंगित करता है। उपन्यासकार मानते हैं कि वास्तविक चुनौती जन-रोध और जुझारूपन को सही दिशा में मोड़ने की है। इसके लिए 'विक्षुब्ध' (विश्वंभर नाथ उपाध्याय) में लोकतंत्र पर आधारित और पंचायतों की स्थापना पर जोर दिया गया है। यह कार्य अहिंसक ढंग से न हो सके तो व्यवस्था के लिए जन का आतंक और भय जरूरी है। वस्तुतः अनेक उपन्यासकारों को भय है कि मौजूदा लोकतंत्र, बुर्जुआ लोकतंत्र से अधिनायकवाद की ओर बढ़ रहा है। इस अधिनायकवाद से जूझने के लिए भविष्य में जनसाधारण के पास शायद 'हिंसा' एकमात्र विकल्प बचे, क्योंकि जैसा 'हजार घोड़ों का सवार' में कहा गया है, गरीबों और शोषितों का हृदय तो बदल सकता है, पाषाण और निरंकुश लोगों का नहीं।

#### संपर्क :

डी-131, रमेश विहार,  
अलीगढ़-202001, मो. 09837004113

## शेखरः श्री रामचन्द्र आख्यात

डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र

भूतपूर्व, आचार्य एवं अध्यक्ष

हिंदी विभाग, नागपुर वि.वि.

ब्रिटिश उपन्यासकार फ्रेडरिक फोर्ससाइथ ने लेखक को 'विचित्र प्राणी' कहा है, खासकर तब जब उसकी आजीविका लेखन पर निर्भर हो। इसका पहला कारण तो यह है कि वह अपनी आधी जिंदगी ..... दिमाग में जीता है। इस छोटे से क्षेत्र में दुविधाएँ बनती और मिटती हैं। खिड़की के बाहर दिखाई देने वाली दुनिया से भिन्न यह बिल्कुल अलग ढंग की दुनिया है। बच्चों के दिवा स्वप्न की भर्त्सना की जाती है, जबकि एक लेखक में वह अपरिहार्यता है। अन्य पेशों में सहायक होते हैं, लेखन में लेखक निरा एकाकी होता है। लेखक हमें बाहरी दुनिया में कार्यरत दिख सकता है, लेकिन वह उसका आधा अंश होता है। शेष आधा अंश बाहरी दुनिया से निर्लिप्त उसे निहारता, कुछ नोट करता रहता है, यह उसकी विचित्रता का दूसरा कारण है। अपने बाहरी मुखौटे के पीछे लेखक हमेशा निरीक्षण करता रहता है, विश्लेषण करता रहता है। दीमागी टिप्पण लेता रहता है, बातचीत की कड़ियों एवं अपने आसपास के मानवीय आचरणों को संग्रहीत करता रहता है ताकि भविष्य में उनका उपयोग हो। अभिनेता भी यही करता है लेकिन लेखक के पास केवल शब्द-सम्पदा होती है, जो फिल्मी सेट्स, रंगमंचों, उनके रंगों सजावट, संगीत आदि की तुलना में बहुत अधिक कष्ट साध्य है।

डॉ. विजयमोहन सिंह ने प्रेमचंद के बारे में लिखते हुए कहा है, 'प्रायः अपने उपन्यासों के कथानक उन्हें पत्र-पत्रिकाओं से ही मिलते थे, जिन्हें वे बड़ी रचनात्मक कुशलता से कथारूप में ढाल लिया करते थे।' पत्र-पत्रिकाओं से कथानक लेना कोई गुनाह नहीं है। आखिर कवि कुलगुरु कालिदास ने शाकुन्तल का कथानक महाभारत से उठाया लेकिन अपनी रचनात्मक प्रतिभा और लेखन-कौशल से उसे हृदयस्पर्शी क्लासिक रचना रूपी खरे कंचन का रूप दे दिया। निरा पत्रकार लेखक का मुकाबला नहीं कर सकता लेकिन प्रेमचंद लेखक और पत्रकार दोनों थे। इस कारण उनका कथा-साहित्य मर्मस्पर्शी होने के साथ-साथ अपने समय के समाज और उसके ज्वलंत प्रश्नों से भी गहरी संपृक्ति रखता है। इसलिए छायावाद-युग के ऊपर प्रेमचंद-युग भारी है। निराला और प्रसाद को प्रेमचंद ने प्रेरित किया कि वे कल्पना- लोक में विहार करने के बदले यथार्थ की धरती पर उतरें।

प्रेमचंद उर्दू से हिंदी में आए। उर्दू कथा-साहित्य से उन्होंने किस्सागोई और भाषा की रवानगी का पाठ पढ़ा लेकिन हिंदी में लिखते हुए उन्हें अपनी भाषा को पाने के लिए बहुत प्रयास करने पड़े। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में मुहावरेदार टकसाली भाषा नहीं है। आचार्य रामचंद्र

शुक्ल ने प्रेमचंद की कथा-भाषा की प्रशंसा करते हुए लिखा है- 'प्रेमचंद की सी चलती और पात्रों के अनुरूप रंग बदलने वाली भाषा हिंदी में पहले कभी नहीं देखी गयी थी।' भाषा की यह अनोखी विशेषता जिसने उनके साहित्य को लोकप्रियता दी, उनकी प्रारंभिक रचनाओं में नहीं है। 'सेवासदन' को ही लें। उपन्यास में एक पात्र सदन के उद्गार हैं- 'हाय! ये मैं कैसा कठोर, कैसा पाषाण हृदय हूँ। वह रमणी जो किसी रनिवास की शोभा बन सकती है, मेरे सम्मुख एक दीन दया प्रार्थी के समान खड़ी रहे और मैं जरा भी न पसीजूँ। वह ऐसा अवसर था कि मैं उसके चरणों पर सिर झुका देता और कर जोड़कर कहता, 'देवी, मेरे अपराध क्षमा करो।' यह वह भाषा नहीं है, जिसके कारण प्रेमचंद मशहूर हैं। उसका विकास क्रमशः हुआ। अब पात्रों के अनुरूप भाषा के बारे में। मुसलमान पात्रों के मुँह से जिस प्रकार की उर्दू-फारसी मिश्रित भाषा का प्रयोग हुआ है, वह पाठकों के साथ ज्यादाती है। यथा- 'मेरी जाती राय तो यह है कि इन्हें मरकज शहर से ही नहीं, हदूद शहर से खारिज कर देना चाहिए।' एवं - 'जनाब, रिन्दों को न इत्तहाद से दोस्ती, न मुखालिफत से दुश्मनी। अपना मुशरब तो सुलहे कुल है। मैं अब तक यही तै नहीं कर सका कि आलम बेदारी में हूँ या ख्वाब में।'।

प्रेमचंद ने 'सेवासदन' में जिस समस्या को उठाया है, वह आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। अगर ऐसा न होता तो जैनेन्द्र कुमार को 'त्याग-पत्र' उपन्यास न लिखना पड़ता। सुमन और मृणाल की दशा एक सी है। दोनों बेमेल विवाह की शिकार हैं। प्रेमचंद ने आश्रम के रूप में समस्या का जो हल खोजा है वह जैनेन्द्र को मंजूर नहीं। प्रेमचंद सुधारवादी आंदोलन से प्रभावित थे, लेकिन उपन्यास यह भी बताता है कि तत्कालीन सुधारवाद की कशती किस तरह भँवर में फँसी हिचकोले खा रही थी। प्रेमचंद द्वारा उठाई गई समस्याएँ आज बद से बदतर होती जा रही हैं। 'गोदान' का होरी किसान से मजदूर बन गया और ग्रीष्म की भीषण लू में मजदूरी करते हुए अपने प्राण दे देता है। आज जमींदारी खत्म हो चुकी है, प्रजातांत्रिक व्यवस्था है लेकिन किसान आत्महत्याओं की संख्या बढ़ती ही जा रही है।

सुमन की समस्या के मूल में आर्थिक कारण ही नहीं है। वह एक ऐसे समाज में पली-बढ़ी है जो अनावश्यक रूढ़ियों और गलत धार्मिक मान्यताओं जैसी विसंगतियों में लिथड़ा हुआ है। यहाँ वेश्या भोग विलास के साधन के रूप में अनिवार्य है, लेकिन वह अछूत और पतित भी है। मंदिर के समारोहों और शादी ब्याह के अवसरों पर उसका नाच-गाना गलत नहीं लेकिन यदि वह अपने व्यवसाय को छोड़कर सामान्य नारी की तरह गृहस्थी बसाना चाहे तो उसकी मदद करने के लिए कोई तैयार नहीं। वह पतित है तो पतित ही रहेगी, उसका उद्धार संभव नहीं। सुमन के पतन की छाया से उसकी बहन शांता का जीवन भी प्रभावित होता है। उसके ब्याह की बारात वापस लौट जाती है।

वैयक्तिक धरातल पर भी लेखक ने सुमन के पतन को कार्य-कारण शृंखला के रूप में प्रस्तुत किया है। तीस साल के 'दुआहू' गजाधर प्रसाद से ब्याह जिसका वेतन बहुत कम है, सुमन का सौन्दर्यवती होना, गृह प्रबंध में अकुशल और जिंदगी के मजे लेने में रुचि, घर के सामने रहने वाली भोली वेश्या के ठाट बाट से प्रभावित, पति को सूचित किये बिना भोली के यहाँ चले जाना, पं. पद्मसिंह के यहाँ होली के अवसर पर भोली के नृत्यगान का आयोजन पति को बिना बताए सुमन का वहाँ जाना और आधी रात के बाद घर लौटना, पति से क्षमायाचना करने के बदले झूठ बोलना, पति द्वारा गृह-निष्कासन का दंड, पद्मसिंह के घर शरण लेना, पद्मसिंह द्वारा बदनामी के डर से अपने घर से जाने को कहना, अन्ततः भोली की शरण में जाकर वेश्या-व्यवसाय में पदार्पण। इस आधार पर कहा जा सकता है कि सुमन ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के ढाँचे को तोड़कर विद्रोह किया और समाज ने उसे दंडित किया। 'त्याग पत्र' की मृणाल ने भी अपने विद्रोह की सजा पाई। तत्कालीन समाज में पति स्वामी था और पत्नी उसके लिए इन्द्रिय-सुख का यंत्र मात्र थी। नारी के अधिकारों और उसकी मुक्ति की बात करना ही निरर्थक था। यदि सुमन अपने पति को परमेश्वर मान कर उससे समझौता कर लेती तो घटनाएँ इस तरह का रूप न लेती और उसका दाम्पत्य जीवन नष्ट न होता।



कुछ समीक्षकों को सुमन का वेश्या बनना विश्वसनीय नहीं लगता। उनकी राय में प्रेमचंद ने सम्पूर्ण घटना चक्र को अतिशयता और अतिरंजना के साथ प्रस्तुत किया है। आज का सजग पाठक इस उपन्यास को एक सामाजिक फिल्मी कथा के रूप में ले तो आश्चर्य नहीं। 55वें प्रकरण में एक चमत्कारिक घटना भी है। स्वामी गजानंद रात में लालटेन लिए सुमन का मार्गदर्शन करते हैं और उसे अपनी कुटिया के द्वार तक ले जाते हैं। अंदर जाने पर स्वामी जी कंबल ओढ़े हुए सोते दिखाई देते हैं। वे कहते हैं कि मैं तुम्हें स्वप्न में देख रहा था। मैं तो कुटी से निकला ही नहीं। आज हम समाजशास्त्र और सामाजिक चिंतन के प्रकाश में यह अच्छी तरह जान गए हैं कि वेश्या बनने के पीछे बहुत जटिल और मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं। कोई नारी शौकिया वेश्या नहीं बनती है। फिर भी लेखक ने अपनी ओर से कथा को विश्वसनीय बनाने का पूरा प्रयास किया है। इसके लिए उसने मानव मनोवृत्तियों या मनोविकारों का सहारा लिया है। सुमन अपने शारीरिक सौन्दर्य की तुलना भोलीबाई से करती है— ‘मगर मैं भी तो ऐसी बुरी नहीं हूँ। वह साँवली हैं, मैं गोरी हूँ। वह मोटी है, मैं दुबली हूँ।’ सुभद्रा के कमरे के बड़े आइने ने भी इस बात की पुष्टि की। अब वह भोली के विरुद्ध प्रतियोगिता में उतरने को तत्पर हो जाती है। वह सोचने लगती है— ‘उसने लज्जा त्याग दी है, मैं उसे पकड़े हुए हूँ। इसी लज्जा ने, इसी उपहास के भय ने, मुझे दूसरे की चेरी बना रखा है।’ इस तरह उसके कदम पतन की ओर धीरे-धीरे बढ़ने लगते हैं।

पं. पद्मसिंह शर्मा को अपनी भूल का अहसास बहुत देर से होता है— ‘यदि मैं उसे घर से निकाल न दिया होता तो इस भांति उसका पतन न होता, मेरे यहाँ से निकलकर उसे और कोई ठिकाना न रहा और कुछ क्रोध और नैराश्य की अवस्था में वह भीषण अभिनय करने पर बाध्य हुई।’ सुमन के पिता दरोगा कृष्णचंद्र ने आजीवन ईमानदारी से नौकरी की। बेटी के ब्याह के लिए रिश्वत लेते समय उनके मन में द्वन्द्व चलता है— ‘वह सोचते थे, यदि यही करना था तो आज से २५ साल पहले ही क्यों नहीं किया? अब तक सोने की दीवार खड़ी कर दी होती। इलाके ले लिए होते। इतने दिनों तक त्याग का आनंद

उठाने के बाद बुढ़ापे में यह कलंक। पर मन कहता था, ‘इसमें तुम्हारा क्या अपराध? तुमसे जब तक निभ सका निबाहा। भोग-विलास के पीछे अधर्म नहीं किया। लेकिन जब देश, काल, प्रथा, अपने बंधुओं का लोभ, तुम्हें कुमार्ग की ओर ले जा रहा है तो तुम्हारा क्या दोष? तुम्हारी आत्मा अब भी पवित्र है।’

‘सेवासदन’ सन् 1918 में प्रकाशित हुआ। इसमें समकालीनता का तत्त्व विद्यमान है। अंग्रेजों का शासन था, इसलिए तथाकथित धनी सम्पन्न तथा समाज सुधारक सरकार के कोपभाजन नहीं बनना चाहते थे। मन में प्रतिष्ठा की चाह थी लेकिन समाज सुधार की दिशा में ऐसा कुछ नहीं करना चाहते थे, जिससे उन्हें मुसीबत में पड़ना पड़े। अंग्रेजी भाषा को ‘लिंगुआ फ्रेंका’ मानने वालों की संख्या बढ़ रही थी, लेकिन हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं के पक्षधर भी कम नहीं थे। वे अंग्रेजी के प्रयोग को किसी अंग्रेज के उतरे कपड़े पहनने के समान मानते थे। चालीसवें प्रकरण में थियोसफी आंदोलन का जिक्र है। सवारी के रूप में घोड़ा, फिटन और पैरगाड़ी (साइकिल) का जिक्र है। बरात में वेश्या का नाच रखना रईसी की निशानी माना जाता था।

‘सेवासदन’ के पात्र दिखावटी मूल्यों और थोथे आदर्शों से जकड़े हुए हैं। वे सही समय पर सही निर्णय नहीं ले पाते। समय गुजर जाने पर पछताते और सिर धुनते हैं। पं. पद्मसिंह शर्मा सुमन के पतन के कारण से अनभिज्ञ न होते हुए भी साहसपूर्वक उसका पक्ष रखने में समर्थ नहीं हैं। शांता और सदन के ब्याह को सम्पन्न कराने के लिए वे भाई का रोष झेलने का साहस नहीं जुटा पाते और दबू बने रहते हैं। भाई के लड़के सदन को वे शिक्षित करना चाहते हैं लेकिन उसकी गतिविधियों की जानकारी रखना वे जरूरी नहीं समझते। उसकी हर जिद वे पूरी करते जाते हैं। सदन के पिता मदन सिंह ने भी शहर आकर अपने बेटे का प्रत्यक्ष हालचाल लेना जरूरी नहीं समझा। संभवतः लेखक की यही मंशा है ताकि उपन्यास मनचाहे रूप से आगे बढ़ सके।

प्रेमचंद एक प्रसंग में किसानों के यहाँ आकर इश्क फरमाने वाले समाज के तथाकथित उच्चभ्रू रंगे सियारों की

अच्छी मिट्टी पलीद की है। सुमन दालमंडी का अपना कोठा हमेशा के लिए छोड़कर आश्रम में जाने वाली है। विट्ठलदास उसे ले जाने के लिए आए हैं। उन्हें वह छत पर भेज देती है। उसे आज अपने प्रेमियों से विदा लेनी है। वह उनके साथ क्रीड़ा करना चाहती है। उसने सिगरेट की एक डिब्बिया मंगाई और वारनिश की एक बोतल मंगाकर ताक पर रख दी। एक कुरसी का एक पाया तोड़कर कुरसी छज्जे पर दीवार के सहारे खड़ी की दी। सर्वप्रथम मुंशी अबुलवफा आए। सुमन ने तिली जलाकर सिगरेट सुलगाने के बदले उनकी दाढ़ी सुलगा दी। अधजली दाढ़ी के साथ मुंशी जी शर्माते हुए बाहर निकले। इसके बाद सेठ चिम्मनलाल आए। तीन टाँग की कुर्सी पर बैठने से वे मुँह के बल गिरे। इसके बाद पं. दीनानाथ सुमन की शरारत से वारनिश में नहा उठे। सुमन की इस शरारत का खुलासा प्रेमचंद इस प्रकार करते हैं- 'जिस प्रकार अंधकार के बाद अरुण का उदय होते ही पक्षी कलरव करने लगते हैं और बछड़े किलोले में मग्न हो जाते हैं, उसी प्रकार सुमन के

मन में भी क्रीड़ा करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई।' 'गोदान' में भी प्रेमचंद ने पीड़क, शोषक पात्रों की इसी तरह दुर्गति की है।

'सेवासदन' प्रेमचंद के क्रांतिकारी उपन्यासों की शृंखला की प्रथम महत्वपूर्ण कड़ी है। हम इसे वेश्या-समस्या पर केन्द्रित उपन्यास कहकर उसके दायरे को संकुचित कर देते हैं। वस्तुतः 'सेवासदन' में समाज में व्याप्त धार्मिक परंपराओं द्वारा पोषित उन मूल्यों से मुक्ति का संदेश दिया गया है, जिन्होंने नारी को पुरुष के समकक्ष बने रहकर अपनी उन्नति हेतु प्रयास के मार्ग में कांटे बो रखे थे। आज भारतीय नारी 'सेवासदन' से बहुत आगे तो चली आई है लेकिन बलात्कारियों से उनकी रक्षा करने में स्वतंत्र भारत का कानून भी असहाय सिद्ध हो रहा है। वेश्यालाओं के नए रूपाकार नए मुखौटों में दिखाई दे रहे हैं। आज नारी के समक्ष नई चुनौतियाँ हैं। हमें उम्मीद है कि वह हार मानकर बैठ नहीं जायेगी वरन् साहस के साथ उनका मुकाबला करेगी।

#### संपर्क :

46, लालित्य, पठान ले-आऊट  
रिंग रोड, नागपुर (महाराष्ट्र), पिन- 440022, मो. 09422148067

## मैला आँचल: व्यक्ति, समय और समाज

डॉ. छोटेलाल बहरदार

राष्ट्रपति पुरस्कृत,

पूर्व प्राचार्य बी.बी.एस. पूर्णिया

फणीश्वरनाथ रेणु मूलतः एक यथार्थवादी कथाकार रहे हैं। उनका वर्ण्य-विषय कभी कल्पना की दुनिया में सुगन्धि बिखेरने वाला आकाश-कुसुम नहीं रहा और न यथार्थ से दूर हटकर 'निर्जन सागर लहरी' द्वारा 'अम्बर के कानों' में प्रेमकथा कहने-सुनने की चाहत। रेणु ने एक क्षेत्र विशेष का चित्रण किया है और यदि अतिशयोक्ति न हो तो उस क्षेत्र के व्यक्ति, समाज और संस्कृति का पूरी समग्रता के साथ किया है। वह क्षेत्र कौन सा है, इसका खुलासा उन्होंने स्वयं 'मैला आँचल' की भूमिका में किया है। "यह है 'मैला आँचल' एक आँचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया। पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला है, इसके एक ओर है नेपाल, दूसरी ओर पाकिस्तान और पश्चिम बंगाल। विभिन्न सीमा रेखाओं से इसकी बनावट मुकल्लम हो जाती है जब हम दक्खिन में संथाल परगना और पश्चिम में मिथिला की सीमा रेखाएँ खींच देते हैं। मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गाँव को- पिछड़े गाँव का प्रतीक मानकर इस उपन्यास का कथाक्षेत्र बनाया है।' रेणुजी ने एक खास अंचल को ही प्रमुख मानकर उसकी सारी विशेषताओं एवं कमियों को दिखाने का सफल प्रयास किया है। सम्भवतः, 'अँचल' की प्रधानता के कारण ही उन्होंने इसे आँचलिक उपन्यास कहा है जिसे बाद के सारे आलोचकों एवं लेखकों ने चाहे-अनचाहे स्वीकृति प्रदान कर दी है। रेणुजी द्वारा वर्णित क्षेत्र-विशेष की सीमा रेखा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है परन्तु उपन्यास-रचना के बाद के राजनीतिक निर्णयों के कारण कुछ नाम अवश्य बदल गये हैं। रेणुजी का उक्त अँचल पहले पूर्णिया जिले में था पर अब अररिया नामक नया जिला बन जाने के कारण अररिया जिले में है। एक सीमा पर अवस्थित पहले का पूर्वी पाकिस्तान अब बांग्लादेश बन गया है। रेणु जी ने इस क्षेत्र विशेष को ही अपने प्रमुख उपन्यास का यानि 'मैला आँचल' का वर्ण्य-विषय बनाया है। अनेक कहानियों में भी इसी क्षेत्र-विशेष को दर्शाया गया है। कहना चाहिए कि रेणु की ख्याति जिन उपन्यासों और कहानियों पर टिकी है, उन सबका वर्ण्य-विषय यही अँचल है, इसी के लोग हैं, इसी का समाज है। 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफ़ाम' जैसी अमर कहानी का भी उपजीव्य यही अँचल है। इसलिए, रेणु के साहित्य में समाज, व्यक्ति तथा संस्कृति तीनों का बड़ा ही सही, सटीक और सार्थक वर्णन हुआ है।

रेणु न केवल एक महान कथाकार रहे हैं, वरन् उनका सम्पूर्ण जीवन ही दमन और शोषण के विरुद्ध संघर्ष में बीता है। व्यक्ति और समाज के उत्थान के लिए उन्होंने न केवल कलम उठाई बल्कि राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे। फलस्वरूप लंबे समय तक कारावास और भागदौड़ की जिंदगी को अंगीकार करना पड़ा। "रेणु जी ने अपने कर्म के द्वारा तथा ज्ञान का साहित्य में उपयोग करके सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्य को सर्वाधिक प्राथमिकता दी है। समाज व्यक्ति के विचार एवं व्यक्तित्व का निर्माण करता है तो व्यक्ति भी अपने कर्म के द्वारा समाज को नई दिशा देता है। रेणु की सतत् जागरूकता एवं कर्मलीनता ने समाज की इतनी सेवा की है कि उनका सम्पूर्ण साहित्य समाजशास्त्रीय अध्ययन की माँग

करता है। कहना व्यर्थ है कि उनके सभी उपन्यास उनके सामाजिक उत्थान एवं पुनर्निर्माण के जीवन्त प्रतीक ही नहीं, पुष्ट प्रमाण बन गए हैं। चाहे वह सामाजिक सह-अस्तित्व का प्रश्न हो या राजनीतिक जागरूकता का, चाहे सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का प्रश्न हो या आर्थिक जीवनधारा का, रेणु का साहित्य हर क्षेत्र में समाज की सही रूपरेखा ही प्रस्तुत नहीं करता बल्कि निरंतर विकसनशील धारा को भी दर्शाता है।

विजय कुमार लाल के अनुसार भारतीय समाज की निम्नांकित विशेषताएँ हैं- “पुरुषार्थ, ऋण एवं यज्ञ, कर्म एवं पुनर्जन्म का महत्त्व, संस्कार, वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, संयुक्त परिवार प्रणाली, विवाह का धार्मिक आधार, त्याग एवं परोपकार, धर्म की प्रधानता, विभिन्नता में एकता तथा प्राचीनता एवं स्थायित्व।” इनमें से कुछ सांस्कृतिक एवं धार्मिक विशेषताएँ हैं। मैला आँचल में रेणु ने अनेक प्रेम संबंधों को दिखाया है लेकिन कोई भी प्रेम विवाह की मंजिल तक नहीं पहुँच पाया है।

सबसे पहले उन्होंने महन्थ सेवादास और लछमी दासिन के बीच प्रेम को दिखाया है। वस्तुतः यह प्रेम का मामला कम, शारीरिक सुख और बलात्कार का मामला अधिक है। महन्थ सेवादास वृद्ध हैं और इस उम्र में उन्हें लछमी नाम की लड़की दासिन के रूप में मिली है। दोनों में उम्र का बहुत बड़ा अन्तर है। परिणामतः लछमी कभी सेवादास को हृदय से नहीं चाहती लेकिन सेवादास का एकतरफा प्रेम उसके ऊपर बरसता है- ‘जो भी हो, संसार में सबसे बढ़कर लछमी को ही प्यार करते थे महन्थ साहेब। चढ़ती जवानी में सतगुरु साहेब की दया से माया को जीतकर ब्रह्मचारी रहे। बुढ़ाई में आदमी की इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, माया के प्रबल घात को नहीं संभाल सकती हैं। इसीलिए तो साधू-ब्रह्मचारी लोग बुढ़ापे में ही माया के वश में हो जाते हैं। महन्थ सेवादास भी स्वयं पर नियंत्रण नहीं रख सके लेकिन लछमी कभी महन्थ को प्यार नहीं कर पाई बल्कि उनके द्वारा किए गये शारीरिक उत्पीड़न से घृणा करती रही। रात में सेवादास लछमी को बुलाते हैं तो वह कहती है- ‘उस दिन बीजक छूकर कसम खाए थे और फिर पुकारने लगे। सद्गुरु हो, तुम्हारी बुलाहट कब होगी ?

बुला लो सद्गुरु अपनी दासी को।’

लेकिन, लछमी दासिन महन्थ सेवादास के रहते ही बालदेव की ओर आकृष्ट होती है और उनकी मृत्यु के बाद न केवल बालदेव से शारीरिक संबंध बनाती है बल्कि उसके साथ अपना घर भी बसा लेती है लेकिन दोनों अंत तक विवाह नहीं करते। यहाँ पर लछमी का प्रेम एकतरफा नहीं है बल्कि बालदेव उससे प्रेम करने लगता है- ‘निगाहें ऊपर उठीं और लछमी की बड़ी-बड़ी आँखों में वह खो गया.... आँखों में समा गया बालदेव शायद।’ लेकिन इन दोनों के बीच का प्रेम भी एक आत्मिक प्रेम नहीं रह पाता। साधू-स्वभाव वाले तथा महात्मा गाँधी के प्रबल भक्त भी स्वयं को नहीं संभाल पाते। और अंत तक लछमी मठ से अलग होकर बालदेव के साथ नए घर में रहने लगती है लेकिन दोनों का विवाह नहीं होता। रेणु ने स्त्री-पुरुष के प्रेम संबंधों को अधिकांश स्थलों पर कामासक्ति प्रसूत बताया है। इसी तरह का प्रेम-संबंध कालीचरण और मंगला के बीच भी पनपता है पर अन्ततः उसका भी अन्त शारीरिक मिलन में ही होता है, विवाह में नहीं।

‘मैला आँचल’ में सबसे लंबा प्रसंग डॉक्टर प्रशांत और कमली का है। कमली की बेहोशी की बीमारी का ईलाज डॉ. प्रशांत करता है परंतु दोनों एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। कमली मन-ही-मन सोचती है- ‘तुम मुझे जलाने के लिए इस गाँव में क्यों आए ? नहीं...नहीं...तुम आते नहीं तो पागल हो जाती।..... मेरी आँखों की पिपनियाँ उलट कर देखो, मेरी पीठ पर आला लगाकर देखो, मेरे दिल की बात सुनो।.... तुम्हारी बोली क्या कम मीठी है ?’ एक स्थल पर डाक्टर कमली की ‘नल-दमयन्ती’ पुस्तक को हाथ में लेकर देखता है। ‘अस्याधिकारिणी कुमारी कमली देवी। दूसरी जगह कुमारी को काट दिया गया है और नाम के अंत में बनर्जी जोड़ा दिया गया है- कमला देवी बनर्जी।.... नल के नीचे नीली पेंसिल से लिखा है ‘प्रशांत’ और दमयन्ती के नीचे लाल पेंसिल से कमला।’ आखिर डॉक्टर भी कमला को चाहने लगता है और एक दिन उसे घुमाने के लिए अपनी डिसपेंसरी ले जाता है। शाम रात में ढलने लगती है और ‘डॉक्टर देवता नहीं, आदमी बनना चाहता है।’ ‘माँ फिसफिसा कर कहती है-

कमली ने... कमली ने तो आँचल में दाग लगवा लिया।' कमली का प्रेम अटूट है, विश्वास अटल है। अन्ततः डॉक्टर प्रशांत आता है और कमली को अंगीकार कर लेता है। वह अपने पुत्र नीलोत्पल को भी स्वीकार कर लेता है। फिर भी दोनों का विधिवत विवाह कभी नहीं होता।

रेणु ने इस तरह के अनेक अवैध नर-नारी के संबंधों को दिखाया है। फुलिया बाल विधवा है लेकिन उसका अवैध संबंध सहदेव मिसर से है। वह खलासी को भी शरीर सुख देकर खुश करती है। मठ का नया महन्थ रामदास भी शरीर सुख पाने के लिए बेचैन है। इसके लिए वह एक दिन लछमी का हाथ भी पकड़ लेता है पर प्रबल प्रतिरोध के सामने कुछ कर नहीं पाता। अन्ततः वह रमपियरिया को दासिन बना लेता है जिसके मठ की सारी बाहरी पवित्रता भी समाप्त हो जाती है। लरसिंघ दास और नागा बाबा भी इस सुख की तलाश में लछमी को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं परन्तु विफल रहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि रेणु का नर-नारी संबंध भाव फ्रायड से पूरी तरह प्रभावित है।

पूरी पुस्तक में एकमात्र डब्ल्यू. जी. मार्टिन का अपनी मेरी के प्रति प्रेम आदर्श प्रेम कहा जाएगा तथा सामाजिक दृष्टि से वैध भी। मेरी मार्टिन की पत्नी है और वह उसे बहुत चाहता है। चाहने की ऊँचाई यह है कि जब मेरी असमय मर जाती है तो मार्टिन उसके वियोग में पागल हो जाता है।

संपूर्ण उपन्यास में किसी पुरुष का स्त्री से विवाह नहीं होता। सकलदीप की शादी पहले ही हो चुकी है। उसका द्विरागमन होता है।

फुलिया बाल-विधवा है। सामाजिक दबाव के कारण वह दुश्चरित्रता के कारण उसका पुनर्विवाह या चुमौना खलासी के साथ होता है लेकिन वह उसे भी छोड़कर पैटमैन के साथ रहने लगती है। बीमारी होने के बाद पुनः खलासी ही उसे अपनाता है।

कमली का तीन बार विवाह तय होता है और तीनों बार वर-पक्ष के घर कोई-न-कोई दुर्घटना घटित हो जाती है। इसलिए उससे कोई विवाह करने के लिए राजी नहीं होता। लगता है कि ऐसी ही विपरीत परिस्थिति में डाक्टर प्रशांत

के साथ कमली को घूमने-फिरने तथा कुछ भी करने की छूट मिल जाती है। परिणामतः वह अनब्याही माँ बनती है और लोगों में प्रचार किया जाता है कि चुप-चुप ही गन्धर्व विवाह हो गया था दोनों का। 'तुम लोग तो जानते हो! पाँच पंच को जानकर जब-जब शादी की, बात पक्की हुई, एक-न-एक विघ्न पड़ गया। इसीलिए कासी के पंडितों ने गन्धर्व विवाह कराने को कहा। गन्धर्व विवाह की बात किसी को मालूम नहीं होने दी जाती है। यदि बच्चा हो तो सबसे पहले बाप उसको देखेगा तब और लोग....।' लेकिन, वस्तुतः कोई विवाह नहीं होता। इसलिए गाँववालों की प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं है। ब्राह्मण टोली के पुरोहित देवानंद झा ने लोगों से कहा- 'अंग्रेजी फैशन वालों का सात खून माफ है।' और खेलावन यादव ने कहा- 'पैसा वाला अधरम भी करेगा तो धरम ही होगा।'

'मैला आँचल' उपन्यास में कुछ विधवाएँ भी हैं। एक विधवा है मायजी जो 'रामकिसून बाबू' की पत्नी है। दोनों स्वतंत्रता सेनानी हैं। जब तक रामकिसून बाबू जीवित रहे, मायजी सदा उनका साथ देती रही- देश सेवा में लेकिन बुखार के कारण एक दिन रामकिसून बाबू का स्वर्गवास हो जाता है और मायजी फूट-फूटकर रोने लगती है- 'हे भगवान! उस दिन मायजी की ओर कौन देख सकता था। देखने की हिम्मत नहीं होती थी। मायजी का उस दिन का रूप.... गंगा रे जमुनवा की धार नैनवां से नीर बही।' एक सफल दाम्पत्य जीवन जीने वाली मायजी विधवा होने के बाद एकदम कारुणिक हो जाती हैं। एक पढ़ी-लिखी जाग्रत महिला भी पति के न रहने से एकदम करुणा की प्रतिमा बन जाती है।

इस उपन्यास की दूसरी विधवा औरत है फुलिया। तंत्रिमा जाति की है और गरीब है। उसकी गरीबी और जवानी का लाभ उठाते हैं सहदेव मिसर। इसका चरित्र ठीक नहीं है। वह खलासी के साथ चुमौना करने के बाद भी पैटमैन के साथ रहने लगती है। फैशन और दिखावा पसन्द यह औरत भोगवादी मनोवृत्ति की है। वस्तुतः इसका विधवा रूप कभी करुणा नहीं पैदा कर पाता। रमजू दास की स्त्री कहती है- 'मानती हूँ कि जवान बेवा बेटी दुधार गाय के बराबर है। मगर इतना मत दूहो कि देह का खून ही

सूख जाए।' एक विधवा नारी है मौसी, जिसकी डायन समझकर हत्या कर दी जाती है। विधवा नारी का कोई रखवाला नहीं होता, इसलिए उस पर किसी तरह का अत्याचार किया जाता है।

स्त्री-पुरुष युक्त जिस समाज को रेणु ने दिखाया है, उसमें प्रधानता पुरुष की ही है, स्त्री की नहीं। सच बात तो यह है कि पुरुष उसे गुलाम की तरह प्रयोग में लाता है और जैसा चाहता है, भोगता है। पूरे उपन्यास में एक भी नारी ऐसी नहीं है जो मर्द की बराबरी कर सकती हो, चाहे वह लछमी दासिन हो या चरखा सेंटर वाली मंगला। कमली भी अंधविश्वास की मारी एक अभागिन नारी है जिसे कुँवारी माँ बनना पड़ता है। यह तो उसके पिता विसनाथ प्रसाद के पैसे की ताकत है और पिता की इकलौती संतान होने का फल है कि समाज उसे दंड नहीं देता। गाँव में जब संथाल के साथ जमींदारों का संघर्ष होता है तो बेचारी संथालियों के साथ भयंकर बलात्कार-कांड घटित होता है- 'एकदम फिरी आजादी है, जो जी में आए करो। बूढ़ी, जवान, बच्ची जो मिले। आजादी है। कोई परवाह नहीं।... कोहराम मचा हुआ है पाट के खेतों में, कोठी के जंगल में। समाज में पुरुषों का दृष्टिकोण नारी के प्रति क्या है, इसका खुलासा चरखा सेंटर की मंगला देवी करती है क्योंकि आदमी के अंदर पशु को उसने बहुत बार करीब से देखा है। विधवा-आश्रम, अबला-आश्रम और बड़े बाबुओं के घर आया की जिन्दगी उसने बिताई है। अबला नारी हर जगह अबला ही है। रूप और जवानी?... नहीं यह भी गलत। औरत होना चाहिए, रूप और उम्र की कोई कैद नहीं। एक असहाय औरत देवता के संरक्षण में भी सुख-चैन से नहीं सो सकती।'।

पूरे उपन्यास में एकमात्र शिक्षा प्राप्त ममता है जो सदा पुरुष के बराबर चलती है। लेकिन, उसके भाग्य की विडंबना यह है कि वह चाहकर भी प्रशान्त को प्राप्त नहीं कर पाती। फिर भी दोनों की मित्रता बराबर रहती है। उपन्यास में हर पति अपनी पत्नी को डाँटता है, जब भी ऐसा अवसर आता है। मंगला देवी अन्य पुरुषों के प्रति थोड़ी-बहुत विद्रोही तेवर अपनाती है लेकिन अन्ततः वह भी कालीचरण को प्राप्त करने में विफल हो जाती है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि 'मैला आँचल' में रेणु ने व्यक्ति के रूप में पुरुष को ही प्रधान बताया है और नारी को पूरी तरह आश्रित और अबला दिखाया है। 'ये उपन्यास नारी की पराधीनता का अन्धकारतम पक्ष प्रस्तुत करता है।

संयुक्त परिवार सदैव से भारतीय समाज और संस्कृति के मूल आधार रहे हैं। आज स्वतंत्रता में वृद्धि होने से अधिकांश व्यक्ति संयुक्त परिवारों के पक्ष में नहीं हैं जिसके फलस्वरूप एकाकी परिवारों की संख्या में तेजी से वृद्धि होती जा रही है।' वस्तुतः 'परिवार-पति-पत्नी, बच्चों तथा निकट संबंधियों का अपेक्षाकृत एक स्थायी संगठन है जिसे विवाह, सन्तानोत्पत्ति और वंशनाम के आधार पर व्यवस्थित रखा जाता है।' बर्जेस और लॉक ने परिवार की परिभाषा देते हुए बताया है कि 'परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के संबंधों द्वारा संगठित है, एक छोटी-सी गृहस्थी का निर्माण करते हैं और पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई तथा बहन के रूप में एक-दूसरे से अन्तर्क्रिया करते तथा एक सामान्य संस्कृति का निर्माण तथा देख-रेख करते हैं।'।

रेणु का 'मैला आँचल' जिस कालखण्ड को चित्रित करता है, उस समय भारत स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ रहा था। बाद में, इसे स्वतंत्रता की प्राप्ति भी हो गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही हिंदू-मुस्लिम दंगे हुए, महात्मा गाँधी की हत्या हुई तथा देश में नई सरकार का गठन हुआ। इस तरह, स्वतंत्रता-पूर्व और स्वतंत्रता पश्चात् दोनों कालों के परिदृश्य को संक्षिप्त रूप में इस उपन्यास में दिखाया गया है।

'मैला आँचल' में रेणु जी ने परिवार के जिस रूप को दिखाया है, वह संयुक्त परिवार का रूप है। चाहे वह तहसीलदार विसनाथ प्रसाद का परिवार हो या खेलावन यादव का, चाहे रामकिरणपाल सिंह का परिवार हो या जोतखी का; सभी संयुक्त परिवार में ही रहते हैं। खेलावन यादव ने दूर के रिश्तेदार बालदेव को भी अपने घर का सदस्य बना लिया है लेकिन जैसे ही उसे लगा कि बालदेव अब उसके लिए अनुपयोगी साबित हो गया है, परिवार से निकाल दिया। जोतखी जी का पुत्र पिता की बात नहीं मानता और उनकी इच्छा के विरुद्ध 'विदापत नाच' करता है, जिससे वे दुखी हैं परंतु संयुक्त परिवार इससे विखंडित नहीं होता।

तहसीलदार साहब की बेटी की जब तीन जगह शादी लगकर भी नहीं हो पाती तो अन्ततः डॉक्टर प्रशांत और कमली का अवैध संबंध हो जाता है और कमली गर्भवती हो जाती है। संयुक्त परिवार का ढाँचा इतना मजबूत है कि विसनाथ प्रसाद नाराज होकर भी कमली को घर से निकाल नहीं देते बल्कि बाद में डॉक्टर प्रशांत को भी स्वीकार कर लेते हैं, डाक्टर प्रशांत कमली और अपने नवजात पुत्र कुमार नीलोत्पल को लेकर पटना जाना चाहते हैं, एक नया परिवार बसाने।

बालदेव जी ने कोठारिन लछमी दासिन को बिना ब्याहे ही पत्नी बना लिया है और एक साथ रहने लगे हैं लेकिन उन्हें हरदम अपनी पत्नी के चरित्र पर संदेह होता है। जब वे पूर्णिया गए थे तो पीछे कासी के विद्यार्थी जी आए थे। यह जानकर उनके संदेह का नाग फुँफकार उठता है— ‘क्यों? ओसारे पर क्यों थे? घर में क्यों नहीं बैठते हैं विद्यार्थी जी? सूने घर में जैसा घर, वैसा ओसारा।’ ‘विद्यार्थी जी आते हैं सत्संग करने के लिए...।’

“हाँ, हाँ। खूब समझते हैं। सत्संग। हूँ... सत्संग।’ लेकिन अन्ततः यह परिवार भी टूटता नहीं है। बालदेव चन्ननपट्टी जाने की धमकी अवश्य देते हैं पर लछमी के क्षमा माँगने पर ठंडा पड़ जाते हैं— “लेकिन तुमको खुद समझना चाहिए के तुम अब मठ की कोठारिन नहीं, मेरी इसतरी हो।’

सदस्यों के संख्या के आधार पर एकाकी परिवार, विवाह संबंधी परिवार तथा संयुक्त परिवार होते हैं। विवाह संबंधी परिवार में पति-पत्नी, जन्म लेने वाले बच्चे तथा पत्नी पक्ष के कुछ दूसरे लोग भी होते हैं। संयुक्त परिवार की परिभाषा देते हुए डॉ. दूबे ने लिखा है— ‘यदि अनेक एकाकी परिवार एक साथ रहते हैं, उनमें निकटता का संबंध हो, वे एक ही स्थान पर भोजन करते हों तथा एक ही आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों तब ऐसे सम्मिलित परिवारों को संयुक्त परिवार कहा जाता है।’ इस दृष्टि से रेणु के ‘मैला आँचल’ में सारे-के-सारे संयुक्त परिवार के ही उदाहरण हैं जो कि भारतीय समाज की विशेषता है। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से संयुक्त परिवार में विखंडन का जो दौर आज प्रारंभ हुआ है, यह

उस समय प्रचलन में नहीं आया था। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, एकाकी परिवार का एकमात्र उदाहरण डॉक्टर प्रशांत अपनी पत्नी कमली तथा पुत्र नीलोत्पल के साथ प्रस्तुत करने जा रहा है लेकिन वह भी केवल तैयारी में है।

सत्ता तथा वंशनाम के आधार पर, मातृसत्तात्मक परिवार तथा पितृसत्तात्मक दो तरह के परिवार होते हैं। रेणु ने ‘मैला आँचल’ में पितृसत्तात्मक परिवार को ही दिखाया है। हर परिवार का मुखिया पुरुष है तथा पुरुष के नाम से ही वंश चलता है। डॉक्टर प्रशांत को अपने पिता के वास्तविक नाम का पता नहीं है फिर भी उसे एक स्नेह-दान वाले व्यक्ति को पिता बनाना पड़ता है।

विवाह के आधार पर एक ही विवाही परिवार, बहुपति विवाही परिवार तथा बहुपत्नी विवाही परिवार होते हैं। ‘मैला आँचल’ में प्रमुखता एक विवाही परिवार की ही है। तहसीलदार विसनाथ प्रसाद, रामकिंकर पाल सिंघ तथा खेलावन यादव तीनों एक विवाही परिवार के उदाहरण हैं। बहुपति विवाही परिवार फुलिया का है जो कभी खलासी के घर चुमौना कर रहती है तो कभी पैटमैन के साथ घर बसाती है। छोटी जाति की अनेक औरतों का अवैध संबंध कई पुरुषों से है पर वे उनके साथ घर नहीं बसातीं। यही स्थिति कोठारिन लछमी दासिन की भी है। इसलिए, ये बहुपति विवाही परिवार के उदाहरण नहीं हैं। बहुपत्नी विवाही परिवार केवल जोतखी जी का है जिन्होंने तीन विवाह किए हैं। क्रमशः पत्नी की मृत्यु होती गई और नई शादी करते गए।

साहित्य और समाज में क्या संबंध है, इसकी विशद् एवं स्पष्ट व्याख्या करते हुए आलोक भट्टाचार्य लिखते हैं— ‘विचारधारा कभी स्वतंत्र नहीं हो सकती। विचारधारा का कोई स्वतंत्र इतिहास नहीं होता है। अतः लेखक की प्रतिभा यानी उसकी संवेदनशीलता, भावबोध और चेतना, उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा और उसकी विचारधारा, सभी का गहरा रिश्ता समाज से होता है। इसी रिश्ते को पहचानने की कोशिश साहित्य का समाजशास्त्र है। यह हमें बताता है कि साहित्य के मूल्यांकन के प्रतिमानों की खोज हमें साहित्य के भीतर नहीं, समाज की आर्थिक-राजनीतिक

स्थितियों के भीतर करनी चाहिए। यह हमें बताता है कि रचना अपने-आप में कितना ही शब्द-सौंदर्य, पद-लालित्य, भाव-सौष्ठव क्यों न लिए हो, जब तक वह समाज के हित में नहीं होगा, साहित्य नहीं होगा। अपने तमाम रूप-रस-भाव-सौंदर्य के बावजूद जब तक लेखक समाज के हित में, समाज के विकास में, समाज में वर्तमान स्थितियों के अध्ययन में, समाज की समस्याओं से जूझने के काम में नहीं आएगा, तब तक वह साहित्य नहीं कहलाया जा सकेगा। समाज से साहित्य के इसी सरोकार का अध्ययन साहित्य का समाजशास्त्र करता है। स्पष्ट है कि साहित्य के सृजन में समाज का बहुमूल्य योग होता है और श्रेष्ठ साहित्य में समाज की तस्वीर अभिव्यक्ति होती है। यदि सम्पूर्ण साहित्य की बात छोड़ भी दें और अपने शोध-विषय को ध्यान में रखते हुए उपन्यास से समाज के रिश्ते को जांचना-परखना चाहें तो तो डॉ. सुरेन्द्र प्रसाद साह का यह कथन बहुत सही प्रतीत होता है- “एक जागरूक उपन्यासकार समाज में घटित होते परिवर्तन के दौर को बहुत सूक्ष्मता से देखता और परखता है, साथ ही, चाहे-अनचाहे उससे प्रभावित भी होता रहता है। इसलिए, समाज से पूर्णतया कटकर किसी उपन्यास की रचना हो ही नहीं सकती। तथ्य यह है कि कोई भी उपन्यासकार समाज में घटी घटनाओं को ही अपने अनुभव की भट्टी में पका कर और आवश्यक बुद्धि के द्वारा सजाकर प्रस्तुत करता है। इसलिए, कहा जाना चाहिए कि उपन्यासकार की धारणा, जीवन-दृष्टि तथा सोच पर समाज या सामाजिक घटना का प्रभाव निर्विवाद होता है।”

रेणु ने अपने ‘मैला आँचल’ में समाज के तत्कालीन तथा बदलते रूप को बहुत ही प्रभावोत्पादक तथा स्पष्ट रूप से दिखाया है। उन्होंने जिस भारतीय समाज को अपना वर्ण्य-विषय बनाया है, उसमें जाति-पाँति का भेदभाव, छुआछूत, ऊँच-नीच का भेद आदि तो है ही, साथ ही आपसी सहयोग, सामूहिक खान-पान तथा वैचारिक एकता भी है। इनके अलावा जाति-पाँति तथा अस्पृश्यता की टूटती दीवार, सोच में परिवर्तन आदि को दिखाया है। इससे यह बात समझने में आसानी भी है कि किस प्रकार भारतीय समाज की सोच में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है और उसकी

दिशा संकीर्णता से विशालता की ओर अग्रसर हुई है।

मेरीगंज में विभिन्न टोलों के नाम भी जाति के आधार पर ही हैं। राजपूत टोली, गुजर टोली, या यादव टोली, ततमा टोली, कायस्थ टोली आदि नाम यह बताते हैं कि गाँव में जाति भावना कितनी प्रबल है- ‘यह सब गुजर टोली की बलिया की बदौलत हो रहा है।.... मालिक टोले से यह खबर राजपूत टोली पहुँची- कायस्थ टोली के विश्वनाथ प्रसाद और ततमा टोली के बिरंजी को मलेटरी के सिपाही पकड़ ले गये हैं।’ जातीय-भावना को बढ़ावा देने की चेष्टा भी वहाँ खुलकर होती है। खेलावन यादव बालदेव से कहते हैं- ‘जात का नाम जात की इज्जत तो तुम्हीं लोगों के हाथ में है। तुम कोई पराये हो।’ रेणु जी ने जाति संबंधी धारणा को डाक्टर प्रशांत के माध्यम से स्पष्ट करवाते हुए लिखा है- ‘डाक्टर प्रशांत कुमार! जात?... नाम पूछने के बाद ही यहाँ लोग पूछते हैं- जात? जीवन में बहुत कम लोगों ने प्रशांत से अपनी जाति के बारे में पूछा है। लेकिन यहाँ तो हर आदमी जाति पूछता है।... जाति बहुत बड़ी चीज है। जात-पात नहीं मानने वालों की भी जाति होती है। सिर्फ हिंदू कहने से पिंड नहीं छूट सकता। ब्राह्मण हैं?... कौन ब्राह्मण! गोत्र क्या है? मूल कौन है?... शहर में कोई किसी से जात नहीं पूछता। शहर के लोगों को जाति की क्या ठिकाना! लेकिन गाँव में तो बिना जाति के आपको नहीं चल सकता।

जाति-भेद के कारण समाज में एक दूसरी बुराई ने भी जड़ जमा लिया है, वह है अस्पृश्यता। तथाकथित ऊँची जाति के लोग निम्न जाति के लोगों के साथ भोजन नहीं सकते, उनके हाथ का छुआ पानी तक नहीं पी सकते। मठ के महन्थ ने सारे गाँव को भोज देना चाहा तो- ‘बाभनों ने तो साफ इंकार कर दिया है। यदि बाभनों के लिए अलग प्रबंध नहीं हुआ तो सरब संघटन में नहीं खाएँगे।’ यह ऊँचा होने का भाव केवल ब्राह्मणों में ही नहीं है बल्कि राजपूतों में भी है- ‘हिबरन सिंघ का बेटा आकर कह गया है, ग्वाला लोगों के साथ एक पंगत में नहीं खाएँगे।’

जातिवाद ने लोगों के अंदर झूठा गर्व ला दिया है जिससे आपसी जातीय संघर्ष होते रहे हैं। रामकिरपाल सिंघ को उच्च जाति का बड़ा गर्व है- ‘भगवान ने शरीर



दिया है, उच्च जाति में जनम दिया है। इसी के बल पर बाबू-बबुआन, हाकिम-हुक्काम और अमला-फैला से हेलमेल हुआ, जान-पहचान हुई।' परिणामतः विभिन्न जातियों के लोगों के बीच मनमुटाव तथा आपसी रंजिश भी होती रही है- 'राजपूतों और कायस्थों में पुश्तैनी मनमुटाव और झगड़े होते आए हैं। ब्राह्मणों की संख्या कम है, इसलिए वे हमेशा तीसरी शक्ति का कर्तव्य पूरा करते रहे हैं। अभी कुछ दिनों से यादवों के दल ने भी जोर पकड़ा है। जनेऊ लेने के बाद भी राजपूतों ने यदुवंशी क्षत्रिय को मान्यता नहीं दी। इसके विपरीत समय-समय पर यदुवंशियों के क्षत्रित्व को वे व्यंग्य-विद्रूप के बाणों से उभारते रहे।' कभी-कभी जाति के नाम पर लड़ने के लिए उकसाया भी जाता रहा है। ब्राह्मण टोली के बूढ़े ज्योतिषी जी आज भी कहते हैं- 'यह राजपूतों के चुप रहने का फल है कि आज चारों ओर हर जाति के लोग गले में जनेऊ लटकाये फिर रहे हैं। भूमफोड़ क्षत्री तो कभी नहीं सुना था।... शिव हो....शिव हो।' यहाँ तक कि जाति के अनुसार व्यक्ति कर्म भी निश्चित कर लिये गए हैं- 'गवाला होकर लीडरी...?' या 'मरा हुआ कायस्थ भी बिसाता है।' यहाँ तक कि न्याय-अन्याय का फैसला भी गाँव के लोग जातीय राजनीति के आधार पर करते हैं- 'राजपूतों ने यदि इस पंचायत में ब्राह्मणों का पक्ष नहीं लिया तो ब्राह्मण के लोग ग्वालों को राजपूत मान लेंगे।' इस प्रकार स्पष्ट है कि रेणु ने 'मैला आँचल' में जिस समाज का चित्रण किया है, उसमें जाति भावना लोगों के अंदर तक पैठी हुई है। इसी जाति प्रथा के कारण अस्पृश्यता भी फैली हुई है। तथाकथित ऊँची जाति के लोग नीची जाति के साथ बैठकर न तो भोजन कर सकते, न उनके हाथ का छुआ पानी पी सकते।

जाति का यह बंधन और अस्पृश्यता धीरे-धीरे टूट रही है- यह भी रेणु ने दिखाया है। तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद की बेटी कमली कायस्थ है लेकिन उसका 'गन्धर्व विवाह' जिस डाक्टर प्रशांत से हुआ है, उसकी जाति का कोई ठिकाना नहीं है। इस विवाह को न केवल विश्वनाथ प्रसाद सहर्ष स्वीकृति प्रदान करते हैं वरन् सारा समाज इसे उचित मान लेता है और पीठ-पीछे कुछ भी बोले पर सामने कोई विरोध नहीं करता। कालीचरण भी जिस मंगला

को प्यार करता है, उसकी जाति का कोई ठिकाना नहीं है। डॉक्टर प्रशांत तो जाति को मानता ही नहीं। एक नई सोच विकसित हो रही है- 'कालीचरण ने चमार टोली में भात खा लिया? जात क्या है! जात दो ही है, एक गरीब और दूसरा अमीर।... खेलावन को देखा, यादवों की ही जमीन हड़प रहा है।' जाति संघर्ष ने वर्ग-संघर्ष का रूप लेना शुरू कर दिया है। तथाकथित छोटी या नीच जाति के लोग अब उच्च जाति वालों का अन्ध सेवक बनकर या उनके द्वारा शोषित पीड़ित बनकर रहना चाहते। उनमें नई चेतना आई है। ब्राह्मण यदि किसी ततमा लड़की से अवैध संबंध रखता है तो उसे पकड़ कर भी पंचायत में बेइज्जत किया जाता है। ऊँची जाति के सभी लोग अमीर तथा छोटी जाति के सभी लोग गरीब- इस तरह अब यह जातीय भेद अमीर-गरीब जैसे दो वर्ग बन गए हैं और शोषितों ने अब उनके विरुद्ध बिगुल फूँक दिया है। तहसीलदार हरगौरी सिंह राजपूत हैं। वे विश्वनाथ प्रसाद से कहते हैं- 'काका! इस बार इज्जत बचा लीजिए। क्या आप यहीं चाहते हैं कि नाई, धोबी और चमार के सामने हम हाथ जोड़कर गिड़गिड़ावें?... कल से रामकिरणपाल काका के गुहाल में गाय मरी पड़ी है। चमार लोगों ने उठाने से इनकार कर दिया है। जीबेसरा चमार को लीडर आपने ही बनाया है...राजपूत टोले के लोगों को देखिए, दाढ़ी कितनी बड़ी- बड़ी हो गयी है। नाइयों ने काम करना बंद कर दिया है। इसी वर्ग-संघर्ष के कारण संथालों और राजपूत-कायस्थों के बीच भयंकर मारपीट हो जाती है जिसमें बहुत सारे लोग मारे जाते हैं। रेणु ने एक ओर समाज में टूटती हुई जाति-प्रथा को दिखाया है तो राजनीतिक लाभ पाने के लिए जातिवाद को बढ़ावा दिए जाने का भी संकेत दिया है। इस उपन्यास का एक आदर्श पात्र बावनदास है जो इस तरह की राजनीतिक विकृति, जो समाज में फैल रही है, से काफी दुखी है। वह कहता है- 'भूमिहार, राजपूत, कैथ, यादव, हरिजन, सब लड़ रहे हैं। अगले चुनाव में तिगुना मेले चुने जाएँगे। किसका (किस जाति का) आदमी ज्यादा चुना जाये, इसी की लड़ाई है।' एक जगह तो बावनदास सोचता है- 'अब लोगों को चाहिए कि अपनी-अपनी टोपी पर लिखवा लें- भूमिहार, राजपूत, कायस्थ, यादव, हरिजन।'

समाज में विभिन्न स्वार्थों की टकराहट होती ही रहती है। जातीय और वर्गीय संघर्ष भी होते रहते हैं लेकिन इन सबके बावजूद एक समाजिकता का भाव, आपसी सहयोग तथा मेल-मिलाप भी चलता रहता है। सामूहिक खान-पान भी होता है और सामूहिक मनोरंजन भी। पूरे उपन्यास में, पहली बार मठ के महन्थ के द्वारा पूरे गाँव को भोज दिया जाता है और दूसरी बार जमींदार विश्वनाथ प्रसाद द्वारा। दोनों सामूहिक खान-पान तथा भोज के बीच समय का लंबा अंतराल है। पहले भोज के अवसर पर जाति के नाम पर मतभेद ज्यादा दिखाई पड़ता है लेकिन दूसरे भोज के अवसर पर ऐसा कोई विवाद नहीं होता बल्कि सारे लोग बिना किसी शिकवा शिकायत के एक साथ भोजन खाते हैं। राजपूत रामकिरणपाल सिंह तथा खेलावन यादव में मनमुटाव है, नाराजगी है। आपसी प्रेम का आलम यह है कि रामकिरणपाल सिंह स्वयं खेलावन यादव को पकड़ लाते हैं और कहते हैं- 'तहसीलदार देखो। इसके पेट में वाय उखड़ गया है भोज खाने से पहले अनसर्जो हो गयी है। अरे भाई, औरतों की तरह रुठने से क्या फायदा! तुम्हीं कहो तहसीलदार, हम ठीक कहते हैं या नहीं। लड़ो-झगड़ो और फिर गले-गले मिलो।' राजपूत टोली के नौजवान लोग ग्वालों के साथ कुश्ती लड़ते हैं। रोज शाम को कीर्तन में भी जाने लगे हैं। जिन संथालों के साथ विश्वनाथ प्रसाद पाँच-पाँच बीघा जमीन मुफ्त दे रहे हैं- 'हरेक परिवार को पाँच बीघा की दर से जमीन में लौटा दूँगा। साँझ पड़ते-पड़ते मैं सब कागज-पत्तर ठीक कर लेता हूँ।... और संथाल टोली में जाकर कहो... वे लोग भी आकर रसीद ले जाएँ। एक पैसा सलामी या नजराना कुछ भी नहीं।''

इस तरह रेणु ने जिस समाज को चित्रित किया है, उसमें जाति-भेद, वर्ग-भेद, स्वार्थ की टकराहट, झूठा दर्प, अज्ञानता सब कुछ है पर विकास की एक सही दिशा भी है। जाति प्रथा धीरे-धीरे टूट रही है, लोगों के मिथ्याभिमान की दिवाल ढह रही है, आपसी प्रेम तथा भाईचारे की अन्तर्धारा बहने लगी है। यही भारतीय समाज की अद्भुत विशेषता है जहाँ विभिन्नताओं के बीच भी एक डोर है जो सबको बाँधे हुए हैं। यह डोर है- स्नेह, सहानुभूति, सहयोग और सह-अस्तित्व की, यह डोर है- प्रेम, औदार्य तथा

विश्व-बंधुत्व की।

सामाजिक परिवर्तन एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जो अनवरत घटित होती रहती है। 'किसी भी ऐसे समाज की परिकल्पना नहीं की जा सकती जो कि पूर्णतया स्थिर हो। परिवर्तन तो प्रत्येक समाज में होगा ही, अपरिवर्तनशील समाज का वास्तविक अस्तित्व वास्तव में नहीं हो सकता।' फिर भी, परिवर्तन की गति तेज-मंद हो सकती है और यह भी संभव है कि परिवर्तन समाज के किसी एक खासपक्ष में ज्यादा हो और दूसरे में कम। इसी का समर्थन करते हुए रवीन्द्रनाथ मुखर्जी ने लिखा है कि 'प्रत्येक समाज में परिवर्तन की गति एक समान नहीं होती है, किन्हीं समाजों में यह परिवर्तन पर्याप्त द्रुत गति से होता है तो किन्हीं में मन्द गति से। उसी प्रकार परिवर्तन के स्वरूप में भी भिन्नता हो सकती है और होती भी है। एक समाज में धार्मिक पक्ष में तेजी से परिवर्तन हो रहा है तो दूसरे समाज में हो सकता है कि आर्थिक पक्ष शीघ्रता से बदल रहे हों।'

रेणु ने 'मैला आँचल' में जिस समाज को दिखाया है, उसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन घटित हो रहे हैं। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तन में जो गति है, वह सांस्कृतिक परिवर्तन में नहीं है। सामाजिक परिवर्तन में जाति प्रथा की कट्टरता में ढील आई है, अस्पृश्यता कम होती दिखाई पड़ती है, नीची जाति को भी थोड़ी बहुत प्रतिष्ठा मिलने लगी है। महन्थ सेवादास के द्वारा दिये गए ग्राम भोज में जातिवाद के कारण भयंकर छुआछूत की भावना थी, लेकिन बाद में, गाँधी जी के श्राद्ध के उपलक्ष्य में जब तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद ग्राम भोज देते हैं तो वहाँ अस्पृश्यता समाप्त होती दिखती है- 'सराध के दिन तहसीलदार भोज देने वाले हैं, बामन, राजपूत, यादव और हरिजन सभी जात एक पंगत में बैठकर खाएंगे।' इतना ही नहीं, गाँधी जी की हत्या के बाद गाँव में जब उनकी शव-यात्रा निकाली जाती है तो 'एक ओर बालदेव जी ने कंधा दिया है, दूसरी ओर सुमिरत दास, जीबेसर मोची और सकलदीप ने।... खेलावन यादव नहीं आया है। सकलदीप को बहुत समझाया, गाली दिया- 'मगर सकलदीप ने तो आकर रन्थी में कंधा लगा ही दिया।' एक बार गाँव में पंचायत बैठती है तो वहाँ भी छोटी

जाति के लोगों को उचित सम्मान दिया जाता है- 'बाभन-राजपूत के साथ में बैठा है, यादव- एक ही ऊँचे सफर पर। अरे! जीबेसर मोची भी उसी कम्बल पर बैठा है? बस, अब रास्ते पर आ रहा है। देखो आज तहसीलदार हरगौरी किस तरह हँस-हँसकर कालीचरण से बात कर रहा है- मानों एक प्याली का दोस्त हो।' इस तरह, जाति-भेद के प्रति कट्टरता में कमी आने से आपसी भाईचारा और साहचर्य का भाव बढ़ा है लेकिन नारियों के प्रति दृष्टिकोण में किसी तरह का परिवर्तन आता दिखाई नहीं पड़ता। रेणु जी ने जिस समाज को दिखाया है, उसमें नारी ज्यादा भोग की वस्तु बन गई है। कई अवैध संबंधों को दिखाया गया है इस उपन्यास में। यहाँ तक कि लछमी दासिन धार्मिक भाव से परिपूर्ण होकर भी रूप और जवानी के कारण कई लोगों की भोग्या बनकर रह जाती है और कई लोगों की बुरी नजर की शिकार भी। वह स्वेच्छा से जिस गाँधीवादी बालदेव को बिना ब्याह के ही पति बना लेती है, वह भी समय आने पर उसे डाँटने से नहीं चूकता और उसके चरित्र पर संदेह करता है। गाँव में अभी भी लोग कई तरह के अंधविश्वासों से जकड़े हैं, यथा- तंत्र-मंत्र, भूत-प्रेत आदि। यहाँ तक कि डायन होने के संदेह में गणेश की नानी की हत्या कर दी जाती है। उपन्यास के अंत तक अंधविश्वासों में कोई कमी नहीं आती। इसका मूल कारण है गाँव में फैली अशिक्षा एवं अज्ञानता। रेणु जी द्वारा वर्णित समाज में अन्त-अन्त तक शिक्षा के प्रति कोई जागरूकता या सचेष्टता दिखाई नहीं पड़ती। इसी वजह से सामाजिक परिवर्तन में जो तीव्र गति होनी चाहिए, वह दिखाई नहीं पड़ती। राजनीतिक-दृष्टि से गाँव में थोड़ी जागरूकता दिखाई पड़ती है। बालदेव, बावनदास, कालीचरण, डाक्टर प्रशांत तथा विश्वनाथ प्रसाद देश में चल रहे स्वतंत्रता-संग्राम से अवगत हैं और इन लोगों की किसी-न-किसी रूप में भागीदारी भी है। बालदेव चन्ननपट्टी को छोड़कर मेरीगंज आया है- लोगों में जागरूकता लाने के लिए। वह कांग्रेसी है और पूरी तरह गाँधीवादी सिद्धांतों को मानता है। वह सत्याग्रह तथा अनशन जैसे हथियार का प्रयोग भी करता है, जुलूस में निकलता है लेकिन स्वतंत्रता की प्राप्ति और गाँधी की हत्या के बाद जिस नई राजनीतिक

संस्कृति का जन्म हुआ, उससे हताश है। एक तरह से अब वह पूरी तरह निश्चेष्ट हो जाता है। कालीचरण भी बालदेव का साथ छोड़कर सोशलिस्ट हो जाता है और काफी ईमानदारी से लोगों को जगाने तथा उनके हक की लड़ाई लड़ने का काम करता है परन्तु- अन्ततः वह भी साजिश का शिकार होकर जेल चला जाता है। बाद में जेल से भागकर पार्टी की शरण में जाता है तो उसे कोई सहायता नहीं मिलती और फरारी जीवन बिताने के लिए बाध्य हो जाता है। गाँव में चरखा सेंटर वगैरह खुलता है, काली टोपी वाले लोग भी राजपूत टोली के लड़कों के बीच काम करते हैं पर अन्त आते-आते सभी समाप्त हो जाते हैं। चरखा-करघा सेंटर बंद हो जाता है, काली टोपी वाले भी लौट जाते हैं। इस तरह, राजनीतिक परिदृश्य भी बदल जाता है- स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद। आर्थिक स्थिति में भी काफी बदलाव आता है। धनी और गरीब दोनों वर्गों में गरीबों की संख्या बहुत अधिक है और धनी गिने-चुने हैं। समय बीतने के साथ केवल विश्वनाथ प्रसाद अपनी बुद्धि-कौशल से और धनी हो जाते हैं, बाकी सारे लोग टूटते चले जाते हैं और खेलावन यादव जमींदार से चरवाहा बन जाते हैं। राजपूतों की आर्थिक स्थिति भी डँवाडोल हो जाती है।

गाँव का सांस्कृतिक जीवन भी इससे प्रभावित होता है। लोगों के अंदर लोकगीत, लोकगाथा तथा लोकनाट्य के प्रति जो उत्साह था, वह धीरे-धीरे घटने लगता है। धर्म के क्षेत्र में अनेक तरह की विकृतियाँ आ जाती हैं। मठ का धार्मिक वातावरण एकदम बदल जाता है और नया महन्थ रामदास खुलेआम रखेलिन रख लेता है। लछमी दासिन मठ का परित्याग कर बालदेव के साथ घर बसा लेती है। लोकनाट्य के स्थान पर थियेटर और वेश्या का नाच होने लगता है। ईमानदारी तथा मूल्य की बात करने वालों की उपेक्षा होती है तथा झूठ, बेईमान और फरेबी लोगों की चलती हो जाती है। यहाँ तक कि रात-दिन सेवा करने वाले सुशिक्षित डाक्टर प्रशांत को भी जेल जाना पड़ता है।

इस प्रकार, सामाजिक परिवर्तन तेजी से घटित होता है। अनेक दृष्टि से परिवर्तन की दिशा मूल्य से अवमूल्यन की ओर ही जाती दिखाई पड़ती है।

संपर्क : 8809422198

## प्रेमचंदोत्तर हिंदी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन

डॉ. पुनीत कुमार राय

सहायक प्राध्यापक

शा. महाविद्यालय, शंकरगढ़ छत्तीसगढ़

भारत को गाँवों का देश कहते हैं। यहाँ की अधिकांश आबादी गाँवों में ही रहती है। गाँवों को जाने-समझे बगैर भारत का साक्षात्कार संभव नहीं है। भारत की आत्मा गाँवों में ही बसती है। प्रकृति से निकटता, सहज-सरल जीवन, अनौपचारिक एवं आत्मीयतापूर्ण संबंध-भावना, संयुक्त परिवार प्रणाली, जातियों-उपजातियों में विभक्त समाज, बिरादरी का महत्त्व, समाज में व्याप्त स्तरभेद के बावजूद अन्तर्सम्बद्धता, बाहरी दुनिया से अप्रभावित प्रायः अपने दायरों तक सीमित बंद-जड़ समाज, रूढ़िग्रस्तता, धर्मभीरुता, परम्पराप्रियता, आस्था-विश्वास से संचालित जीवन-पद्धति, आधुनिक सोच-विचार का अभाव, दलितों की दयनीय दशा, कृषि-कार्य, दस्तकारी, जातिगत पेशे, रीति-रिवाज, पर्व त्यौहार, मेले-ठेले, खान-पान, पुरुष सत्तात्मक समाज, इत्यादि तत्त्व गाँवों को एक विशेष छवि प्रदान करती हैं। यह छवि मोहक भी है और अंतर्विरोधपूर्ण भी। ऊपर से देखने पर गाँव जितना सामान्य, सपाट, सरल दिखता है भीतर से वह उतना ही पेचीदा, अबूझ और विस्मयकारी है। अपने स्वरूप एवं संरचना में निहित जटिलता एवं अनोखेपन के कारण ही भारतीय गाँव समाजशास्त्रियों एवं विदेशी सैलानियों के लिए आकर्षण, आश्चर्य एवं अध्ययन का प्रिय विषय रहा है। साहित्यकारों को भी ग्रामीण जीवन, परिवेश ने खूब आकर्षित किया है।

ग्राम्य केन्द्रित हिंदी उपन्यासों की एक लंबी परंपरा रही है। भुवनेश्वर मिश्र (बलवंत भूमिहार, घराऊ घटना) से लेकर काशीनाथ सिंह (रेहन पर रघू) तक। इस परंपरा में प्रेमचंद और उनके 'गोदान' का स्थान निःसंदेह शीर्ष पर है। उपनिवेश कालीन भारतीय गाँवों का समूचा यथार्थ बहुत जीवंत एवं प्रामाणिक रूप में हमें प्रेमचंद के यहाँ मिलता है। ग्राम्य यथार्थ की प्रस्तुति का जो प्रतिमान प्रेमचंद ने प्रतिष्ठापित किया और फलतः जो प्रसिद्धि पाई उसने परवर्ती कथाकारों के लिए एक प्रेरणा का काम किया। आजादी के बाद रचनाकारों की एक ऐसी पीढ़ी आती है जो ग्रामीण पृष्ठ-भूमि से थे, जिन्होंने ग्रामीण जीवन को प्रत्यक्ष देखा-बूझा था। परिणामतः प्रगतिवादी और आंचलिक साहित्य के रूप में प्रचुर मात्रा में ग्राम्य केन्द्रित उपन्यास रचे गए। वैश्वीकरण एवं उपभोक्तावाद जन्य तीव्र बदलावों के समकालीन दौर में ग्राम्य विषयक उपन्यास खूब लिखे गये, लिखे जा रहे हैं। बौद्धिक साहित्यिक जगत में 'हाशिये का समाज' एवं 'वंचित अस्मिताओं' की चर्चा ने दलित आदिवासी और स्त्री के साथ इनके परिवेश, गाँव को भी केन्द्र में ला दिया है।

प्रेमचंद के पश्चात् ग्राम्याधारित उपन्यास लिखने वाले कथाकारों की एक भरी-पूरी कतार दिखाई पड़ती है। जिन्होंने प्रेमचंद की विरासत को आगे बढ़ाया, ग्राम्य जीवन के बदलते यथार्थ को सघन संवेदनशीलता और गहरी-सामाजिक सांस्कृतिक समझ के साथ रूपायित किया। यथा- बाबा नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, भैरव प्रसाद गुप्त, देवेन्द्र सत्यार्थी, उदयशंकर भट्ट, श्रीलाल शुक्ल, हिमांशु श्रीवास्तव, बलभद्र ठाकुर, शैलेश मटियानी, राजेन्द्र अवस्थी, रामदरश मिश्र, केशव प्रसाद मिश्र, राही मासूम रजा, विवेकी राय, शिव प्रसाद सिंह, गोविंद मिश्र, पंकज विष्ट, जगदीश चंद्र, मिथिलेश्वर, द्रोणवीर कोहली, हरगुलाल, वीरेन्द्र जैन, मैत्रेयी पुष्पा, कमलाकांत त्रिपाठी, प्रमोद कुमार तिवारी, चंद्र किशोर जायसवाल, रणेंद्र, संजीव, काशीनाथ सिंह इत्यादि। इन कथाकारों के यहाँ हमें स्वातंत्र्योत्तर भारतीय गाँवों का पूरा लेखा-जोखा, संगतियाँ-विसंगतियाँ, पड़ाव परिवर्तन, हाल-चाल मिलता है। 'मैला आंचल', 'अलग-अलग वैतरणी', 'सत्ती मैया का चौरा', 'आधा गाँव', 'जल टूटता हुआ', 'राग दरबारी', 'धरती धन न अपना', 'डूब', 'सोना माटी', 'अरे चंडाल', 'ग्लोबल गाँव का देवता', 'जंगल जहाँ शुरू होता है', 'रेहन पर रघू' इत्यादि उपन्यास ग्राम्य जीवन की सही और समग्र पहचान एवं प्रभावी प्रस्तुति के कारण गाँवों के विश्वसनीय दस्तावेज हैं।

उपनिवेश कालीन दौर में भारतीय गाँव लगभग जड़ और अपरिवर्तनशील थे। भारतीय नवजागरण, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का गाँवों पर थोड़ा प्रभाव तो पड़ा किंतु अपने समग्र रूप में गाँव यथावत बने रहे। आजादी के बाद गाँवों के जीवन एवं परिवेश में परिवर्तन आना शुरू होता है और उत्तरोत्तर यह परिवर्तन तीव्र और व्यापक होता जाता है। रूढ़ियों की जकड़ने टूटती हैं, जाति-बिरादरी के बंधन ढीले होते हैं, वंचित-दलित वर्ग में चेतना आती है, स्त्रियों में स्वाभिमान एवं स्वालंबन आता है, सत्ता और वर्चस्व का समीकरण पाला बदलता है, कृषि-दस्तकारी एवं जातिगत पेशों की जगह लोग रोजगार के अन्य विकल्पों की ओर उन्मुख होते हैं, शहरों की ओर पलायन बढ़ता है, शहर का असर गहराता जाता है, आधारभूत संरचनाएँ सुविधाएँ स्थापित होती हैं, अज्ञान-अंधविश्वास का अंधेरा छंटता है, शिक्षा

की रोशनी फैलती है, परम्पराएँ सिकुड़ती जाती हैं और तथाकथित 'मार्डिनिटी' का प्रसार होता है, पारिवारिक जीवन में अलगाव-बिखराव आता है, सामूहिकता-सौहार्द की जगह तनाव-अलगाव-अकेलापन पनपने लगता है, संबंधों की आत्मीयता पर स्वार्थ हावी हो जाता है, सहजता की जगह आडंबर, चमक-दमक लेने लगती है, ग्राम्य जीवन का उल्लास लुप्त हो जाता है और उब-उकताहट की स्थितियाँ दिखने लगती हैं, सांस्कृतिक गतिविधियाँ समाप्त हो जाती हैं। गाँवों में ये परिवर्तन घटित होते हैं। गाँवों से गाँवईपन ही गायब हो जाता है। और कहना न होगा यह गाँवईपन ही गाँव की सबसे बड़ी खासियत और थाती थी। गाँवों का भूगोल, समाज, मन-मिजाज, रंग-ढंग, घर, आँगन, मौसम, आत्मा और शरीर सब कुछ बदल जाता है। यह बदलाव कई मायनों में बहुत प्रगतिशील और क्रांतिकारी रहा है और कई मायनों में विनाशकारी। गाँवों में आए बदलाव को गोदान के सेमरी-बेलारी, मैला आंचल के मेरी गंज, अलग-अलग वैतरणी के करैता, जल टूटता हुआ के तिवारीपुर, आधा गाँव के गंगोली, काला पहाड़ के नगीना, अरे चंडाल के कुंवरपुर, रेहन पर रघू के पहाड़पुर गाँवों को देखकर बखूबी समझा जा सकता है प्रेमचंद और रेणु के गाँव, रेणु और काशीनाथ सिंह, प्रमोद कुमार तिवारी के गाँव में जमीन आसमान का फर्क है। तमाम सारे अभाव, शोषण-उत्पीड़न के बावजूद प्रेमचंद के गाँवों में सहजता, संबंधों में आत्मीयता, सामूहिकता, नैतिकता, शील-संकोच और सांस्कृतिक उल्लास था। किंतु काशीनाथ सिंह प्रमोद कुमार तिवारी के गाँव में विकास और लोकशाही के बावजूद विघटन, तनाव, अलगाव, नैतिकता का लोप, सांस्कृतिक निष्क्रियता व्याप्त है। 'अहा! ग्राम्य जीवन भी कितना सुंदर' अब बीते जमाने की बात हो गई है। पगडंडियों से पक्की सड़क तक के सफर में गाँव का बहुत कुछ खो गया। कहना न होगा गाँव मर रहे हैं। यह एक गंभीर सांस्कृतिक संकट है। गाँवों में परिवर्तन के कारण क्या रहे? जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि संविधान का राज एवं विकास, पंचायती चुनाव, जमींदारी उन्मूलन, चकबंदी, जातिवादी एवं सांप्रदायिक राजनीति, शहरी सम्पर्क, टेलीविजन इत्यादि संचार माध्यमों द्वारा

प्रसारित अपसंस्कृति, उपभोक्तावाद-वैश्वीकरण इत्यादि वे कारक रहे हैं जिनके द्वारा गाँवों में बहुआयामी परिवर्तन आया। प्रेमचंदोत्तर कथाकारों ने ग्रामीण समाज की वस्तुस्थिति एवं बदलते यथार्थ को बड़ी बारीकी और विस्तार से चित्रित किया है। कोई भी पहलू, कोई भी स्तर, कोई भी वर्ग, कोई भी बदलाव छूटने नहीं पाया है। गाँव को लेकर कथाकारों में नास्टेल्लिज्या (मोहग्रस्तता) नहीं आलोचनात्मक एवं तटस्थ दृष्टिकोण ज्यादा हावी रहा है।

जाति भारतीय गाँवों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक रहा है। जाति के आधार पर ही सामाजिक संबंध सामाजिक स्थिति, रिश्ते-नाते, पेशा इत्यादि बातें निर्धारित होती हैं। रेणु के 'मैला आँचल' में हम देखते हैं कि मेरीगंज जाति के आधार पर टोलों में बँटा हुआ है- कायस्थ टोली, राजपूत टोली, यादव टोली, गहलौत छत्री टोली, कुशवाहा टोली इत्यादि। एक ही गाँव में परस्पर साथ रहते हुए भी इन टोलों में वैर-भाव, रार-तकरार भी रहता है। गाँवों में व्याप्त विषमता, भेदभाव, जातिजन्य है। वीरेन्द्र जैन 'डूब' में दिखलाते हैं कि 'मास्साब के चबूतरे के आसपास सब के सब अपनी-अपनी सामाजी प्रतिष्ठा के अनुसार बैठ गए। बाभन, बनिया और हलकाई ठाकुर ऊपर चबूतरे पर। उनसे कमतर लोग जमीन पर उनसे भी कमतर आँके जाने वाले अनथक मगर समाजी विभाजन के अनुसार नीच-कर्म के कर्ताधर्ता जमीन फैला-बिखरा, कूड़ा-करकट एक जगह समेट कर उस पर बैठ गए।' जाति से जुड़ा एक पहलू शोषण भी है, गाँवों में शोषण की स्थिति जातिगत भी रही है और वर्गगत भी। निम्न जाति के लोगों का तिरस्कार-उत्पीड़न, बेगारी, उनकी जमीनों को बलात् हथिया लेना, उनके लिए बनी सरकारी योजनाओं में गोल-माल करना, उनकी स्त्रियों का यौन शोषण इत्यादि ग्रामीण समाज में ऊँची जातियों द्वारा किये जा रहे शोषण के रूप रहे हैं।

'बलचनमा' में बलचनमा बड़ों की ज्यादातियों को जिसे उसने भोगा था, बतलाता है। गाँव की जातीय व्यवस्था में सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से सबसे बदतर स्थिति दलितों की रही है। एक तरफ भयंकर गरीबी के कारण अमानवीय जीवन स्थितियाँ दूसरी तरफ ऊँची जातियों के द्वारा शोषण-उत्पीड़न। उन्हें दोहरे दुखों-संकटों को झेलना पड़ता है।

जगदीशचंद्र ने 'धरती धन न अपना' में दलितों के दुख, दारिद्र्य एवं दुश्वायियों का बहुत मार्मिक चित्रण किया है। समय के साथ गाँव के दलित एवं मेहनतकश वर्ग में अपने हितों को लेकर जागरूकता भी आई है। अपनी स्थिति को अपनी नियति मानने की जगह वे संगठित होकर संघर्षशील हुए हैं। 'रेहन पर रगधू' के पहाड़पुर में हलवाहों-दलितों की हड़ताल में इसे साफ तौर पर देखा जा सकता है। मजदूरी बढ़ाने की माँग को लेकर की गई हलवाहों की हड़ताल से ठाकुर अकबका जाते हैं। हलवाहों के साथ गाय-भैंस को सानी-पानी करने और गोबर पाथने वाली उनकी औरतें और बेटियाँ भी हैं। पूरा ठाकुरान गंदगी से बजबजा उठता है। गाँव का जातिगत विभाजन कई बार जातीय संघर्ष के रूप में भी उभर आता है। शोषण एवं वर्चस्व की लड़ाई ही इन जातीय संघर्षों के मूल में रही है। 'अमरबेल', 'अग्निबीज', 'जंगल जहाँ शुरू होता है' और 'अरे चंडाल' में इसे देखा जा सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर गाँवों में पारिवारिक प्राणाली एवं मूल्य बड़ी तेजी से विघटित होते हैं। पिता-पुत्र, भाई-भाई में दरार पड़ जाती है, अलग-गोला आम बात हो जाती है। सहयोग, सम्मान, शील-संकोच दिनों दिन समाप्त होता जाता है। यह सब व्यक्तिवादी मनोवृत्ति, शहरी प्रभाव, आर्थिक दबाव, उपभोक्तावाद जन्य अंतहीन महत्वाकांक्षाओं के प्रसार का परिणाम रहा है। टूटते घरों और बिखरते रिश्तों को परानपुर, तिवारीपुर, शिवपालगंज, पहाड़पुर, कुंवरपुर में देखा जा सकता है।

'अरे चंडाल' में जमीन-जादाद के लिए इतनी मारकाट, दाँव-पेंच है कि संबंधों की सारी मर्यादाएँ तार-तार हो गई हैं। 'रेहन पर रगधू' के मास्टर रघुनाथ लाचार होकर अपने घर को टूटते-बिखरते देख रहे हैं और चाह कर भी कुछ नहीं कर पा रहे हैं। उनके बेटों संजय और धनंजय के लिए पिता की इच्छा, आवश्यकता एवं तकलीफों से ज्यादा पैसा और कैरियर महत्वपूर्ण है। बेटी सरला के अन्तर्जातीय विवाह की घोषणा से तो वह ढह जाते हैं।

स्त्री-पुरुष के अनैतिक संबंध भी ग्रामीण समाज में खूब दिखलाई पड़ते हैं। निश्चित तौर पर ये संबंध ग्रामीण समाज की यौन वर्जनाओं, विकृतियों एवं कुंठाओं की ऊपज

हैं। रिश्तों एवं गाँव की मर्यादा, नैतिकता को ताक पर रखकर स्थापित किए गए ये संबंध विशुद्ध वासना जनित रूप में भी मिलते हैं और स्वाभाविक-सात्विक प्रेमजनित रूप में भी। ऐसे संबंधों को सामाजिक स्वीकृति नहीं है फलतः ढके-छिपे रूप में दिखलाई पड़ते हैं। 'मैला आंचल' में अनैतिक संबंधों के कई प्रसंग हैं। नोजे की स्त्री रामलगन सिंह के बेटे से फँसी हुई है और उचित दास की बेटि कोयरी टोले के सरन महतो से.... तहसीलदार हरगौरी सिंह अपनी खास मौसरी बहन से फँसा हुआ है। बालदेव जी कोठारिन से लटपटा गए हैं। कालीचरन ने चर्खा स्कूल की मास्टरनी को अपने घर में रख लिया है। 'आधा गाँव' के गंगोली में खूब अनैतिक संबंध हैं- 'ऐरी-गैरी औरत घर में डाल लेना बुरा नहीं समझा जाता था। शायद ही मियाँ लोगों को कोई ऐसा खानदान हो जिसमें कलमी लड़के-लड़कियाँ न हों। जिनके घर में खाने को भी नहीं होता, वे भी किसी न किसी तरह कलमी आमों और कलमी परिवारों का शौक पूरा कर लेते हैं।' 'अरे चंडाल' में मंधाता मिश्र, दया शंकर, नौलाख महतो, कामरेड धनंजय जी, अवधेश चौधरी भी अनैतिक संबंधों से लिप्त हैं।

युवा पीढ़ी की दिशा हीनता भी गाँवों की एक प्रमुख समस्या रही है। अकर्मण्य एवं नकारा युवाओं की मंडली हर गाँव में दिखाई पड़ती है। गप्पबाजी, नशाखोरी, रंगदारी, लफंगई, बड़े-बूढ़ों का अनादर, मारपीट-बलवा इत्यादि ही इनका काम रहता है। धूर्त राजनेता ऐसे युवाओं का अपने राजनीतिक दाँव-पेंच, प्रतिस्पर्धा में खूब इस्तेमाल करते हैं। जिन नौजवानों द्वारा गाँव में नव-निर्माण होना चाहिए उनके द्वारा गाँव का माहौल खराब होता है। ऐसे युवाओं को न तो अपने घर-परिवार के मान-मर्यादा की परवाह होती है और न ही भविष्य की चिंता। 'अरे चंडाल' में कुंवरपुर में भी ऐसी एक मंडली है। 'रेहन पर रघू' के पहाड़पुर में ऐसे कई युवा हैं जो पिछले कई सालों से प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी के नाम पर गाँव से नगर और नगर से गाँव मोटर साइकिल पर मटरगश्ती कर रहे हैं, नौकरी का कोई ठिकाना नहीं है। लेकिन वे मेहनत नहीं करना चाहते हैं, गाँव-घर, खेती-किसानी के काम में उनका मन नहीं लगता है। बेरोजगारी, अनुपयोगी शिक्षा

पद्धति, पारंपरिक सामाजिक-आर्थिक ढाँचे का टूटना, संचार माध्यमों से फैलती अपसंस्कृति इत्यादि ने युवाओं को दिशाहारा, नशेड़ी, अराजक और असामाजिक तत्त्व बना दिया है।

जमींदारी उन्मूलन एवं चकबंदी ने ग्रामीण व्यवस्था को काफी गहराई तक प्रभावित किया। कृषि आधारित ग्रामीण जीवन में भू स्वामित्व के परिवर्तन-विघटन से नई सामाजिक स्थितियाँ-प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं। बड़े लोगों के दबदबे में कमी आती है, कृषि भूमि एवं सार्वजनिक भूमि का न्याय संगत वितरण संभव हुआ। तो दूसरी तरफ मनपसंद चक पाने की लालसा के कारण गाँव में खूब तनाव और भ्रष्टाचार भी जन्मा। 'वरुण के बेटे', 'परती परिकथा', 'अलग-अलग वैतरणी', 'जल टूटता हुआ', 'लोक ऋण' में ये स्थितियाँ दिखलाई गई हैं। नए जमाने की गति को भांपते हुए पुराने जमींदार, सामंत नए रंग-ढंग अख्तियार कर अपने वजूद और वर्चस्वको बनाने की कोशिश करते हैं। 'अग्निबीज' के ज्वाला बाबू ऐसे ही हैं।

पंचायती चुनावों ने गाँव को राजनीति का अखाड़ा बनाकर आपसी सद्भाव और सामाजिकता को समाप्त कर दिया। गाँव कई गुटों में बँट गए, तनाव-तकरार के नए मुद्दे नए प्रसंग आ गए। इन चुनाव में गाँव के विकास का मुद्दा गायब रहा, निजी स्वार्थपूर्ति और अपने प्रतिष्ठा-वर्चस्व को बनाना-बचाना ही हावी रहा। पंचायत चुनाव जन्य दुष्परिणामों, तनाव एवं कटुता की स्थितियों को 'सती मैया का चौरा', 'जल टूटता हुआ', 'लोक ऋण', 'अरे चंडाल' में देखा जा सकता है। लोकऋण के रामपुर में चुनावों के दौरान माहौल में बड़ी सरगर्मी और भयावहता है- 'कैसी एक भयानक मौन की मनहूस छाया सम्पूर्ण गाँव को ग्रस्त कर लेती है। लोग मिलने पर साँय-फुस बातें करने लगते हैं। चेहरे पर तनाव की रेखाएँ खिंच जाती हैं और देखते ही देखते परिचित चेहरे अपरिचित लगने लगते हैं। गलियों में अविश्वासपूर्ण दहशत फैल जाती है। पूरे गाँव में स्वतंत्रतापूर्वक घूमना बंद।.... स्वार्थी और ढोही लोग सहानुभूति का, सद्भाव का नकली चेहरा लिये लोगों को सूँघते फिरते हैं, कौन क्या कह रहा है? कौन फूट या टूट रहा है? कौन किधर जाता है? गाँव की लाइनें बनने बिगड़ने लगती हैं।

पुरानी रगड़ों के गड़े मुर्दे उखड़ने लगते हैं।' राजनीतिक गोलबंदी और विद्वेष का सबसे टुच्ची राजनीति की काली छाया के कारण गाँव भय और दुश्चिन्ताओं में जी रहा है। उग्र वामपंथ (नकस्लवाद) की भी दहशत है। पंचायती चुनावों से दलित-पिछड़ी जातियों की शासन-सत्ता में भागीदारी से सशक्तिकरण तो जरूर हुआ, किंतु इन चुनावों ने गाँव के परिवेश को खूब विषाक्त बनाया।

गाँवों में नारी की स्थिति दोगुना दर्जे की रही है। ऊँची जाति, बड़े घर की स्त्रियाँ जहाँ मर्यादाओं के बोझ तले घर-आँगन तक सीमित रहकर घुटती रहती हैं। वहीं निम्न घर की स्त्रियों का जीवन घर-बाहर खटते हुए, गरीबी से जूझते हुए, ऊँची जाति की भूखी नजरों से बचते हुए बीतता है। स्त्री चाहे ऊँची जाति की हो या निम्न जाति की हर कदम पर उसकी अस्मिता और अस्तित्व को रौंदा जाता है। माँ, बहन, पत्नी, बेटी, की भूमिकाओं का अनथक निर्वहन करते-करते वह मर-खप जाती है। किंतु उसे घर परिवार, समाज में सम्मानजनक स्थान नहीं मिल पाता है। गाँवों में सामंती एवं मर्दवादी सोच की ज्यादा शिकार स्त्री ही है। पहले गाँवों में अशिक्षा, बाल-विवाह पुत्र को महत्त्व देने की मानसिकता, सामाजिक रूढ़ियों के कारण स्त्रियों का जीवन ज्यादा कष्टप्रद था। किंतु जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार हुआ, लोकतंत्र एवं विकास की बयार चली स्त्रियों की स्थिति में सुधार आया। प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में नारी जीवन की दोनों स्थितियों, रूपों को दिखलाया गया है- अन्याय, प्रताड़ना को भोगती स्त्री और चुनौती देती, चुनौती बनती समर्थ स्त्री। 'कगार की आग' में पहाड़ी समाज में चतुर्दिक शोषण की शिकार गोमती का जीवन संघर्ष है। 'इदन्नमम्' की मंदा, 'चाक' की सारंग, ऐसी स्त्रियाँ हैं जो समाज द्वारा निर्धारित कई बंधनों, हदों को तोड़ती हैं। 'अरे चंडाल' की वसुधा और दमयंती, 'रेहन पर रघू' की सरला में मुक्त एवं विद्रोही स्त्री की छवि को सहज देखा जा सकता है।

सरकार द्वारा चलाई जा रही जन कल्याणकारी योजनाओं के विकास के कार्यक्रमों से गाँवों में काफी परिवर्तन आया। गाँवों में सड़क, बिजली, पानी, स्कूल, अस्पताल, डाकघर जैसी सुविधाएँ स्थापित होती हैं, रोजगार के नये विकल्प खुलते हैं, कृषि में सुधार होता है, स्त्री एवं दलित वर्ग का

सशक्तिकरण होता है; अन्याय-शोषण पर, काफी हद तक अंकुश लगता है। 'अलग-अलग वैतरणी' का करैता गाँव विकास की राह पर है। गाँव-गाँव में ट्यूबेल लग गए हैं।' 'रेहन पर रघू' के पहाड़पुर की विकास के कारण पूरी शक्ल-सूरत बदल गयी है- 'अब पेड़ कट गए हैं, बैसवार साफ हो गयी है, बगीचे के बीच से नहर निकल गयी है, जिसके किनारे प्राइमरी स्कूल खड़ा हो गया है और दवाखाने के लिए जमीन भी घेर ली गई है। अंबेडकर गाँव घोषित हो जाने के बाद परिवर्तन की गति और तेज हो गयी है। गाँव में बिजली आ गई है, केबुल की लाईने बिछ गई हैं, टी.वी., पंखे और फोन भी लग गए हैं।' गाँव में विकास तो हुआ किंतु सबकी खुशहाली का लक्ष्य पूरा नहीं हो पाया। लूट-खसोट और भ्रष्टाचार के कारण। इसमें जितनी संलिप्तता बाहरी अफसर, ठेकेदार, नेता की रही उससे कम गाँव वालों की नहीं रही है। विकास कार्यक्रमों के लिए आवंटित सरकारी धन की लूट-खसोट एवं बंदरबाट को 'अरे चंडाल' में देख सकते हैं।

गाँवों में विभिन्न जाति धर्म के लोग सदियों से सद्भाव के साथ रहते आये हैं। अवसरवादी सांप्रदायिक राजनीति ने गाँवों में सांप्रदायिकता की विष बेल बो दिया। सांप्रदायिक तनावों-झगड़ों को 'सती मैया का चौरा', 'आधा गाँव', 'काला पहाड़' में दिखलाया गया है। आजादी के बाद गाँवों में विकास तो खूब हुआ, गाँवों की तस्वीर ही बदल गई, किंतु उतनी ही तीव्र गति से गाँवों में सांस्कृतिक शून्यता भी समाती गई। देखते-देखते लोकगीत, लोकनृत्य, लोक-रंगमंच, लोक कलाएँ, किस्से कहानियाँ, तीज त्यौहार एवं मेलों की सामूहिक रौनक-सहभागिता- सब कुछ लुप्त हो गया। 'परती परिकथा' में जितन लम्बे समय बाद अपने गाँव लौटता है, वह पाता है- 'गाँव समाज में मनुष्य के साथ मनुष्य का व्यक्तिगत संपर्क घनिष्ठ था, किंतु वह अब नहीं रहा। एक आदमी के लिए उसके गाँव का दूसरा आदमी अज्ञात कुलशील छोड़ और कुछ नहीं.... कहाँ है आज का कोई उपयोगी उत्सव, अनुष्ठान, जहाँ आदमी एक-दूसरे से मुक्त प्राण होकर मिल सके।' गाँवों की सामूहिकता खण्ड-खण्ड हो गई है, संवेदना छीज गई है, गाँवों में भी शहरी जीवन का नीरसपन पसर गया है। 'जल



टूटता हुआ' में सतीश के पिता अमलेश जी गाँव के चौतरफा पतन से व्यथित हैं। 'लोक ऋण' में वृंदावन बाबू गिरीश बाबू से कहते हैं- 'गाँव में सिर्फ परिवर्तित गाँव है। परिवर्तन सिर्फ इतना हुआ कि आर्थिक सुधार की धावा धूपी में उसका जीवन सौंदर्य नष्ट हो गया है। .... त्योहार-समारोह फीके पड़ गए हैं। गीत-नृत्य, रामायन, भजन, रामलीला और बिरहा-लौरकी गायन आदि गया। पुराना सब गया और नये को दिशा नहीं मिल रही है। दिशा दे कौन?' तमाम सारी विकृतियों और पतन के बावजूद गाँव में ऐसे लोग भी हैं जो ढहते गाँवों को संभालने और सार्थक दिशा देने में लगे हुए हैं- मटरू पहलवान (गंगा मैया), मन्ने (सती मैया का चौरा), जितन बाबू (परती परिकथा),

सतीश (जल टूटता हुआ), गिरीश बाबू (लोक ऋण), रामस्वरूप (सोनामाटी), मंदा (इदन्मम्), मुरली पांडे (जंगल जहाँ शुरू होता है), दमयंती (अरे चांडाल) इत्यादि ऐसे ही लोग हैं।

प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में ग्राम्य जीवन के यथार्थ को निरूपित करने के लिए जिस भाषा, शिल्प-विधान का प्रयोग किया गया है वह बेहद समर्थ है। ग्राम्य जीवन के ठेठ शब्दों, वाक्य विन्यास, लहजे, लोक प्रचलित मुहावरों-लोकोक्तियों, लोकगीतों, लोककथाओं, लोक प्रतीकों, लोक बिंबों के सधे और सर्जनात्मक प्रयोग से भाषा में वह सामर्थ्य आया है जिसके द्वारा ग्राम्य जीवन एवं परिवेश जीवंत रूप में चित्रित हो सका है।

संपर्क : 09917771846

## ऐतिहासिक उपन्यासों के सर्जक : वृंदावनलाल वर्मा

डॉ. रामकिंकर पाण्डेय

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग  
शासकीय लाहिड़ी महाविद्यालय,  
कोरिया, छत्तीसगढ़

वृंदावनलाल वर्मा उन ऐतिहासिक उपन्यासकारों में हैं जिन्होंने इतिहास की घटनाओं को वर्तमान संदर्भ में प्रस्तुत कर उन्हें एक नया आयाम प्रदान किया है। प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास के अंचल में छिपकर अतीत जीवी हो जाते हैं लेकिन वृंदावनलाल वर्मा के यहां ऐसा नहीं है बल्कि उन्होंने अतीत को वर्तमान से अधिक गौरवपूर्ण मानकर उसके पुनर्स्थापन के साथ ही अतीत को वर्तमान के नए संदर्भ में देखने का प्रयास भी किया है। वर्मा जी की सृजनात्मक प्रतिभा का पूर्ण विकास उनके उपन्यासों में हुआ है। उन्होंने सब मिलाकर लगभग दो दर्जन उपन्यासों की रचना की है। ‘गढ़कुण्डार’, ‘विराटा की पद्मिनी’, ‘मुसाहिबजू’, ‘कंचनार’, ‘झांसी की रानी’, ‘मृगनयनी’, ‘टूट काँटे’, ‘माधव जी सिंधिया’, ‘भुवन विक्रम’, ‘अहिल्याबाई’, ‘रामगढ़ की रानी’, ‘सोती आग’, ‘महारानी दुर्गावती’, ‘कीचड़ और कमल’, ‘देवगढ़ की मुस्कान’, ‘ललितादित्य’ आदि वर्माजी के प्रसिद्ध प्रकाशित उपन्यास हैं। ‘अब क्या हों’ भी वर्मा जी का ऐतिहासिक उपन्यास है जो अब तक अप्रकाशित है। ‘कुण्डली चक्र’, ‘प्रेम की भेंट’, ‘प्रत्यागत’, ‘कभी न कभी’, ‘अचल मेरा कोई’, ‘अमरबेल’, ‘लगन’, ‘संगम सोना’, ‘आहत’, ‘उदयकिरण’, वर्मा जी के प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास हैं। वृंदावनलाल वर्मा को अपनी धरती से विशेष स्नेह है। उनके उपन्यासों में समूचा बुंदेलखंड अंचल जीवंत हो उठा है। बुंदेलखंड के किले, गढ़, नदियाँ, जंगल, पहाड़, झरने, नाले सभी उनके उपन्यासों में इतिहास कहते हुए नजर आते हैं। वहाँ की किंवदंतियों और जनश्रुतियों का जैसा इस्तेमाल वर्मा जी ने अपनी रचनाओं में किया है। उसने भारत के मध्यकालीन इतिहास की इन घटनाओं के औपन्यासिक प्रस्तुतिकरण को जीवंत और सुपाठ्य बना दिया है। वास्तव में वर्मा जी ने बुंदेलखंड अंचल के कण-कण से अपने को जोड़ते हुए अपनी रचनाओं का प्रणयन किया है और ऐसा करके उन्होंने मध्यकालीन भारत में दबे-बिखरे शौर्य को बड़ी ममता और लगाव से संवारा और संजोया है। डॉ. रामविलास शर्मा परंपरा का मूल्यांकन में लिखते हैं- “वर्माजी ने बुंदेलखंड के झाड़ू-झंखाड़ों का भी बड़ी आत्मीयता से चित्रण किया है। करघई, रेडंजा, नेगड़, कांकेर और मकोय के घने जंगलों में वह चतुर शिकारी की तरह पाठक को अपने साथ घुमाते हैं। मृगनयनी उपन्यास का एक दृश्य है- “नदी के पास

साल और सागौन के वन में मृगनयनी और लाखी शिकार खेलती हैं। करघई की कत्थई रंग की झाड़ी में दोनों सखियाँ प्रवेश करती हैं। वन प्रकृति का यह निकट से परिचय कथा के यथार्थ रंग को और गहरा कर देता है। कहना न होगा, आखेट का वर्ण करने में वर्मा जी हिंदी उपन्यासकारों में अद्वितीय हैं। कल्पना का विशेष पुट दिए बिना ही वह मानो अनुभव के आधार पर आखेट की साहसिकता, पशुओं की चतुराई, अहेरी की सतर्कता, सभी का सजीव चित्र प्रस्तुत कर देते हैं।”

ऐतिहासिक उपन्यासों के सर्जक वृंदावनलाल वर्मा का इतिहास के प्रति दृष्टिकोण निर्माण का प्रारंभ बचपन से ही हो गया था। इस संबंध में वर्मा जी ने बचपन में घटी एक घटना के दिशा-निर्देशक प्रभाव की चर्चा अपनी आत्मकथा में की है। वे लिखते हैं- “पाँचवीं, छठीं, कक्षा में ई. मार्सडन रचित ‘भारत का इतिहास’ अंग्रेजी में पढ़ाया जाता था। पुस्तक हमारे जैसों के लिए महंगी थी परंतु खरीदनी पड़ी। उसमें एक जगह पढ़ा कि भारत के लोग गरम मुल्क के होने के कारण ठंडे देश के आक्रमणकारियों के आगे हारते रहे हैं, परंतु आगे नहीं हारेंगे क्योंकि अंग्रेज ठंडे देश वाले हैं.... हिंदुस्तान आगे किसी से न हारेगा। यानि हमारा देश अनंतकाल तक अंग्रेजों का गुलाम बना रहेगा। लक्ष्मीबाई जो इतनी बहादुरी के साथ लड़ी मरी वह सब व्यर्थ गया मन में आग लग गई। पुस्तक का वह सफा फाड़ डाला (अपनी कहानी, पृ. 18) इसी प्रसंग में आगे चलकर वह सूत्र हमें प्राप्त होता है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अंग्रेजों ने भारतीयों को उल्लू बनाए रखने के लिए ऐसी मनगढ़ंत और अनाप-शनाप बातें इतिहास के नाम पर चालू कर रखी हैं। वस्तुतः यहीं से वृंदावन लाल वर्मा द्वारा वास्तविक इतिहास के स्रोतों की खोज की वह प्रक्रिया आरंभ होती है जो जीवन भर बनी रही, इस घटना के बाद जहाँ एक ओर लेखक के मन में यह भाव पैदा हुआ कि इतिहास वही नहीं है जो किताबों में लिखा होता है बल्कि इससे इतर भी कुछ है जिसे इतिहास में शामिल किया जाना चाहिए वहीं दूसरी ओर उनके भीतर इतिहास के तथ्यों और उसकी वस्तुपरकता के प्रति एक आधारभूत निष्ठा भी पैदा हुई। जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों

का सृजन किया।

‘गढ़कुण्डार’ वर्मा की का पहला ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसका प्रकाशन 1928 में होता है। इस उपन्यास में चौदहवीं शती के बुन्देलखंड के सामंती जीवन का बड़ा ही सुंदर चित्रण किया गया है। इसका कथा संसार दिल्ली सुल्तान बलबन (1266-87 ई.) के समय और बुंदेलखंड के कुंडार, भरतपुर, माहौनी, पलोचर, सारौल, करेरा आदि गढ़ों से संबद्ध है। गढ़कुंडार का मुख्य कथ्य खंगारों और बुंदेलों का जातिगत संघर्ष ही है। कथानक का आधार ऐतिहासिक है किंतु उसमें लेखक की सृजनात्मक कल्पना का समावेश हुआ है जिसके कारण उपन्यास सजीव हो उठा है। बुंदेलों का जातीय अभिमान, खंगारों की जातिगत हीनता, वीरत्व की निरुद्देश्यता, पारिवारिक कलह और प्रवंचना, सामंतों का विश्वासघात, राष्ट्रीय भावना का अभाव, सामंतों का आपसी वैमनस्य, गढ़कुण्डार में इन सभी का चित्रण बड़ी सजीवता से किया गया है। उपन्यास में लेखक बुंदेलों और खंगारों के पारस्परिक संघर्ष में बुन्देलों का समर्थन करता दिखाई देता है क्योंकि उसे खंगारों की अपेक्षा बुन्देलों में जातीय स्वाभिमान की चेतना अधिक दिखाई देती है। आलोचक मधुरेश लिखते हैं- “वृंदावनलाल वर्मा स्वाधीनता आंदोलन में मुसलमानों की भूमिका को एक साझे संघर्ष के रूप में स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से वे अपने अनेक पूर्ववर्तियों और समकालीनों की अपेक्षा प्रेमचंद के अधिक निकट पड़ते हैं। ‘गढ़कुण्डार’ में वे हिंदू भाव से युक्त होने पर भी मुसलमानों के मजहबी कट्टरपन को छिपाकर या कम करके इतिहास को विकृत करने के पक्ष में नहीं हैं। वे मुस्लिम शासकों के हिंदू-विरोधी अभियानों के प्रति कहीं उदासीन नहीं दिखाई देते। लेकिन उसके चित्रण में एक ओर यदि वे संकेत और संक्षिप्ति से काम लेते हैं तो दूसरी ओर मुस्लिम समाज में से ही अनेक ऐसे सामान्य और अधिकांशतः काल्पनिक पात्रों की सृष्टि करते हैं जो साम्प्रदायिक सौहार्द एवं सद्भाव की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य है।” ‘गढ़कुण्डार’ में हमें युद्ध की विभीषिका के भीतर ही प्रेम की की स्निग्ध धारा प्रवाहित होती दिखती है। नागदेव और हेमवती का वासनाजन्य विषम प्रेम; अग्निदत्त और मानवती का मानवीय सम प्रेम तथा दिवाकर और

तारा का आदर्शतम प्रेम उपन्यास की कथा को उदात्त बना देता है।

‘विराटा की पद्मिनी’, वर्मा जी का अत्यधिक कलात्मक उपन्यास है, यह एक ऐतिहासिक रोमांस है जिसमें लेखक ने ऐतिहासिक वातावरण को पूर्णतः सजीव कर दिया है। उपन्यास में अलग-अलग समयों में घटित घटनाएँ बेहद इतिहास प्रसिद्ध न होने पर भी लोक-परंपरा में काफी प्रचलित रही हैं। मुगल शासन की निर्ममता, भारतीय सामंतों की स्वेच्छाचारिता तथा विलासिता नवाबों की लोलुपता, राजपूत नारियों का आत्मोत्सर्ग, दरबारी षडयंत्र आदि ‘विराटा की पद्मिनी’ में सभी कुछ साकार हो गया है। वर्मा जी के उपन्यासों में प्रेम और वीरता की गाथाएँ हैं। इनमें वीरता और सौंदर्य का अद्भुत मेल है। विराटा की पद्मिनी के सौंदर्य का वर्णन जिस तरह से वर्मा जी करते हैं वह किसी कवि की कविता से कम नहीं है। वे पद्मिनी के सौंदर्य का प्रभाव इस उपमा द्वारा व्यंजित करते हैं— ‘ऐसा जान पड़ा मानो कमलों का समूह उपस्थित हो गया है।’ कुछ इसी तरह का चित्रण गढ़कुण्डार की हेमवती के सौंदर्य का भी है— ‘कोमल अंग हैं, उछलती हुई बड़ी आँखें हैं, सोने का रंग है, गरबीली ठोढ़ी है, सीधी नाक है। ...और हाथ में तलवार और तीर कमान।’ ‘झांसी की रानी लक्ष्मीबाई’ वर्मा जी का विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है जो 1946 ई. में प्रकाशित हुआ था। यह उपन्यास एक लंबे शोध और अनुसंधान का परिणाम है। वर्मा जी ने 1932 ई. से ही महारानी लक्ष्मीबाई के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं की छानबीन प्रारंभ कर दी थी और पूरे चौदह वर्षों के बाद उपन्यास का प्रकाशन हुआ इसे लेखक ने चार भागों में बाँटा है— ‘उषा के पूर्व’, ‘उदय’, ‘मध्याह्न’ और ‘अस्त’। इस उपन्यास का फलक देशव्यापी और विस्तृत है। पहली बार वर्मा जी ने बुंदेलखंड की अपनी चिर-परिचित भूमि से बाहर निकलकर देश व्यापी वातावरण को जीवित किया है। इस उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार ने झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का जो वीरतापूर्ण चरित्र चित्रित किया उससे अंग्रेजों की यह भ्रांत धारणा निर्मूल साबित हो जाती है कि ‘रानी का शौर्य परिस्थिति जन्य था।’ वृंदावनलाल वर्मा ने अनेक ऐतिहासिक साक्ष्यों का उपयोग करते हुए

स्पष्ट कर दिया है कि ‘रानी स्वराज्य के लिए लड़ी थी, उसके विद्रोह के पीछे एक निश्चित देशव्यापी योजना थी।’

‘मृगनयनी’ वर्मा जी की उपन्यास कला का चरमोत्कर्ष प्रतीत होता है। इस उपन्यास के माध्यम से वर्मा जी ने पन्द्रहवीं शताब्दी की युग चेतना की पीठिका पर मृगनयनी के दिव्य चेतन व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की है। इस समय जब भारतवर्ष में ध्वंस, बर्बरता तथा अराजकता ने जन-जीवन की सृजनात्मक शक्तियों को कुंठित कर दिया था, ऐसे में वर्मा जी ने मध्यकालीन भारत के जन-जीवन, सामंती जीवन तथा पुरोहित-पुजारी और मुल्ला-मौलवियों के जीवन की सुंदर झाँकी प्रस्तुत की है। इस युग की अराजकता बर्बरता, ध्वंस, संकीर्णता, आत्मरति और वासना से उबरकर बुंदेलखंड की धरती विद्रोह करती है। ‘मृगनयनी’ का चरित्र समस्त बुंदेलखंड के भूभाग का प्रतिबिंब है जिसमें बुंदेलखंड की पर्वतमालाओं की अपराजेय दृढ़ता नदियों को तरलता और गतिमयता, धरातल की भव्यता सभी कुछ साकार हो उठा है। आलोचक रामचंद्र तिवारी का मानना है— ‘इसीलिए मृगनयनी के व्यक्तित्व में रक्षात्मक शौर्य तथा सृजनात्मक कला का समन्वित विकास होता है। इस व्यक्तित्व की उपलब्धि के लिए, युग की समस्त ध्वंशोन्मुख शक्तियाँ दौड़ पड़ती हैं। ‘लाखी’ और ‘अटल’ के रूप में बुंदेलखंड की भूमि अपनी दृढ़ता, सरलता तथा स्नेहमयता लेकर इस व्यक्तित्व की रक्षा में अपने को मिटा देती है। मानसिंह जिसके शौर्य में रक्षा है, ध्वंस नहीं, जिसके स्वभाव में उदारता है, संकीर्णता नहीं, जिसकी भावना में सौंदर्य बोध है, वासना नहीं और जिसके जीवन में प्रगति है, प्रतिक्रिया नहीं, मृगनयनी के व्यक्तित्व की उपलब्धि की पात्रता प्राप्त करता है।’

‘मृगनयनी’ में तत्कालीन सामाजिक जीवन की संपूर्ण झाँकी प्रस्तुत की गई है। उपन्यासकार ने तत्कालीन सामंत जीवन के विविध पक्षों को बेहद करीबी से उभारा है। उस समय मुसलमान सामंतों में तीन प्रमुख वर्ग थे। एक अपनी शूरता और बर्बरता में दृढ़ था, दूसरा अर्थलोलुप था और तीसरा विलास में डूबा हुआ था। महमूद बघरा, सिकंदर लोदी तथा गयासुद्दीन-नासिरुद्दीन क्रमशः इन्हीं तीन वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी तरह हिंदू सामंतों के भी दो

वर्ग थे। प्रथम वर्ग के सामंत वीर थे किंतु सोच में संकीर्ण थे, जातीय अभिमान और वंश-मर्यादा की रक्षा, बस यहीं तक इनके जीवन की सीमाएँ थीं। इनमें विवेक का अभाव था। राजसिंह जैसे सामंत इसी वर्ग में के प्रतिनिधि हैं। दूसरा वर्ग आदर्श सामंत के रूप में उपस्थित किया गया है, जिसमें वीरत्व के साथ कर्तव्य परायणता और कला के प्रति प्रेम भी है। मानसिंह इसी आदर्श राजपूत सामंत वर्ग का प्रतिनिधि है। 'मृगनयनी' उपन्यास में उक्त सभी वर्गों का विशद चित्रण किया गया है। 'कचनार' 1948 ई. में प्रकाशित वर्मा जी का एक अन्य उपन्यास है जिसमें पतनोन्मुखी सामंत व्यवस्था के चित्रण के साथ ही नारी-मनोविज्ञान तथा बालोचित चेष्टाओं की सफल अभिव्यक्ति हुई है। 'टूटे काँटे' का कथानक मुगल बादशाह मुहम्मद शाह रंगीले के शासनकाल से संबंधित है जिसमें लेखक ने तत्कालीन भारतीय इतिहास में अंग्रेजों की दृढ़ कूटनीति और नवीन शास्त्रों तथा मराठों, जाटों और सिक्खों के इतिहास घटनाओं का सुंदर चित्रण किया है। 'अहिल्याबाई' महारानी अहिल्याबाई के आदर्श जीवन से प्रेरित होकर लिखा गया है। उपन्यास में अहिल्याबाई के आदर्श चरित्र का अंकन किया गया है और उनकी प्रजावत्सलता, योग्यता, चतुरता एवं धार्मिकता को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। 'माधव जी सिंधिया' में 'टूटे काँटे' के बाद का जीवन चित्र प्रस्तुत किया गया है। दिल्ली पर अहमदशाह अब्दाली का आक्रमण होने वाला है और दिल्ली राग-रंग में डूबी है ऐसे समय में समस्त भारत की एकता का स्वप्न देखने वाले और अंग्रेजों को भारत भूमि से बाहर करने का संकल्प लेने वाले विलक्षण राजनीतिज्ञ थे- माधव जी सिंधिया। लेखक ने उपन्यास में माधव जी सिंधिया के चरित्र का संपूर्ण चित्रण किया है। माधव जी सिंधिया विभिन्न लड़ाकू जातियों को संगठित करके 'स्वराज्य' के सूत्र में बांधना चाहता है। इस संघर्ष में वह मुसलमानों को भी साथ लेकर चलता है। उसके संघर्ष में किसान-मजदूरों की भूमिका भी उल्लेखनीय है। गन्ना बेगम के साथ सिंधिया के प्रणय-प्रसंग के माध्यम से लेखक एक ओर यदि उसके चरित्र के कोमल रागात्मक पक्ष को उभारता है तो दूसरी ओर यह प्रसंग समूची स्त्री जाति के प्रति उसकी सामंती उच्छृंखलता और भोगवादी

दृष्टि से तिरस्कार का प्रतीक भी बन जाता है। रामगढ़ की रानी, सोनी आग महारानी दुर्गावती, कीचड़ और कमल, देवगढ़ की मुस्कान, कचनार, ललितादित्य आदि वर्माजी के अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

भुवन विक्रम 1956 ई. में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में लेखक ने मध्यकालीन इतिहास से अलग हटकर वैदिक काल के वातावरण को आधार बनाकर आधुनिक जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डाला है। उपन्यास में वर्णित नैमिषारण्य और अयोध्या दो संस्कृतियों के प्रतीक बन जाते हैं। रोमक अयोध्या का शासक है, उसके विरुद्ध नीलफजिश (दास प्रथा का समर्थक शोषक) दीर्घबाहु (संपन्न जमींदार) और मेघ (पुराण पंथी पुरोहित) षड़यंत्र करते हैं। रोमक पदच्युत होता है, और अंत में उसके पुत्र 'भुवन विक्रम' के धौम्य के आश्रम से शिक्षा प्राप्त करके लौटने पर परिस्थितियाँ बदल जाती हैं और रोमक पुनः राज्य शासन प्राप्त करता है। वह प्रजा के लिए अपनी समस्त भूमि का त्याग भी कर देता है। भुवन विक्रम के माध्यम से लेखक ने वर्ग विहीन समाज की कल्पना को चरितार्थ करने का प्रयास किया है। वर्मा जी जनहित और समाज की नवीन आवश्यकताओं के अनुरूप प्राचीन शास्त्रों के नवीनीकरण पर बल देते हैं। वास्तव में वृंदावनलाल वर्मा के लिए इतिहास केवल अतीत का पुनराख्यान मात्र नहीं था। बल्कि वे एक स्वाधीन और शक्तिशाली राष्ट्र की संकल्पना के प्रति समर्पित लेखक का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि ऐतिहासिक उपन्यास लिखते समय वर्मा जी स्वीकार करते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास की रक्षा करना अनिवार्य हो जाता है। वर्मा जी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। उनकी कथा शैली पाठक का मन सरसता से बाँधे रखती है। उनके यहाँ सामंत वर्ग और जनसाधारण दोनों का चित्रण मिलता है। उनकी कथा के अनेक सूत्र बिखरे हुए हैं लेकिन वे एक दूसरे से जुड़ते हुए चलते हैं।

वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यासों में कथा के विस्तार और उसके सर्वाधिक प्रभावशाली दृश्य हमें उपन्यास के अंत में दिखते हैं। उनके उपन्यास क्लाइमेक्स की दृष्टि से सराहनीय हैं। 'गढ़कुण्डार' का वह अंतिम दृश्य बेहद

मार्मिक है जहाँ अग्निदत्त एक नवजात शिशु के लिए युद्ध करता हुआ आत्मोत्सर्ग कर देता है। इसी तरह 'मृगनयनी' में भी अंतिम दृश्य में जहाँ लाखी अपने देश के लिए युद्ध करती हुई वीरगति को प्राप्त करती है। वे दृश्य कथा की दृष्टि से इतने प्रभावोत्पादक हैं कि वह पाठकों के समक्ष कालजयी बन जाते हैं। इसी प्रकार से उन्होंने 'झाँसी की रानी' में पठानों की वीरता, सुंदर-मुंदर, जूही, मोतीबाई के कौशल, अंग्रेजी आतंक की बर्बरता, नगरों की लूट और दोनों हाथों से तलवार चलाती हुई रानी लक्ष्मीबाई के अमर साहस के भव्य चित्र अपने उपन्यास में अंकित किए हैं। उपन्यासकार वर्मा जी की कला यथार्थ और कल्पना का अद्भुत समिश्रण है। उनके अनेक पात्र इतिहास प्रसिद्ध न होकर जनमानस के बीच से उठाये गये हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन पात्रों को भी उन्होंने उतनी ही प्रमुखता दी है जितनी कि अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय पात्रों को। उनके हर उपन्यास में नये दृश्य हैं, नये चरित्र हैं जहाँ से वे एक नई कथा गढ़ लेते हैं। उनकी भाषा में हमें बुन्देलखंडी माटी की महक सहज ही मिल जाती है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण और जायज सवाल है कि वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यासों का जिस तरह से सम्यक मूल्यांकन होना चाहिए और जो जगह उन्हें इतिहास में

मिलनी चाहिए वह अभी तक प्राप्त हो सका है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए प्रसिद्ध आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने परंपरा का मल्यांकन में जो लिखा है वह आज भी अक्षरशः सत्य है। उनका कहना है कि – "आश्चर्य नहीं है कि हमारे कुछ आलोचकों को घोड़ों की तरह खिंचे हुए स्तनों का वर्णन, इतिहास के नाम पर जनता के संघर्षों का भुलावा और अर्द्धनग्न नायिकाओं के चित्र बहुत भले मालूम पड़ते हैं। इतिहास की इस 'द्वंद्वात्मक' व्याख्या और चोली-चोर-उतारोवाद की 'मनोवैज्ञानिक' गहराई की प्रशंसा करते हुए वे नहीं अघाते। उन्हें याद रखना चाहिए कि इतिहास का निर्माण करने वाली जनता है, संस्कृति को गढ़ने वाली जनता है। उसके एक अंश ने अभी वर्मा जी को अपनाया है। जब वह शिक्षित होगी, कामकाज के साथ उपन्यास पढ़ने का अवकाश भी पा सकेगी- और साहित्य कुछ 'सहृदय' रस-मर्मज्ञों की सम्पत्ति न रहेगा- तब वह उनके नायिका-भेद को उठाकर म्यूजियम में बंद कर देगी और वर्माजी के साहित्य को इस तरह अपनायेगी, जिस तरह एक स्वाधीन देश की सुखी जनता ही अपने जन-कलाकारों को अपनाती है। उस दिन को लाने में स्वयं वर्मा जी की कला भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका पूरी करेगी। इसलिए उनकी कला आने वाले युग की बानगी भी है।"

संपर्क : 8109772600

## ‘कुम्भीपाक’ का अभ्युदय विमर्श

डॉ. तरसेम गुजराल

नागार्जुन (1911-1998) प्रतिबद्ध रचनाकार हैं परंतु प्रतिबद्धता की कठोरता में नहीं बंधते। परिवेश सजग हैं परंतु उनका यात्रीपन पूरे भारत की तरफ ले जाता है। बुद्ध और मार्क्स का दर्शन बखूबी समझते हैं परन्तु भारतीय मिट्टी से जुड़े रहकर जन संघर्ष में गहरी आस्था रखते हैं। कविता में कहते हैं-

प्रतिबद्ध हूँ/बहुजन समाज की/। अनुपल प्रगति निमित्त ‘पक्षधर’ कविता में लेखकों को बंद कमरो से बाहर निकलने के लिए प्रेरित करते हैं।

...इतर साधारण जनों से अलहदा होकर रो मत। खुद उसके उपन्यासों में गरीबी, अन्याय, शोषण, भेद-भाव, अशिक्षा का यथार्थ चित्रण करते हैं। ‘बलचनमा’, ‘वरुण के बेटे’, ‘बाबा बटेसरनाथ’, ‘कुम्भीपाक’, ‘दुखमोचन’, जैसे उपन्यासों में गांधी जिसे ‘अंतिम जन’ कहते हैं के दुःख दर्द, शोषण, उपेक्षा, दरिद्रता का संवेदनात्मक वर्णन करते हैं। ‘कुम्भीपाक’ उपन्यास स्त्री देह की तिजारत के नर्क की रचना का विषय बनाते हैं। हमारे यहाँ पुराण-साहित्य में जिस कुम्भीपाक का वर्णन है, वहाँ से न उठाकर गहरी जीवन में जिन निम्न-मध्यवर्गीय जीवन स्थितियों की मौजूदगी है उनकी गलानत स्त्री को झेलनी पड़ती है।

सीमोन के मुताबिक स्त्री पैदा नहीं होती बना दी जाती है। जर्मन ग्रियर इसमें जोड़ देती है कि पुरुषवादी समाज में स्त्री को नपुसंक या बधिया बना दिया जाता है।

नागार्जुन ‘कुम्भीपाक’ उपन्यास में स्त्री देह को व्यापार में बदलने वाले कुम्भीपाक को अपने ढंग से सामने ला रहे हैं। कुम्भीपाक का लोकल बिहार है। बिहार में पटना और दरभंगा केन्द्र में है जबकि नेपाल और बंगाल चर्चा में हैं। उपन्यास के अधिकांश पात्र साधारण जन हैं। नागार्जुन विशिष्ट लेखकों के विशिष्ट लेखन को कुलीन पात्रों वाले फिक्शन के लिए पहले ही कह चुके हैं- ‘इतर साधारण जनों से अलहदा होकर मत रहो।

‘कुम्भीपाक’ एक ही मकान में रहने वाले छः किरायेदार परिवारों की जीवनचर्या यथार्थपरक ढंग से चित्रित करता है। पढ़ने के बाद सुगठित कथानक के नहीं होने की कमी इसलिए नहीं खलती क्योंकि जीवनचक्र में आर्थिक धरातल के पिलपिला होने के बावजूद जीवनेच्छाएं जिंदा हैं, जो मजबूरन भोगवाद के खाई में धकेल देती हैं। स्त्री के भीतरी दर्द, मुक्त होने की छटपटाहट संवेदना के संस्पर्श जीवंत रूप में चित्रित है कि सुगठित कथानक नहीं होने की कमी का स्मरण तक नहीं रहता। वैसे भी हमारे इसी सभ्य समाज में निम्न वर्ग, मध्यवर्ग की कितनी

ही स्त्रियां पुरुष की वासना की नहीं/ देह व्यापार में चुपचाप बलिदान दे गई बिना अपनी कहानी कहे, जिनकी संख्या का कोई सरकारी/गैरसरकारी सही आंकड़ा कभी उपलब्ध नहीं हो पायेगा।

‘कुम्भीपाक’ उपन्यास का रचनाकाल 1957-58 का बताया जाता है। शोभाकांत ‘नागार्जुन रचनावली’ के बहाने बता रहे हैं- “‘कुम्भीपाक’ का प्रथम प्रकाशन वर्ष 1960 है। इस उपन्यास को लिखने की मानसिकता नागार्जुन ने 1957 में बनाई और पटना में लिखना शुरू किया। पटना के भिखना पहाड़ी के जिस मकान में वे रहने लगे थे, वह पूरा-का-पूरा ‘कुम्भीपाक’ में दिखता है। इस उपन्यास को वे पूरा कर पाये 1958 के अंत में कलकत्ता में।’

इस युग को हम नेहरू युग के नाम से जानते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के एक दशक बाद ही स्वप्न भंग के हालात पैदा होने लगे थे। नागार्जुन जनपथधर्मिता की निगाह से सब कुछ देख रहे थे। अक्टूबर 1964 की ‘ज्योत्सना’ में लिखा- ‘15 अगस्त 1947 के बाद कांग्रेस की राजनीति धीरे-धीरे बहकपिया अवसरवादी कूटनीति के दायरे में प्रवेश करती गई, अब 17 वर्ष बाद हम देखते हैं कि वह ‘लचकीली नर-लीला की असीम संभावनाओं का आगार बन गई है।’ नागार्जुन का बड़ा सवाल है- “‘साहित्य या राजनीति के आगे फटी जूती भी नहीं है?’” आदर्श खंडित हो रहे थे। आश्रमों की दीवारें मग्न होने लगी थीं और सुरक्षा के पर्दे गिरने लगे थे। नागार्जुन, कबीर जैसे स्पष्ट वक्ता हैं। उपन्यास ‘कुम्भीपाक’ में रायसाहब चम्पा से कहते हैं ‘...इन आश्रमों पर तुम्हारा गुस्सा वाजिब है चम्पा। मैं सब जानता हूँ.....। जिस तरह कांग्रेस बुढ़िया हो गयी है, उसी तरह देश की और भी संस्थाएँ पुरानी पड़ गयी हैं... सेवा-समिति, विधवाश्रम, अनाथाश्रम, महिलाश्रम, हितकारिणी सभा... इस तरह के सैकड़ों साइनबोर्ड फीके पड़ चुके हैं। इनमें से दो-एक संस्थाएँ कहीं जिंदा हैं भी तो गुटबाज लोग गीधों की तरह उन्हें नोच-नोच कर खा रहे हैं।’

साथ ही कहते हैं- ‘हमारा आर्यसमाज एवं देव समाज बंगालियों का ब्रह्म समाज, बम्बई वालों का प्रार्थना समाज...ये संगठन भी कमजोर हो गये हैं। अब तो

राजनीति के मैदान में भी नयी पार्टियाँ ज्यादा चमक रही हैं।’ (कुम्भीपाक, पृ. सं. 108)

इसी उपन्यास में कहा गया है- ‘15 अगस्त 1947 से पहले का वह राजनीतिक मैदान बहुत बदल गया है। खिलाड़ियों की नीयत बदल गयी है... पहले वाला वह लय जाने किधर ओझल हो गया’ स्वतंत्रता आसानी से नहीं मिली थी- ‘ऊसर मिट्टी की जमीन घोलकर नमक बनाते-बनाते हजारों सत्याग्रही पुलिस की लाठियाँ खाते थे, विदेशी माल की खरीद फरोख्त के खिलाफ दुकानों के समक्ष धरना देते थे। किसानों-मजदूरों और मध्यवर्ग के दीन-दुखी लोगों की मुसीबतों से छुटकारा पाने का आशवासन मिलता था। उन दिनों राजनीतिक मैदान बिल्कुल सपाट था...।’

अपने वर्तमान पर वह और भी स्पष्ट है- आज खाइयाँ हैं, टीले हैं, बालू हैं, दलदल हैं, दरारें हैं, जहरीली घास हैं, कँटीले झाड़-झंखाड़ हैं... आगे बढ़ने का मनसूबा तोड़ने के लिए वह कौन सी अड़चन है जो इस मैदान के अंदर नहीं है?... हाँ, इतना तो है कि बुरे-भले काम में महाप्रभुओं का साथ देते रहोगे तो भौतिक लाभ अवश्य होगा। (पृ. सं. 59)

यह दिवाकर शास्त्री हैं। स्वतंत्र भारत में सभी को एक समान व्यवहार नहीं मिलता। जिसकी ऊपर तक पहुँच है उसके लिए रास्ते खुलते चले जाते हैं। जो हाशिए पर धकेल दिया गया है केंद्र में किसी सूरत नहीं आ रहा। महाप्रभुओं की कृपा नहीं है। दिवाकर को चाहिए कि लड़का डिवीजनल ऑफिसर बन जाये। महीने को भारत सेवक समाज की ओर से ठेकेदारी मिल जाये। छोटा भाई मुखिया हो। भांजे को चीनी मिल में क्लर्क मिले। महाप्रभुओं की छत्रछाया के लिए महाप्रभुओं का साथ मध्यवर्ग में बने रहने के लिए अतिरिक्त आय चाहिए। अतिरिक्त आय का कोई सिलसिला उसके पास नहीं। जितने भी प्रकाशक थे, स्कूली किताबों के पीछे पागल थे। उनका यह पागलपन औरों की निगाह में भले ही पागलपन हो, अपने लिए तो ‘लाभ-शुभ’ का नाटक था, लक्ष्मी का वरदान। प्रतिभाशाली युवक साहित्यकार की किताबें अव्वल तो वे लेते ही नहीं थे और यदि लेकर छाप भी लेते तो अंधेरे गुदामों में उन



किताबों की रूह दस-दस साल तक घुटती रहती।'

प्रकाशन संवेदन का, भाव प्रवणता का, ज्ञान का प्रकाशन होता है। परंतु आर्थिक लाभ, पतनशीलता अंधकार से उजाले की ओर नहीं लेकर जाती। '34 से 46' तक साप्ताहिक 'शंखनाद निकाला, चार बार जेल गये, एक दिवंगत क्रांतिकारी मित्र की पत्नी का हाथ पकड़ा और द्रोपदी बनाकर छोड़ दिया- दो मिनिस्ट्रों के लिए अभिनंदन ग्रंथ तैयार करवाये, एक वयोवृद्ध प्रकाशक की स्वर्ण जयंती मनवायी। कैंची और गोंद और रही- पुरानी रीडरों से इन कई वर्षों में पचासों रीडरों औरों के नाम से तैयार की प्रकाशकों से रुपये लिए...' (पृ.सं. 63)

दास जी शास्त्री जी से दो-दो फर्में की आधी दर्जन किताबें तैयार कर देने को कहते हैं: विषय हैं- आलू की खेती, आम का धंधा, बांस का व्यवसाय, बुनियादी तालीम, नदी नियंत्रण, सोनपुर का मेला' क्योंकि बोर्ड की स्कूली लाइब्रेरी में इन किताबों की खपत है। शास्त्री जी के लिए धर्म संकट है साहित्यकार का स्वाभिमान एक तरफ, लाभ की आशा में झूलने वाला हिसाबी विवेक दूसरी तरफ। गृहस्थी विवेक ने लाभ वाले पक्ष का अनुमोदन किया। हिंदी के विशुद्ध रचनाकार की बड़ी त्रासदी की तरफ संकेत ही काफी है। शोषण के विरुद्ध लगातार लिख रहे वह कैसे शोषित होता है। अपने रचना कर्म को लेकर नागार्जुन ज्यादा स्पष्ट हैं। कृष्णा सोबती से बात करते हुए कहा- 'मैं साधारण हूँ, अपने को साधारण ही कहलवाना पसंद करता हूँ। मैं तथाकथित विशिष्ट लेखकों की जमात में नहीं हूँ। सामान्य की कशिश मेरी हड्डियों तक में रची-बसी है। विशिष्ट लेखक तो घुसे रहते हैं साहित्यिक गुफाओं में। घुसेड़े रहते हैं अपने को 'इंटलैक्चुअल बेसमेंट में' जब तक खुद ही गुफा ना बन जाये। अंधेरे में ही रहेंगे ताकि अपना व्यक्तित्व उस पृष्ठभूमि में और चमके, कुछ अनोखा नजर आए। हशमत मियां, ऐसी बौद्धिक बेसमेंट नौटंकी का मैं कायल नहीं हूँ।'

इसी लेख में राय साहब की चम्पा के साथ उस संवाद का उल्लेख है, जिसमें कहा गया है कि दो-एक संस्थान कहीं जिंदा हैं भी तो गुटबाज लोग गीधों की तरह उन्हें नोच-नोच कर खा रहे हैं। तिलकधारी दास को पुस्तकें

मंजूर करवाने वाली कमेटी के सदस्यों की पोल अच्छी तरह मालूम थी। पाठ्य पुस्तकों का अवैध व्यापार... विभिन्न जिला बोर्ड के स्कूलों में 'स्टेशनरी' के नाम पर रद्दी माल की सप्लाई... बुनियादी तालीम के क्षेत्रों से चखों और चराइयों तक का आर्डर बटोर लाना।' ये गीध भरे पड़े हैं- मंत्री महोदय, संपादक, व्यवसायी प्रकाशक.. तुरा यह कि सभी नैतिकता के अभाव का रोना-धोना भी कर रहे हैं। 'काँफी पीते समय बातें भी चलती रहीं। "लोगों में नैतिकता का अभाव हो गया है" दिवाकर जी ने कहा, "नैतिकता का रोना तो सभी रोते हैं किंतु अमल के वक्त सबकी आँखें मुंद जाती हैं..."

युवक मंत्री महोदय में कुछ तो लाज-शर्म बाकी है। उसी के माध्यम से नागार्जुन नेहरू युग के विकास के स्वप्न की बात उठाते हैं- तीसरी पंचवार्षिक योजना के सफल होते-होते हमारे देश की कायापलट हो जायेगी। आर्थिक विकास के बाद राष्ट्र का एक-एक व्यक्ति नैतिकता का प्रहरी होगा और तब हमारे सारे सपने पूरे होंगे...' यहीं एक कोने में बुकडोल्फ पर अपनी क्लासिक मुद्राओं में 'तीन बंदर' मानों इधर ही रुख किये हुए थे। नागार्जुन के राजनीतिक कटाक्ष की समझ आते हैं। उनकी कविता की एक पंक्ति का सहारा लें तो- 'जो नहीं हो सके पूर्ण काम/ मैं उनको करता हूँ प्रणाम।'

उपन्यासकार की मान्यता है कि हिंदी प्रदेश में स्त्री की दुर्दशा का एक बड़ा कारण है कि इस प्रदेश में आधुनिकता का वह लाभ नहीं उठाया जा सका जिसमें बंगाल विभूषित रहा है- 'बिहार में ही क्यों, हिंदी बोलने वाले बाकी जो चार प्रदेश हैं वहाँ भी स्त्रियों का यही हाल है!- बंगाल, महाराष्ट्र, आंध्र, केरल, मद्रास, मैसूर, पंजाब, गुजरात इन प्रदेशों में स्त्रियों का सामाजिक दर्जा कहीं ऊंचा है। पिछले दो सौ वर्षों में समाज का सुधार करने वाले ऐसे महापुरुष हिंदी भाषा वाले प्रदेशों में दो ही चार हुए हैं जिनका सम्पर्क बाहर के देशों से रहा हो। कॉलेजों से पढ़-लिखकर लड़कियाँ निकलती हैं और पुराने समाज के जंगल में खो जाती हैं। (कुम्भीपाक, पृ. सं. 109)

'कुम्भीपाक' नरकों का नरक है। उपन्यास में कम्पाउंडर की बीवी भुवन की पीठ की मैल छुड़ा रही है। गौर से

देखती है पीठ पर तीन-चार पतले निशान। पूछा- ये कैसे दाग हैं?

भुवनेश्वरी ने सहज भाव से कहा- पिटाई के निशान हैं।”

“पिटाई के”

“हाँ बेंट के।”

“किस राक्षस ने पीटा था?”

“राक्षस नहीं था जीजी, बहुत बड़े महात्मा थे वे तो- जितना ज्यादा खुश होते थे, उतनी ही अधिक पिटाई पड़ती थी। मेरी पीठ पर बाईस बार बेंतें बरसी थी न? बेहोश हो गयी थी।”

क्रूरता की यह कौन सी हद है, स्त्री बेंत से पीट रही है, स्त्री का पिटना पुरुष की खुशी है!

पतनशीलता का असर जीवन के प्रत्येक हिस्से पर होता है। दुनिया भर में विश्लेषण हुए, पाया गया कि मुक्त व्यापार का मुक्त काम (फ्री मार्केट और फ्री सेक्स) का आपसी एक-दूसरे पर निर्भर होने वाला संबंध है। अभय कुमार दूबे ने कहा कि सेक्सुअलिटी देह पर केन्द्रित होते हुए भी देह के दायरे में कैद नहीं होती। इतिहास और संस्कृति के औजार उसे बनाते हैं। आधुनिकीकरण एक खास मुकाम पर पहुँच कर ऐसे हालात तैयार करता है जिनमें अभी तक खामोश रही सेक्सुअलिटी हजार जुबानों से बोलने लगती है। (वसुधा, 59-60)

नीलेश रघुवंशी की कविता ‘भली स्त्री’ की स्त्री कुछ कुम्भीपाक की भुनव जैसी लगती है- पिटती अपमान सहती/ सिसकती धीरे-धीरे। अचानक किसी के आ जाने पर/ जुकाम कह सिकुड़ती नाक/ बाहर से सुखी सम्पन्न भीतर से टूटी-फूटी।

बुआ जब भुवनेश्वरी से कहती है कि दादा दो-एक रोज के लिए बाहर जा रहे हैं वह (भुवन) भी साथ जायेगी, भुवन का माथ ठनकता है- मुझे आज बेचने तो नहीं जा रहे? मनोरमा को भी इसी तरह कहीं छोड़ आये थे... अच्छा जजमान कोई फंसा होगा... कितने में बेचेंगे मुझे? तीन हजार में? पन्द्रह सौ में? पच्चीस सौ में? इसीलिए शाम को कल दो नफीस साड़ियाँ आई हैं। चमकीले ब्लाउज... नकली हीरे के टाप्स... नेल पालिश... लिपस्टिक स्नो और पाउडर..।’

भुवन की मनोदशा का सटीक चित्रांकन है। पापड़ सेंकने लगती है तो पहला पापड़ जल जाता है। लगा कि किसी के चिमटे से पकड़कर उसे ही मिट्टी के अंदर लटका दिया है और वह जल रही है... चट्-चट्..चट्-चट् जलते हुए कच्चे मांस की तीखी गंध हूँ आतंक की कल्पित अनुभूति तीव्रता के छोर पर आ गयी तो इससे पापड़ भी चिमटे से छूटकर दहकती सिगड़ी के अंदर जा पड़ा। कम्पाउंडर की बीवी, जिसका मायके का नाम निर्मला था, को नागार्जुन ने एक साहस भरी स्त्री की चेतना और स्त्री सुलभ करुणा और ममता दी है। भुवनेश्वरी के प्रति ज्यादा-से-ज्यादा हमदर्द है। सगी बहन की गाड़ी ममता से ओत-प्रोत है। जब भुवन उर्फ इन्दिरा के बिकने की नौबत आती है वह दृढ़तापूर्वक कहती है- अब मुझे कोई बेच नहीं सकता, न ही खरीद सकता है कोई। मैंने तुझे अपना दिल देकर खरीद लिया है। देखूँ, कौन मेरी बहन का गला काटता है।” उपन्यासकार ने इस पात्र को स्नेह, ममता, हिम्मत और भविष्य पलटने का दायित्व दिया है।

‘कुम्भीपाक’ में नागार्जुन को अपनी पक्षधरता साबित करने के लिए अलग से कुछ करने की जरूरत नहीं। किसी बड़े उपन्यासकार को यह जरूरत कभी पड़ती ही नहीं। उपन्यास में उसके पास चरित्र होते हैं। किसी एक या एक से ज्यादा चरित्रों की वाणी/मौजूदगी/कार्य व्यापार में उसकी आत्मा बोलने लगती है। यहाँ ऊँची जाति की स्त्री के सामने उन्हें निम्न जाति की स्त्री ज्यादा संघर्षशील ज्यादा मजबूत लगती है। अमूमन ऊँची जाति की स्त्रियाँ विपदा पड़ने पर सोचती ही रह जाती है। भाग्य को कोसती रहती है, अपनी सीमाएँ तोड़कर आगे नहीं आती वहीं निम्न वर्ग की स्त्रियाँ संकोच, कोई क्या कहेगा, कॉलोनी, बिरादरी में बातें होगी इत्यादि की हद तोड़कर बाहर निकलती हैं और काफी मुश्किलों को आसान बना डालती हैं। ‘कुम्भीपाक’ में दर्ज है- देहात में या शहर में मजदूर लोग अपनी औरत को बहुत आजादी देते हैं। गिरस्ती की गाड़ी को मर्द-औरत उस वर्ग में बराबर-बराबर खींचते हैं। वह हल चलाता है तो वह ढेला तोड़ती है। वह दीवार जोड़ता है तो यह ईंट ढोती है। आश्रम के मेहतर का कहीं पैर कट गया- दो महीने काम पर नहीं आया। मैंने मेहतरानी से पूछा- ‘कैसे

चलाती हो? झाड़ू दिखाकर ठसक भरी आवाज में बोली—यही मर्द है मेरा, अपने बच्चों को मैं इसी की कमाई खिलाती हूँ बहिन जी! वह साल भर भी बिस्तर पकड़े रहेगा तो भी हाय-हाय नहीं मचाऊंगी।’ (कुम्भीपाक, पृ. सं. 109)

राय साहब चम्पा से उल्लसित होकर कहते हैं—“बस, बस यहीं आत्मविश्वास में स्त्रियों में देखना चाहता हूँ चम्पा! हम बड़ी जातिवालों ने महिलाओं को पंगु बना रखा है। जीवन का सारा रस निचोड़कर मिट्टी बनाकर छोड़ दिया है... अपवाद हो सकते हैं लेकिन वह तो दूसरी बात हुई न? कल्लि निकलते ही लड़कियाँ बहू बन जायें और लेटी-बैठी सारा-सारा दिन उपन्यास पढ़ती रहें, तो वह आत्मविश्वास कहाँ से आयेगा। श्रम, प्रज्ञा, सहयोग, विवेक और सुरुचि, पुरुषों की ही बपौती नहीं है, स्त्रियों का भी साझा है इसमें।’

नागार्जुन का आधी दुनिया के प्रति दृष्टिकोण मानवीय, संवेदनशील और प्रगतिशील है। उनकी साहित्य चेतना स्त्री न तो देवी मानना चाहती है न ‘भोग्या’ या ‘दासी’ पुरुष के समानधर्मा। सहज मानवीय गरिमा से पुष्ट तथा संघर्षशील मानती है। मिट्टी की मूर्ति न बनाकर वह उसे जीवंत, मानवीय और जूझने वाली स्त्री के रूप में देखना चाहते हैं।

स्त्रियों को श्रम बाजार में दूसरे दर्जे का नागरिक समझा जाता है। आधी दुनिया, जिसके पास प्रेम का अथाह खजाना है, जिसके पास मूल्य आदर्श और सरोकार है, दूसरे के दुःख को अपना समझने का विशाल हृदय है, उसे चारदीवारी से बाहर निकलकर अपनी क्षमताओं के अक्षर/फलस्वरूप दुनिया को मधुरता, मूल्यों और मानवीयता से भर देने की जगह, छोड़छाड़, गाली, यौन शोषण, उत्पीड़न, अपमान देकर जमीन से बेदखल किया है। ‘कुम्भीपाक’ की चम्पा कहती है—‘आगे उद्योग-धंधे बढ़ेंगे, खेती-बाड़ी बढ़ेगी, जहालत और गरीबी हटेगी, साधारण जनता का जीवन सुखमय होगा।... तब स्त्रियाँ भी इस दुर्दशा से छुटकारा पायेंगी।’ रायसाहब इसकी पुष्टि कर रहे हैं—“आज की स्त्रियों को साथ लिये बिना हम आगे नहीं बढ़ेंगे। धूर्तों ने ‘त्याग की देवी’ और ‘प्राणेश्वरी’ आदि कहकर स्त्रियों की भावुकता को अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए हमेशा उकसाया

है।” (कुम्भीपाक, पृ. सं. 109)

प्रेमचंद ने ‘सेवासदन’ उपन्यास में लिखा है—‘साहसी पुरुष का कोई सहारा नहीं होता तो वह चोरी करता है, कायर पुरुष का कोई सहारा नहीं होता तो वह भीख मांगता है, लेकिन स्त्री का कोई सहारा नहीं होता तो वह लज्जाहीन हो जाती है। (सेवासदन, पृ. सं. 62)

इस टार्च के प्रकाश में उम्मी उर्फ उर्मिला की माँ का स्केच देखा जा सकता है। वह अपने उपचार के लिए आई है। महीप भरपूर शराब पीने वाला है। आत्मा में साहित्यिक संस्कारों की पौद लगी है इसलिए उन्हें ‘मामी’ कहकर बुलाता है। शराब पीकर राजनीतिक समीकरण और जागी आँखों के सपने ज्यादा उद्वेलित करते हैं। शराब के नशे और वासना के पंक में मांदरी दोनों के साथ शारीरिक संबंध बना रहा है। उम्मी की माँ विवाहिता थी। “जिस व्यक्ति ने इस मांग में सिंदूर भरा था, अपना कलेजा किसी और डात्व में रोगे रहता था। मैं उसके लिए मशीन थी, वंशवर्धन यंत्र! ...तीन बच्चे हुए। लड़की है, सोलह साल की... बाकी दोनों लड़के हैं... लड़की अभी-अभी तुम्हें झांक गयी है, नागिन सी छरहरी और खूबसूरत है”...

इस सोलह साल की छरछरी खूबसूरत लड़की का भी अपना कुम्भीपाक है। पड़ोस के दूसरी बिरादरी के एक नौजवान से पढ़ते-पढ़ते गर्भवती हो गई। माँ ने चाहा दोनों का ब्याह हो जाये परंतु लड़की के पिता ने नहीं माना, बिरादरी का आतंक जो था। समझा-बुझाकर उम्मी को अस्पताल ले जाया गया और पेट साफ करवा दिया... फिर चार-छः महीने के अंदर ही चालीस-पैंतालीस के एक अधेड़ को छोकरी के गले मढ़ दिया—“मैं राजी नहीं हो रही थी तो मुझे डंडे से पीटा गया, लगातार कई दिनों तक अंधेरी कोठरी में बंद रखा गया। दाना-पानी बंद, बातचीत बंद। बोले, ‘शोर मचाओगी तो गला घोट दूंगा। अब मैं सोचती हूँ कि मुझे खुद ही डूब मरना चाहिए था ...और तब मैं बीमार पड़ी तो बदन हड्डियों का ढांचा ही रह गया। दो-एक महीने बाद मर ही जाती मगर महिम जी पटना ले जाये।

भागलपुर में गंगा किनारे बाबा बूदानाथ के मंदिर की अंगनाई में उम्मी और महिम का ब्याह हो रहा है ‘वो इसके

खिलाफ थे, उनसे झगड़कर उम्मी को ले आयी हूँ। मांग में सिंदूर पड़ जायेगा तो नाहक एक जीव की हत्या तो न होगी! कितना सीधा है महिम, शादी के लिए चट से तैयार हो गया।” (पृ. सं. 66)

धरती पर अदृश्य परंतु मौजूद ‘कुम्भीपाक’ में उम्मी की माँ हालात की मारी प्रमात्मा नहीं तो क्या है? महिम से संबंध का राग-तत्त्व रखने पर सवाल था कैसे बांधे उसके मन को। उम्मी को महिम की अंकशायिनी बना देती है। ‘रात को बगल के दो कमरे वे दोनों (उम्मी और महिम) वे दोनों जागते होते हैं। मैं चूड़ियों की खनखनाहट सुनती हूँ और मेरे अंदर की प्यासी चुड़ैल का जंगली नाच शुरू हो जाता है...।’ उम्मी को माँ के पति के साथ संबंध सहे नहीं जाते, सो पिता के पास लौट जाती है। उम्मी की माँ विकट परिस्थितियों में भी गाँव नहीं जाना चाहती।

चम्पावती गाँव में पिटकर आती है। चम्पा को भी ‘कुम्भीपाक’ में काफी तवज्जों मिली है। शोभाकांत के अनुसार यह उपन्यास ‘चम्पा’ नाम से पाकेट बुक संस्करण में छपा था। जिससे चम्पा का महत्त्व का पता चलता है। चम्पा का विवाह हुआ परंतु दो वर्षों में पति का देहांत हो गया। जीजा कायर निकला। देह का राग जगा दिया परंतु माँ का बहाना लगा कर चम्पा से विवाह नहीं किया। खटिक नौजवान के साथ भागी। फिर दौरे बदला पिट-पिट कर मरने की जगह कटिहार से हावड़ा की गाड़ी पकड़ ली। भीख तक मांगनी पड़ी। फिर शर्मा जी का आश्रम।

औरतों की बातें-

सोनागाछी से आयी है।

छूत की बीमारी है, इससे अलग ही रहो दीदी।

देखना यह रांड कहीं तुम्हारी मुन्नी को न फुसला ले।

डायन कितनों की कलेजिया चबा गयी होगी।

कैसी बहन है कि भाई को ही खसम बना रखा है...

ऐसा न कहो बड़ी देर तक पूजा-पाठ करती है।

पाठ दिन को, पूजा रात को! (पृ. सं. 189)

चम्पा ने जीवन की धूप-छाँह देखी है/ झेली है। स्त्री की संवेदना, वेश्या की उत्कार, अच्छे घर की बहु को पशु समझे जाने का दर्द। हर रंग का पता है उसे।

- नहीं खुश नहीं हूँ। कोई भी औरत खुश नहीं है।

अच्छे घर की अच्छी बहुओं से जाकर पूछो, वे भी खुश नहीं है। हाँ हमारी घुटन और किस्म की है तो उनकी घुटन और किस्म की होगी।’ सीधी रेखा खींचना कभी भी आसान नहीं रहा, परंतु उपन्यासकार के लिए आसान हो गया है- बात करके क्या होगा। जो जहाँ हैं गर्दन तक कीचड़ में धँसा है। रंडिया नहीं होंगी तो भी उनका धंधा जिंदा रहेगा। हमने बड़े-बड़े ज्ञानी देखे हैं। वे बातें तो इतनी अच्छी तरह करते हैं कि सुन-सुन कर निहाल हो जाओगे लेकिन...

हमें वाक् वीरों की उतनी जरूरत नहीं जितने कर्मवीरों की है, जो क्रांतिकारी प्रयत्न की बात ही न करें कुछ व्यवहार में उतार कर दिखायें।

चम्पा एक स्त्री को मिली यातना उठाकर भी पुरुष जाति को गालियों की बौछार नहीं देती। एक सामान्य धरातल पर कहती है- मर्द और औरत एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते। एक की बोली दूसरे के लिए शहद है। एक की चितवन दूसरे के लिए बिजली है। उसकी गंध इसके लिए चंदन है। यह छू देगी तो उस ढंठ के दूसे निकल आयेंगे। (पृ. सं. 73)

कुंती के प्रश्न अपनी जगह हैं- “अगर ऐसी बात है तो क्यों औरतें बिकती हैं? क्यों उन पर डाक बोली जाती है? क्यों उन्हें बाड़े के अंदर कैद रखा जाता है? मामूली भूल-चूक पर क्यों औरतों को घर से निकाल देते हैं। चम्पा बहन, हम क्या अच्छे घर की अच्छी बहुएँ नहीं होती? मुझे और तुम्हें किसने बर्बाद किया।” (कुम्भीपाक, पृ. सं. 74)

चम्पा ने राय साहब से टाइपराइटर मांग कर हिंदी टाइपिंग सीखनी चाही है। इन्दिरा ‘कुम्भीपाक’ से निकलने में सफल हुई। प्रो. सदानंद और रंजना पढ़ा-लिखा कर आत्मनिर्भर बनाने वाले हैं। भुवन को चंपा का संदेश उल्लेखनीय है... ‘घबड़ाकर शादी न कर लेना भुवन, न किसी आश्रम में भर्ती होना। मुझे लगता है कि तुम समाज की इस संड़ौध से- इस कुम्भीपाक नरक से निकलकर नयी दुनिया के समझदार लोगों के बीच पहुँच गयी हो... वहाँ जहाँ के नर-नारी मिल-जुल कर आगे बढ़ते हैं, जहाँ कोई किसी की बेबसी का फायदा नहीं उठाता, कोई किसी को चकमा नहीं देता, जहाँ पुरुष बल होगा तो स्त्री बुद्ध

होगी, स्त्री शक्ति होगी तो पुरुष ज्ञान।’

नागार्जुन समाज के एक समता भरे वातावरण बनाने पर जोर दे रहे हैं जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों एक-दूसरे की शक्ति बन सकते हैं और कुम्भीपाक का अंधकार, यातना, दबाव हटाकर मानवीय लोक रच सकते हैं। ‘कुम्भीपाक’ में निर्मला जैसी साधारण में असाधारण पात्र की रचना भी हुई है।

जहाँ तक उपन्यास की भाषा का सवाल है, वह जानदार है। बाबा, पाली, अपभ्रंश, तिब्बती, नेपाली, संस्कृत, हिंदी, मैथिली, बंगला, गुजराती, मराठी के अच्छे जानकार थे। अदृश्य मन की भाषा का कवि होने के नाते अच्छा अनुवाद करते हैं। आंचलिकता उनकी भाषा का गुण है। उनकी सहज भाषा देखें

(1) कोहरा और बादल

ठण्ड और सीलापन

धुआं और भाप

सार दिल का यह हाल रहा और ठंड होते ही बारिश टूट पड़ी।

(2) समझदार और सुंदर नौजवान कारखाने में नहीं ढलते देवी जी! समाज जिनको वापस लेने के लिए तैयार नहीं होता उन लड़कियों के लिए दुनिया गंद का मैदान है, सौ ठोकरो के बाद भी निश्चय नहीं कि गोल पर पहुँच ही जायेंगी। (पृ. सं. 81)

(3) वह भारी हिसाबी था, बेजोड़ मिठ बोला।

(4) मकान मालिक किराया-दोहन का आचार्य तो था ही, अपने को एक्जिक्यूटिव इंजीनियरों का नाना भी समझता था।

कुम्भीपाक आकार में छोटा होते हुए बड़े कैनवास की रचना कर रहा है। नागार्जुन को आकार में बहुत बड़े उपन्यास लिखना पसंद नहीं था। ‘वरुण के बेटे’ भी अपेक्षाकृत छोटा उपन्यास है। इसके पीछे उनकी धारणा थी कि आकार में छोटा उपन्यास ज्यादा पढ़ा जाता है। जब वह इन पंक्तियों के लेखक के घर तीन दिन रहे तब यह धारणा उन्होंने व्यक्त की थी और अपने अंदाज में कहा था कि उपन्यास लेखन से लेखक के झोपड़े पर धन बरसता है। ‘कुम्भीपाक’ उपन्यास में हिंदी लेखक की दशा शास्त्री जी के बहाने भी व्यक्त की है।

#### संपर्क :

444ए, गजा गार्डन, पो. ऑफिस बस्ती बाबा खेल  
जालंधर- 144021, मो. 09463632855

## ‘कितने पाकिस्तान’ : रूहानी तकलीफों का दास्तान

डॉ. विवेक कुमार जायसवाल

लेक्चरर, इन्लान्सो, वाराणसी

कई संस्करण, पाठकों की लम्बी फेहरिस्त और विषय वस्तु की बदौलत हिंदी में खासा चर्चित होने वाला कमलेश्वर का उपन्यास ‘कितने पाकिस्तान’ समूची मानव जाति की पीड़ा की अभिव्यक्ति का बीड़ा उठाए सन् 2000 में छपा। हिंदी आलोचना के शिखर पुरुषों द्वारा खारिज किए जाने के बावजूद साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित होने वाली कमलेश्वर की इस रचना ने आलोचना को भी पुनर्विचार के लिए विवश कर दिया। उपन्यास के मानदण्डों से इतर, धीरोदात्त नायक के अभाव वाला, हिंसा, नफरत और अत्यंत भयावह दृश्यों को प्रस्तुत करने वाला कमलेश्वर का यह उपन्यास मनुष्य की तकलीफों की दास्तान है।

‘तकसीम न होता तो कायनात बहुत खूबसूरत होती!’<sup>1</sup> मनुष्य को एक-दूसरे से देश, धर्म, नस्ल, जाति, रंग और लिंग के आधार पर विभाजित करने वाले ये पैमाने मनुष्य को मनुष्य न रहने देकर उसे संकीर्ण दायरे में सीमित कर देते हैं। कथाकार कमलेश्वर ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास ‘कितने पाकिस्तान’ में मनुष्य को मनुष्य से बांटने की साजिशों को सामने लाने का प्रयास किया है। एक अधूरी प्रेम कथा से शुरू होकर पोखरन और चगाई में बोधि वृक्ष रोपने की कामना के साथ समाप्त हुआ कमलेश्वर का यह उपन्यास बीच के 361 पृष्ठों में पीड़ित मनुष्यता की दारुण गाथा प्रस्तुत करता है। ‘पाकिस्तान’ को विभाजन के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त करते हुए उपन्यासकार ने दुनियाभर में होने वाले विभाजनों को पाकिस्तान की संज्ञा प्रदान कर उसके पीछे छिपे कारणों की तलाश करने का प्रयास किया है। उपन्यासकार की दृष्टि यहाँ काफी विस्तार पाती है, कमलेश्वर ने जमीन के टुकड़े पर सीमा रेखा खींच कर अस्तित्व में आने वाले दो हिस्सों को ही पाकिस्तान नहीं माना है, अपितु उन्होंने मनुष्य और मनुष्य के बीच पड़ने वाली दरार को भी पाकिस्तान मानकर उपन्यास में चित्रित किया है। रचनाकार का मानना है कि व्यक्ति और व्यक्ति के बीच पड़ी दरार ही अंततः पाकिस्तान को जन्म देती है। यहाँ पाकिस्तान से आशय नफरत और घृणा से है। सम्पूर्ण रचना गैरकुदरती ढंग से मनुष्य को बांटने की साजिशों का विरोध करती नजर आती है। इस रचना के माध्यम से कमलेश्वर ने अतीत की गलतियों से रूबरू कराते हुए एक नई दृष्टि प्रदान करने की कोशिश की है, ताकि आने वाली पीढ़ी विघटनकारी प्रवृत्तियों की साजिशों का शिकार होने से बच सके, सुखद भविष्य का निर्माण कर सके। उपन्यास में ‘यह उम्मीद सदैव बनी रहती है कि दुनिया भर में एक के बाद दूसरे पाकिस्तान बनाने की खून से सनी यह परम्परा अब खत्म हो।’<sup>1</sup>

लमहों ने खता की थी...

सदियों ने सज़ा पाई.....

– यह खता जहाँगीर ने की थी।<sup>12</sup> अंग्रेज व्यापारी को सूरत के बंदरगाह पर लंगर डालने और गोदाम बनाकर व्यापार करने की जो अनुमति जहाँगीर ने दी थी, उसकी परिणति भारतीय महाद्वीप के गुलामी की जंजीरों में जकड़ने और विभाजित होने के रूप में हुई। कथाकार कमलेश्वर ने उपन्यास के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारत में आने वाले विदेशी आक्रांताओं ने इस देश पर आक्रमण कर इसे लूटा भले हो, पर एक बार जीत हासिल करने के बाद वे सभी यहीं के होकर रह गए। पर अंग्रेज व्यापारियों ने भारत को केवल एक उपनिवेश और सोने की चिड़ियाँ के रूप में देखा। भारत से उनका लगाव केवल यहाँ धन-सम्पदा तक ही सीमित था। अंग्रेजों और अन्य बाहरी आक्रमणकारियों के बीच के इस अंतर को उजागर करने वाले कमलेश्वर ने अपनी इस रचना में साम्राज्यवादी शक्तियों के गलत इरादों को बेनकाब करने का प्रयास किया है। कमलेश्वर का यह प्रयास केवल भारत और भारत में उपनिवेश करने वाली ब्रिटिश सत्ता के अत्याचारों का ही लेखा-जोखा प्रस्तुत नहीं करता, अपितु यह सम्पूर्ण विश्व में साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा अपने लाभ के लिए अपनाई गई बर्बर प्रवृत्तियों का भी खुलकर प्रतिरोध करता नजर आता है।

उपन्यासकार कमलेश्वर का यह प्रतिरोध अदीब की अदालत में सुनवाई के दौरान सामने आता है। इस अदालत में सदियों पहले मानवता के विरुद्ध किए गए अपराधों की सुनवाई होती है। अदालत के वातावरण चित्रण के माध्यम से कमलेश्वर ने पीड़ा और अपराध की गंभीरता को उजागर किया है। अदालत में उपस्थित मुद्दों की चीख-पुकार सुनायी देती है। ये सारा वातावरण स्थिति की भयावहता को प्रस्तुत करने में पूरी तरह सक्षम है। यह अदालत सदियों पहले घटी घटनाओं की वास्तविकता को उजागर कर उसके दोषियों को सामने लाने का प्रयास करती है। एक अनुभवी वकील की तरह जिरह करते अदीब की अदालत में बाबर से लेकर तमाम उन शासकों-महाराजाओं, इतिहासकारों, वैज्ञानिकों और अंग्रेज अधिकारियों को

उपन्यासकार ने उपस्थित करवाया है जिन पर मानवता के विरुद्ध अत्याचार के आरोप लगते रहे हैं। साथ ही अपने ऊपर हुए अमानवीय अत्याचारों और अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त करने के लिए तमाम सताए हुए लोग अदीब की अदालत में उपस्थित होते हैं। अदीब की यह अदालत एक-एक अन्याग्रस्त व्यक्ति की पीड़ा की सुनवाई करते हुए उसके लिए जिम्मेदार व्यक्ति को कटघरे में खड़ा करती है। यह अदालत सदियों पहले की गई गलतियों और साजिशों पर से पर्दा उठाने का प्रयास करती है, ताकि पीड़ितों को न्याय तो मिले ही, साथ ही आने वाली पीढ़ियाँ उस अभिशप्त जीवन को जीने से बच सकें जिसे उनके पूर्वजों ने जिया है। धर्म, जाति, लिंग, वर्ण, क्षेत्र, भाषा, सांस्कृतिक श्रेष्ठता के दंभ और कुलीनता तथा शक्ति और साम्राज्य विस्तार के लिए सताए गए लोगों की पीड़ा को अभिव्यक्ति प्रदान करता कमलेश्वर का यह उपन्यास इतिहास के उत्खनन के सहारे भविष्य को सुखद बनाने का एक प्रयास है।

भारत की आजादी के साथ अर्वाक्षित रूप में जुड़े हुए विभाजन के कारणों की तलाश करते कमलेश्वर की निगाह इतिहास पर जाकर टिक जाती है। कमलेश्वर का यह उपन्यास भारतीय इतिहास की उन घटनाओं को परत-दर-परत खोलता चलता है, जो भारत के विभाजन के लिए जिम्मेदार थीं। सन् अठारह सौ सत्तावन में साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध उठने वाली असंगठित आवाज, जिसे कभी 'सैन्य विद्रोह' कह कर उसकी उपेक्षा करने की कोशिश की गई तो कभी 'भारत का प्रथम स्वाधीनता संघर्ष' कहकर महिमामंडित करने का प्रयास किया गया, ने साम्राज्यवादी ताकतों को भविष्य में भारतीय नागरिकों से मिलने वाली चुनौती का एहसास करा दिया था। भविष्य में इस चुनौती का सामना करने और अपने साम्राज्य को और मजबूती प्रदान करने के लिए साम्राज्यवादी ताकतों ने सन् 1857 में अंग्रेजों के खिलाफ साथ लड़ने वाले हिंदू और मुसलमानों को विधर्मी होने का अहसास करवाया। अलग-अलग संस्कृतियों के बावजूद सह अस्तित्व की संस्कृति को विनष्ट करने की साजिशें रची गईं। 'पालिसीज़ बदलीं और तब यह तय किया गया कि हिंदू और मुसलमान, जो

1857 में एक हुए थे, इन्हें अलग-अलग रखा जाए... नहीं तो अंग्रेजी हुकूमत चलने नहीं पाएगी।' बदली हुई इस पालिसी ने पूरे देश की नयी तस्वीर खींच दी। फूट-डालो और राज करो की नीति के साथ रह रहे भारतीय हिंदुओं और मुसलमानों के भेद डाल दिया। इस भेद की भयानक परिणति विभाजन और आजादी के आस-पास के दिनों में हुए भयानक सांप्रदायिक दंगों के रूप में हुई। सांप्रदायिक दंगों और विभाजन के लिए अंग्रेजों को जिम्मेदार मानने वाले कमलेश्वर ने उपन्यास में जिन्ना को भारत विभाजन के गुनहगार होने के आरोप से मुक्त करने की कोशिश की है। कमलेश्वर ने उपन्यास में जिन्ना को ब्रिटिश सत्ता के हाथों की कठपुतली के रूप में चित्रित किया है। यहाँ जिन्ना एक ऐसे राजनीतिज्ञ के रूप में सामने आते हैं, जो एक बार धर्म आधारित राजनीति का सहारा लेने के बाद धार्मिक राजनीति के दलदल में पूरी तरह फँस जाते हैं, और चाहकर भी बाहर नहीं निकल पाते हैं। सन् 1937 में पाकिस्तान की मांग को एक नामुमकिन सपना मानने वाले जिन्ना बाद में खुद पाकिस्तान की माँग पर अड़े हुए नजर आते हैं। उपन्यासकार ने बड़ी ही सफाई से एडविना और माउण्टबेटन की बातचीत के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जिन्ना अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली बन गए थे, अपनी राजनीतिक सत्ता बनाए रखने के लिए उन्होंने एक बार पाकिस्तान की मांग का समर्थन कर दिया तो फिर उस निर्णय से चाह कर भी पीछे नहीं हट सके। अंग्रेजों ने जिन्ना की इस मजबूरी का फायदा उठाया।

भारत विभाजन के आरोपों से मुहम्मद अली जिन्ना को बाइज्जत बरी करने वाले कमलेश्वर स्वाधीन भारत की एक और विवादास्पद घटना का उल्लेख उपन्यास में करते हैं। भारत की आजादी के बाद होने वाले सांप्रदायिक दंगों का प्रमुख कारण बनी 'बाबरी मस्जिद' विवाद पर उपन्यासकार ने एक नयी दृष्टि डालने का प्रयास किया है। कमलेश्वर ने तमाम सबूतों और अदीब की अदालत में इतिहासकारों शासकों और सामंतों की गवाही दिलाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जिसे आज बाबरी मस्जिद कहा जाता है उसका निर्माण बाबर ने नहीं करवाया था। साथ ही कमलेश्वर यह भी स्पष्ट करते नजर आते हैं

कि इस मस्जिद का निर्माण करवाने के लिए किसी मंदिर को तोड़ा नहीं गया था। बल्कि खाली जगह पर 'हिजरी 930 यानी करीब 10 सितंबर सन् 1523 में इब्राहिम लोदी ने उस मस्जिद की नींव रखवाई थी, और जो 10 सितंबर 1524 में बन कर तैयार हुई, जिसे अब बाबरी मस्जिद कहा जाता है।'<sup>14</sup> तमाम इतिहासकारों और सरकारी गजट तथा 'बाबरनामा' के हवाले से कमलेश्वर ने बाबर पर राम मंदिर तोड़ कर बाबरी मस्जिद का निर्माण करवाने के आरोपों को बेबुनियाद और गढ़ा हुआ सिद्ध करने का प्रयास किया है। बाबरी मस्जिद प्रकरण पर बेबाक निर्णय देने वाले उपन्यासकार कमलेश्वर ने अपनी इस रचना के माध्यम से अतीत की गलतियों को सामने लाने का प्रयास किया है। रचनाकार का यही उद्देश्य है कि अतीत में साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा गढ़े गये सबूतों को बेनकाब कर सच्चाई पर से पर्दा उठाया जाय, ताकि आने वाली पीढ़ी झूठे और गढ़े गए तर्कों के आधार पर आपस में वैमनस्यतापूर्ण अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश न हो। भारतीय इतिहास की दो महत्वपूर्ण घटनाओं पर एक स्पष्ट दृष्टिकोण रखने वाले कमलेश्वर ने न केवल भारत अपितु विश्व भर की पीड़ित मानवता की पीड़ा को अभिव्यक्ति प्रदान करने की कोशिश की है।

मनुष्य की अधिक से अधिक शक्ति संपन्न होते चले जाने की प्रवृत्ति के भयावह परिणाम के रूप में हुए विश्वयुद्ध में अमेरिका द्वारा जापान पर गिराए गए परमाणु बम की बीभत्सता का चित्रण करते हुए कमलेश्वर ने तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति को कटघरे में खड़ा करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि युद्ध के अंतिम समय में किया गया यह परमाणु हमला केवल बम की घातक क्षमता का अंदाजा लगाने के लिए किया गया था। इस परमाणु हमले का उद्देश्य मनुष्यों पर बम की मारक क्षमता का पता लगाना था। शक्तिशाली होने के उन्मादी दौड़ में शामिल साम्राज्य द्वारा 'हिरोशिमा' और 'नागासाकी' को मनुष्य की प्रयोगशाला के रूप में इस्तेमाल किए जाने के रहस्य पर से पर्दा उठाने का प्रयास किया है। कमलेश्वर ने अपने इस उपन्यास में टूमैन तथा विनाशक बम बनाने वाले वैज्ञानिकों को मानवता का अपराधी घोषित करते हुए स्पष्ट करने का



प्रयास किया है कि 'सृष्टि के इतिहास में यह जघन्यतम और कल्पनातीत पाप का अकेला उदाहरण है। पापियों के पाप की यह पराकाष्ठा है... यह एटमयुग की पुराणकथा के हिंसक दैत्य के रूप में जाने जाएँगे। इनकी नैतिक आत्माओं का कोई अंतिम विश्राम स्थल नहीं होगा... हत्या से यह शोकमुक्त नहीं होंगे।'<sup>5</sup> अतीत के अपराधों का उल्लेख करते हुए कमलेश्वर की निगाह अपने वर्तमान से हटती नहीं है। साम्राज्यवादी शक्तियों के बदले स्वरूप पर भी कमलेश्वर की लेखनी चली है।

भूमण्डलीकरण और उदारीकरण जैसे लोकलुभावन नारों के सहारे साम्राज्यवादी शक्तियाँ एक बार फिर से पूरे विश्व पर अपना प्रभाव स्थापित करने में सफल होती नजर आ रही हैं। उदार अर्थव्यवस्था और उपभोक्तावाद के इस दौर में अनेक व्यावसायिक कंपनियाँ निवेश के नाम पर छोटे देशों, विशेष रूप से तीसरी दुनिया के विकासशील देशों में अपना प्रभुत्व जमाती चली जा रही हैं। इन देशों की सरकारें कमजोर आर्थिक स्थितियों के कारण बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सामने विवश नजर आती हैं। आज साम्राज्यवाद एक नए रूप में सामने आ रहा है। कल्याणकारी योजनाओं की आड़ में पूँजीवाद को बढ़ावा देने वाला यह साम्राज्यवाद एक नए बाजार को जन्म दे रहा है। इस विकसित होते नए बाजार ने मनुष्य के सपनों और संवेदनाओं का नया व्यापार खोज निकाला है। आदिम को सभ्य बनाने का दंभपूर्ण दावा पेश करने वाला यह बाजार उपभोक्ता हित की आड़ में अपना हित साधता है। पूँजीवादी साम्राज्यवाद के इस खतरनाक नए रूप को उद्घाटित करते हुए कमलेश्वर कहते हैं- 'बाजारों के लिए ही बनते हैं साम्राज्य! और साम्राज्यों को जीवित रखने के लिए ही बनाए जाते हैं बाजार! साम्राज्यों की नाभि बाजार से जुड़ी है। साम्राज्यों के रूप बदल सकते हैं... वे प्रजातांत्रिक आर्थिक साम्राज्य का रूप ले सकते हैं परन्तु, इन पूँजीवादी प्रजातंत्रों को जीने के लिए मुनाफे के बाजारों की जरूरत है... बाजार! बाजार! बाजार!!! यही है औद्योगिक क्रांति का सतत् जीवित रहने की मजबूरी भरा सिद्धांत! यही है पूँजीवाद। इसी का दूसरा नाम है साम्राज्यवाद। तीसरा नाम है उपनिवेशवाद। और आज दस्तक देती हुई नई सदी में इसका नाम है

बाजारवाद!'<sup>6</sup> साम्राज्यवाद का यह नया रूप आज हमारे जीवन में अपनी पर्याप्त घुसपैठ बना चुका है। यह धीरे-धीरे अपने उपनिवेश की संस्कृति को प्रभावित कर रहा है। बाजार केवल उस संस्कृति के पक्ष में खड़ा नजर आता है तो उसे पुष्पित-पल्लवित करने में सहायक हो। संस्कृति के नाम पर ही लोगों को बांटा गया। उन्हें संस्कारवान बनाने के नाम पर किए गए बर्बरता पूर्ण अत्याचारों का संकेत उपन्यासकार ने अनेक स्थानों पर दिया है। मनुष्य द्वारा दी गयी पाशविक यातनाओं के इस चित्रण में कमलेश्वर ने 'उपन्यास में आर्यों के आगमन की भ्रांत धारणा का खंडन, प्राचीनतम सभ्यताओं; मसलन् बेबीलोनिया, मेसोपोटामिया, सुमेरी, अक्कादी और सिन्धुघाटी की सभ्यताओं के बीच अन्तः संबंधों की खोज, दजला-फरात, चीनी-मिस्री सभ्यताओं की अन्योन्याश्रित का अध्ययन और आगे बढ़ते हुए कई धड़ों में उनके विभाजित हो जाने जैसी ऐतिहासिक घटनाओं का'<sup>7</sup> चित्रण किया है। इस चित्रण में उपन्यासकार ने विश्व की तमाम सभ्यताओं और सदियों की यात्रा की है।

उपन्यास में कमलेश्वर की यह यात्रा उपन्यास के कथानक और उसके स्वरूप में आमूल-चूल परिवर्तन कर देती है। यहाँ आम हिंदी उपन्यासों की भांति एक या दो कथाओं का समुच्चय नहीं, यह तो उन तमाम कथाओं का एक पिटारा बन गया है, जिनका संबंध मनुष्य की पीड़ा से है, चाहे वह किसी भी धर्म, जाति अथवा देश का हो। विभिन्न कथाओं को अपने आप में समेटने वाली कमलेश्वर की यह रचना एक सचेत पाठक की अपेक्षा करती है। इसकी कथाओं के सूत्र कहीं वर्तमान से जुड़े हैं तो कहीं कथा का संदर्भ सदियों पहले घटित हुई घटनाओं से जुड़ जाता है। उपन्यास में नायक, महानायक और खलनायक तीनों भूमिकाएँ एक साथ 'समय' अर्थात् 'वक्त' ही निभाता हुआ दिखाई पड़ता है। कथाकार कमलेश्वर ने वक्त की एक अदालत की स्थापना उपन्यास में की है। यह अदालत अपनी मौत से पहले ही मार दिये गए लोगों की पीड़ा को सुनती है, फैसले सुनाने का वक्त उसे नहीं मिल पाता। जब तक अदालत एक मुकदमे की सुनवाई करती है, तब-तक दूसरा पीड़ित अपने पीड़ा की अभिव्यक्ति करना शुरू

कर देता है। यह अदालत बेवक्त मारे गए मुर्दों की पीड़ा से भरी हुई है। इस अदालत की सुनवाई अदीब करता है।

नफरत, हिंसा, रक्त, आँसू और मुर्दों से घबराया अदीब मोहब्बत की शरण लेता है। रचनाकार की यह मानसिक चंचलता पाठकों को अचानक प्रेम लोक का विचरण करवाने लगती है। यह चंचलता तात्कालिक सुकून तो देती ही है साथ नफरत और मोहब्बत के बीच फर्क का पाठ भी पढ़ाती है। अदीब उपन्यास के अंत में दिल की बीमारी के कारण अस्पताल के आई.सी.यू. में भर्ती होते हैं, जो कमलेश्वर के निजी जीवन में घटी सच्ची घटना है। इसी अस्पताल में कमलेश्वर की मुलाकात एक बार फिर विद्या से होती है। परंतु विद्या अब विद्या नहीं वह बेगम नदीम खान बन गई थी। उपन्यास के आरंभ में ही अधूरी रह गई अदीब और विद्या की अनकही प्रेम कहानी रचना के अंत में एक नया मोड़ ले लेती है। गर्मी की छुट्टियों में इलाहाबाद से कानपुर तक की यात्रा में बिना किए वादे के मुताबिक सहयात्री बनने वाली विद्या का बेगम नदीम खान बनना भी भारत विभाजन की ही देन था। आजादी के बाद भड़के दंगों में विद्या के परिवार वाले मारे जाते हैं, बदहोश विद्या पाकिस्तान जाते परिवार वालों के हाथ पड़ जाती है। परिवार के साथ वह पाकिस्तान तक सुरक्षित पहुँच जाती है। वहाँ उसकी नयी जिंदगी की शुरुआत होती है। अदीब और विद्या की इस अनकही प्रेम कहानी के अतिरिक्त अदीब और सलमा की प्रेमकथा का चित्रण उपन्यासकार ने किया है।

सलमा एक ऐसी मुसलमान महिला के रूप में चित्रित हुई है, जिसका जन्म सन् 1947 में हुआ और जिसका परिवार भी विभाजन की त्रासदी का शिकार हुआ। उपन्यास में सलमा एक आधुनिक और सुलझी हुई जागरूक महिला के रूप में सामने आती है। मुस्लिम महिलाओं के मन में रूढ़ियों की जंजीरों से आजादी की तड़प की नुमाइन्दगी करती सलमा अपनी भरपूर जिंदगी जीना चाहती है। वह आधुनिक नारी की प्रतीक है जो अपने विरुद्ध होने वाले अत्याचारों का मुँहतोड़ जवाब देती है। जबकि विद्या उस परंपरागत नारी का प्रतिनिधित्व करती नजर आती है जिसके लिए अपने ऊपर हुए अत्याचारों के बारे में दूसरों या अपने परिवारवालों को बता पाना भी नामुनकिन था। यही

कारण है कि वह धर्म के नाम पर हिंदू युवकों की पाशविक वासना का शिकार भी होती है। पाकिस्तान जाने के बाद भी उसे धर्म रक्षा के नाम पर उसके साथ किया गया अत्याचार और आलू का वह गोदाम उसकी स्मृतियों में तकलीफों को ताजा करता रहता था जहाँ धर्मांध हिंदू युवकों द्वारा उसकी इज्जत लूटी गई थी। पर सलमा विद्या के स्वभाव से विपरीत अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों का खुल कर मुकाबला करती नजर आती है। अपनी निजी जिंदगी के साथ ही वह धर्म और सामाजिक मान्यताओं तथा इस्लाम की रूढ़ियों और फतवों के बहाने मुस्लिम महिलाओं के शोषण का विरोध करती है। अदीब-विद्या, सलमा की इन प्रेमकथाओं के अतिरिक्त उपन्यास में स्पंदित होती एक और अधूरी प्रेमकथा बूटासिंह और रेतपरी जेनिब की है।

विभाजन के बाद अपने देश और अपने मुल्क जाते परिवारों से औरतों और लड़कियों को मार कर छीन लेना और उन्हें बेच देना सीमा के दोनों ओर आम बात हो गई थी। ऐसे ही एक परिवार, जो पाकिस्तान जा रहा था, से जेनिब को एक युवक 'लूट' कर लाया था। उस युवक से जान बचाकर भागती जेनिब बूटासिंह के शरण में पहुँचती है। जेनिब के बदले में एक हजार रुपये चुका कर बूटासिंह जेनिब को बचाता है। कथाकार कमलेश्वर ने इस इंसानी कहानी को बड़ी ही कुशलता के साथ देव सृष्टि की तुलना में श्रेष्ठ सिद्ध कर दिया है। फटे हुए कपड़ों में रात बिताने के लिए जेनिब को रेत में ढक कर सुलाने वाला बूटा सिंह उन देवताओं से कहीं अधिक संवेदनशील दिखलाई पड़ा है जो भोग और विलास की संस्कृति के पोषक हैं। उपन्यासकार ने देवताओं के भोग विलास की तुलना में मानव सृष्टि को अधिक उदार और संवेदनशील दिखाया है। क्योंकि '... धरती के मनुष्य ने प्रेम और मित्रता के अलावा प्रजनन ही वैध परंपरा का आविष्कार भी कर लिया है, इसलिए उन्हें संस्कार जैसी महाशक्ति भी प्राप्त हो गई है... तुम्हारे (देवताओं के) पास केवल वासना है, प्रेम नहीं। केवल वैयक्तिक श्रेष्ठता का द्वेष है इसलिए मित्रता नहीं! तुमने स्त्री को मात्र भोग्या मान कर अवैध संतानों का देवलोक स्थापित कर लिया है, पर इस देवलोक के पास कोई संस्कार या परंपरा नहीं है....'<sup>18</sup> संस्कार विहीन देवलोक

की तुलना में प्रेम करुणा तथा मैत्री जैसे मानवीय मूल्यों को महत्त्व देता मानवलोको निःसंदेह श्रेष्ठ नजर आता है। कथाकार कमलेश्वर का यह उपन्यास अपने भीतर तमाम सदियों की गाथाओं, मिथकों और यथार्थ को समेटे हुए आगे बढ़ता चला जाता है। इतिहास की गहरी छानबीन करता कमलेश्वर का यह उपन्यास मानवीय पीड़ा की अभिव्यक्ति है। यहाँ इतिहास अपने यथार्थ स्वरूप में कल्पना के साथ अवतरित हुआ है। कमलेश्वर की रचनात्मकता के सहारे इतिहास अपने दौर की विसंगतियों को पूर्ण रूप में अभिव्यक्त करने में सफल रहा है। जटिल संरचना के कारण उपन्यास की तह तक पहुँचने के लिए एक प्रबुद्ध पाठक की अपेक्षा करता कमलेश्वर का यह उपन्यास पाठकों में एक नई समझ पैदा करता है। एक ऐसी समझ जिसके भरोसे कमलेश्वर भविष्य को सुखद और उज्ज्वल बनाना चाहते हैं। सपने, मुहब्बत, जंग, नफरत, साजिश, घृणा, दर्द, खून, मवाद, जिन्दा-मुर्दा, शोषण, आँसू, अहिंसा, करुणा और उम्मीद के बीच विचरते कमलेश्वर ने 'कितने पाकिस्तान' के बहाने समूची मानव जाति के इतिहास को खंगाला है। न केवल खंगाला है वरन् इतिहास और लिख

गए के बीच के फासले को भी दिखाया है। उपन्यास की अंतिम पंक्ति में अंधा कबीर झोले में बोधि वृक्ष लिए शक्तिपीठों को शांतिपीठ में बदलने का प्रण किए निकलता है। उसके कदम बढ़ाने से पहले उसकी सफेद छड़ी आगे बढ़ती है। सफेद छड़ी प्रतीक है शांति का और साथ ही बोधि वृक्ष प्रतीक है बुद्ध की करुणा और प्रेम का। वह प्रेम जिसकी सीमा में समस्त प्राणियों के लिए आसरा हो।

#### संदर्भ:

1. डॉ. वी. के. अब्दुल जलील, समकालीन हिंदी उपन्यास समय और संवेदना, पृ. सं. 107
2. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, पृ. सं. 287
3. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, पृ. सं. 73
4. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, पृ. सं. 72
5. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, पृ. सं. 352
6. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, पृ. सं. 291
7. ज्योतिष जोशी, सभ्यता के गहन विमर्श का उपन्यास, वागर्थ, पृ. सं. 122, मई-जून 2007
8. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, पृ. सं. 29

#### संपर्क:

द्वारा डॉ. दीपक मलिक  
39 ए, रवीन्द्रपुरी कॉलोनी, लेन नं. 5,  
वाराणसी- 221005, मो. 09455430592

## ग्लोबल गाँव का देवता : आदिवासी समाज का आर्तनाद

डॉ. प्रिया राय

ग्लोबल गाँव का देवता रणेन्द्र का बहुचर्चित उपन्यास है। सौ पृष्ठों के इस उपन्यास में अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए संघर्षरत आदिवासियों की मार्मिक कथा है। यह उपन्यास झारखंड के असुर समाज की पीड़ा को पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त करता है। वैश्वीकरण के दौर में मल्टीनेशनल कंपनियाँ अपने क्षेत्र का विस्तार करते-करते उन अविकसित, अँधेरे हिस्सों में भी पहुँच गयी हैं जहाँ पर आदिवासी समाज रहता है। अपने लाभ और हित के लिए इन्हें किसी की भी चिंता नहीं है। संसाधनों का दोहन और बाजार का विस्तार ही इनका उद्देश्य है। अपने फायदे के लिए आदिवासी समाज को विस्थापित करने में भी ये नहीं हिचकते। झारखण्ड राज्य के असुर; एक आदिवासी समाज हैं। कोयलबीघा के भौरापाट में बाक्साइट की खदानें हैं जहाँ बाक्साइट का दिन-रात खनन हो रहा है। इससे इन कंपनियों को लाभ तो होता है लेकिन आदिवासी समुदाय के लिए जीवन नर्क से भी बदतर हो जाता है। रुमझुम पाट के जीवन के बारे में मास्टर से कहता है- 'पानी और जलावन जुटाने में ही हमारी औरतों की आधी जिंदगी गुजर जाती है। बंद खदान के सैकड़ों गड्ढे विशाल पोखरों में बदल जाते हैं। कीचड़ में लोटते सूअरों और हमारे बच्चों में फर्क करना मुश्किल हो जाता है।'<sup>1</sup>

पूँजीवाद और राजसत्ता दोनों ही वैश्वीकरण को बढ़ावा दे रहे हैं जिसके फलस्वरूप आज कई आदिवासी समुदाय और उनकी संस्कृति विलुप्त होने के कगार पर हैं। आदिवासी समाज को छलने वाले ये लोग बेहद शातिर हैं। विकास के नाम पर धीरे-धीरे इनके पूरे जल, जंगल, जमीन पर कब्जा किया जा रहा है। अपने वर्चस्व को स्थापित करने प्राकृतिक संसाधनों को हथियाने के लिए मुख्यधारा सदियों से आदिवासी समाज को धकेलती-खदेड़ती, विस्थापित करती जा रही है। इस बात का संकेत रणेन्द्र अपने उपन्यास में देते हैं- "...वह क्या था जिसके कारण एक समुदाय बहुसंख्यक समुदाय के लिए 'अन्य' में तब्दील हो गया।... छाती ठोंक-ठोंककर अपने को अत्यंत सहिष्णु और उदार कहने वाली हिंदुस्तानी संस्कृति ने असुरों के लिए इतनी भी जगह नहीं छोड़ी थी। वे उनके लिए मिथकों में शेष थे।"<sup>2</sup> केवल असुर समाज ही नहीं, अमेरिका के रेड इंडियंस और अफ्रीका, आस्ट्रेलिया के आदिवासियों सभी का एक समान इतिहास है दमन, यातना, विस्थापन से भरा हुआ।

वैश्वीकरण के इस दौर में आदिवासी समाज अपनी पहचान, अपने अस्तित्व को बचाने के लिए संघर्ष कर रहा है। रुमझुम प्रधानमंत्री को पत्र लिखता है- 'हम असुर अब सिर्फ आठ-नौ हजार ही बचे हैं।... और हम खत्म नहीं होना चाहते। हमें बचा लीजिये श्रीमान्।'<sup>3</sup> यह गुहार

अपने जाति को बचाये रखने की है। लालचन दा के मन में भी यही प्रश्न है कि कब तक पीछे हटा जाए और कहाँ तक पीछे हटा जाए इस पाट के बाद कहाँ? आदिवासी समाज के लिए यह यक्ष प्रश्न है कि वह कहाँ-कहाँ से खदेड़े जायेंगे और कहाँ रहेंगे?

कोयलाबीघा प्रखण्ड में रहने वाले आदिवासियों के जीवन पर प्रश्नचिह्न तब लगता है जब भेड़िया अभ्यारण्य बनाने के लिए इस क्षेत्र के सैंतीस गाँवों को खाली कराने की सरकारी योजना आती है। अभ्यारण्य की तारबंदी का काम वेदांग कंपनी को दिया गया। वन विभाग से भेजे गये रिपोर्ट के अनुसार भेड़ियों की संख्या 728 थी पर अब केवल 176 हो गयी है और उसका बचाया जाना जरूरी है। वन विभाग ने असुरों और आदिवासियों को अपने क्षेत्र में घुसपैठिया माना इसलिए वे गाँव खाली करना चाहते हैं। आदिवासियों ने भी संकल्प लिया है कि 'जान देंगे जमीन नहीं देंगे।' दरअसल बाक्साइट खनन को बाधा रहित करने के लिए अभ्यारण्य योजना एक साजिश है। इसके विरोध में आदिवासी एक आवाज उठाते हैं तो उनकी आवाज को दबाने की कोशिश की जाती है। आदिवासियों के संघर्ष से ग्लोबल गाँव के आकाशचारी देवता बेचैन हो उठते हैं। आकाशचारी देवता और शासन सत्ता मिलकर आदिवासियों को मिटाने में लग जाते हैं। आदिवासियों के संघर्ष समिति को साजिश के तहत तुड़वा दिया जाता है और लालचन दा को अपनों से अलग-थलग कर दिया जाता है। शांति पूर्ण ढंग से घेराव प्रदर्शन कर रहे निहत्थे आदिवासियों पर गोलियाँ बरसायी जाती हैं। जिसमें बालचन और अन्य पाँच लोगों की मौत हो जाती है। लोकतंत्र का चौथा स्तंभ, सजग प्रहरी कहा जाने वाला मीडिया भी कंपनियों का पिछलग्वा बना हुआ है। जो समाचार प्रमुखता से छपना चाहिए या उसे एक कोने में छोटा करके छपा जाता है। पाथरपाट के नृशंस हत्याकांड के बारे में कुछ नहीं छपता है और जो खबर छपी भी तो उसमें इन आदिवासियों को नक्सली घोषित कर दिया गया। यह मीडिया और आकाशचारी देवताओं (बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ) की मिली साँठ-गाँठ है। भोले-भाले आदिवासियों को किस तरह यातनाएँ प्रताड़नाएँ दी जाती हैं और कितनी आसानी

से उन्हें नक्सली घोषित कर ये लोग अपना काम करते हैं इसका विवरण उपन्यास में इस तरह है- 'तीसरे पेज पर दो कालम का समाचार छपा था कि पाथरपाट में हुए पुलिस मुठभेड़ में छह नक्सली मारे गये। मारे गये नक्सलियों में कुख्यात एरिया कमांडर बालचन भी शामिल था।... भागते समय नक्सली लाशें उठाते गये। पुलिस फोर्स लोगों की तलाश कर रही है।' पुलिस द्वारा लालचन को उठाकर तरह-तरह की यंत्रणा दिया गया। उन्हें अधमरा कर उनसे एक सादा कागज पर हस्ताक्षर करवाकर छोड़ दिया गया। पाथरपाट में खबर फैला दी गई कि असुर समुदाय की ओर से लालचन ने समझौता कर लिया है कि कोई हड़ताल नहीं होगी। और समझौते के एवज में उन्हें फ्लैट और ट्रैक्टर दिया गया है। लालचन को अपने समुदाय के लोगों ने समाज से बहिष्कृत कर दिया। कंपनी वालों ने साजिश के तहत अपना पूरा काम सुनियोजित ढंग से किया। वेदांग कंपनी और पुलिस प्रशासन से बातचीत करने के लिए जा रहे ललिता, बुधनी, गन्दू। एतवारी लालचन दा के बा के साथ पन्द्रह लोग जाते हैं लेकिन रास्ते में ही लैण्ड माईंस बिछाकर उन्हें मार दिया जाता है। यह बर्बरता, क्रूरता तो ब्रितानी सरकार की क्रूरता से भी अधिक भयावह है। रुमझुम द्वारा प्रधानमंत्री को लिखे गये पत्र की हर पंक्ति में आदिवासी समाज की पीड़ा समायी हुई है- "महोदय, हमारे पूर्वजों ने जंगलों की रक्षा करने की ठानी तो उन्हें राक्षस कहा गया। खेती के फैलाव के लिए जंगलों के काटने-जलाने का विरोध किया तो दुष्ट दैत्य कहलाये। उन पर आक्रमण हुआ और लगातार खदेड़ा गया। इस बार कथा-कहानी कहने वाले सिंगबोंगा ने नहीं, टाटा जैसी कंपनियों ने हमारा नाश किया है।... भेड़िया अभ्यारण्य बनाने से कीमती भेड़िये जरूर बच जायेंगे श्रीमान्। किंतु हमारी जाति नष्ट हो जायेगी।'<sup>4</sup>

आदिवासी समाज न जाने कितने शताब्दियों से संतुष्ट जीवन जी रहा है। जब भी ये असुर समाज अपने स्वत्व की रक्षा के लिए तत्पर हुए उन्हें छल से मार दिया गया। वैदिक देवताओं से लेकर आज के ग्लोबल व्यापारियों तक ने केवल छल और शोषण ही किया है। प्रमथ्यु ने जब आग चुराया तो देवता उसे सजा देते हैं। सिंगबोंगा- सूर्य के द्वारा

सजा पाने की कथा प्रचलित है। आज भी ग्लोबल देवता उस आदिवासी समाज को छल रहे हैं। क्या फर्क पड़ता है शोषक और शोषित वैदिक युग के हैं या इक्कीसवीं सदी के। इस पूरे उपन्यास में असुर समाज का आर्तनाद सुनायी पड़ता है।

हमारी रात/ भरपूर काली रात होने का/ आश्वासन हमें दे रही/ उदास हवाएँ/ दूर कहीं विलाप कर रही/ एक जख्मी हिरण/ अपने पीछे आते हुए/ शिकारी की आवाज सुनकर/ अपने आपको/ अपनी पूर्ण मृत्यु के लिए/ तैयार कर रहा है.../ अपनी पूर्ण मृत्यु.... रुमझुम के गाने इस गीत में असुरक्षा, आशंका, बेबसी, व्यथा के जो भाव हैं वह समूचे उपन्यास में पसरा हुआ है। असुर समाज इन्हीं स्थितियों में जी रहा है। पाट क्षेत्र में नियुक्त होकर आये किस्सागो युवा मास्टर को पाट के चप्पे-चप्पे से, सखुआ की हर डाल से, पले से, लटकते रक्त-पलाश से रुमझुम के गाने इस गीत के बोल सुनाई पड़ते हैं।

यह उपन्यास जहाँ दिनोंदिन अंत की ओर ढकेले जाते आदिवासी समाज के संघर्ष और सिसकियों को प्रगट करता है, वहीं वैश्वीकरण की प्रक्रिया और प्रतिफलन शासन-सत्ता के गैर जिम्मेदार रवैये, मीडिया की मिलीभगत, स्वयंभू धर्माचार्यों के काले कारनामे को लेकर कुछ गंभीर सवाल भी खड़ा करता है। उपन्यास में चित्रित असुर समाज चौतरफा संकटों से घिरा हुआ अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। और इस लड़ाई में उसकी हार भी तय है।

धनबल और सत्ताबल के आगे मुट्ठी भर असुर समाज की क्या बिसात है? ठेकेदार अंसारी, दबंग गोनू सिंह, सिण्डालको कंपनी के मैनेजर किशन कन्हैया पाण्डेय, कोयला आश्रम के शिवदास बाबा, पुलिस सरकारी मशीनरी, सिण्डालको और वेदांग जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ। असुर समाज इन सभी के जोर जुल्म और ज्यादाती का शिकार है।

यह उपन्यास एक तीखा प्रतिवाद है। विमर्शों के इस दौर में यह उपन्यास जिस तरह आदिवासियत का मुद्दा उठाता है वह सच्चे अर्थों में एक आंदोलनकारी (एक्टिविस्ट) लेखन है। यह उपन्यास केवल असुर समाज का ही यथार्थ नहीं है, अपितु दुनिया के उन तमाम आदिवासी समाजों का यथार्थ है जो बाजार, सत्ता, धर्म बहुराष्ट्रीय कंपनियों की संगठित साजिशों का शिकार बनकर सिमटते-सिमटते समाप्ति की ओर बढ़ रहे हैं। नाम और क्षेत्र में भले ही भिन्न हों, किंतु सभी आदिवासी समुदायों का विस्थापन और विलुप्ति के कारण आर्तनाद एक है।

**संदर्भ:**

1. पृ. 16, ग्लोबल गाँव का देवता।
1. पृ. 33, वही।
1. पृ. 33, वही।
1. पृ. 88, वही।
1. पृ. 84, वही।
1. पृ. 48, वही।

**संपर्क:**

अम्बिकापुर छत्तीसगढ़

## उत्तर-आधुनिक अवस्था

डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी

आचार्य, हिंदी विभाग

कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

शहर का आख्यान जीवन की सही समझ और सही सैद्धांतिक फ्रेमवर्क से बनता है। सवाल यह है कि एक शहर को कहाँ से और कैसे देखते हैं? शहर विभिन्न रंगत, विभिन्न संस्कृतियों और विभिन्न 'एथनिक' समूहों से बनता है, वे ही उसकी धुरी हैं। हम देखें शहर में मूल निवासी कितने हैं और बाहर से कितने लोग आए हैं, उनके जाति, धर्म, भाषा, बोली, साहित्यिक अभिरुचियाँ, लोक संस्कृति, खान-पान की आदतें, संस्कार और रोजगार की अवस्था किस तरह की हैं। इससे शहर के एथनिक चरित्र को परिभाषित करने में मदद मिलेगी। एथनिक समूह की सम-सामयिक अवस्था और सांस्कृतिक-चेतना को समझने में मदद मिलेगी। इस क्रम में शहर में व्यक्ति की 'निजी एथनिसिटी' और 'सामाजिक एथनिसिटी' की स्वायत्त सत्ता और अंतर्क्रियाओं को देखना चाहिए। इस तरह के मूल्यांकन की मुश्किल यह है कि इसमें ऐतिहासिकता का निषेध अंतर्निहित है। यह मॉडल किसी भी एथनिक समूह के ऐतिहासिक विकास के परिप्रेक्ष्य की अनदेखी करता है। इसमें एथनिक पुनरुत्थानवाद का खतरा भी है। समाजशास्त्रियों के एक वर्ग में यह मान्यता है कि दो विश्वयुद्धों ने आदिवासीवाद, राष्ट्रवाद और नस्लवाद इन तीनों को खत्म कर दिया। लेकिन वास्तविकता इस दावे को पुष्ट नहीं करती। आमतौर पर सहमति है, दुनिया बहुलता केन्द्रित है। इसके बावजूद धार्मिक समूहों की पहचान हठात् विवादों के केन्द्र में आ गया है, पेरिस से लेकर न्यूयार्क, मुंबई से लेकर कोलकाता तक यह समस्या फैली हुई है।

शहरीकरण के कारण पुरानी पहचान, मूल्य, संस्कार, आदतें खत्म कम हुए हैं, लेकिन पूरी तरह खत्म नहीं हुए, नए संस्कार, आदतें और जीवनमूल्य धीमी गति से निर्मित हो रहे हैं। आज स्थिति यह है कि शहरों में पुरानी पहचान के रूप चुनौती बनकर खड़े हैं। जो लोग गाँवों से शहरों की ओर 'माइग्रेट' करते रहे हैं उनकी यह मुश्किल है कि वे अपनी जड़ों से कटकर आ रहे हैं। लेकिन कुछ अवधि के बाद उनमें पुरानी पहचान के रूप धीरे-धीरे विकृत रूप में फिर से पैदा होने लगते हैं। इस प्रक्रिया में एक समूह है जिसका रूपांतरण हो रहा है लेकिन एक छोटा समूह है जो रूपांतरण नहीं कर पा रहा है, उसी के साथ नए किस्म की एथनिक टकराहट नजर आ रही है। पहले सोचा गया शहरीकरण से जातिप्रथा नष्ट होगी, लेकिन शहरों के असमान विकास ने एक ही शहर में दो शहर पैदा कर दिए, इनमें एक शहर वह है जिसे हम झुग्गी-बस्ती इलाका कहते हैं, यहां पर 'माइग्रेट' लोगों का जमघट मिलेगा, इनके इलाके में नगरपालिका से लेकर नागरिक सुविधाओं तक सबका अभाव मिलेगा। ये इलाके समानान्तर

अर्थव्यवस्था के गढ़ भी हैं, फलतः एथनिसिटी के साथ जाने-अनजाने अपराध जुड़ गया है। यहीं पर सबसे बड़ी संख्या में पिछड़ी और अंत्यज जातियां विस्थापित होकर गाँवों से आकर बसी हैं। इनके इलाकों में सामान्य नागरिक सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। ये नागरिक नहीं स्लमवासी हैं। इनके पास न सुरक्षा है, न कानून है और न नगरपालिका की सुविधाएँ हैं। ये बस्तियाँ शहर के अंदर एक और शहर हैं। यहां नए किस्म का नरक दिखता है। यह नरक हमारे सभ्य, शहरी विमर्श के बाहर है। इसलिए एथनिसिटी के साथ शहरी आख्यान को निर्मित करने के लिए जाति और विस्थापन इन दो तत्वों का नागरिक परिप्रेक्ष्य में नए सिरे से अध्ययन करने की जरूरत है। सवाल यह है कि नया शहर किस तरह का स्पेस या स्थान रच रहा है। स्थान कोई मूल्यहीन तत्व नहीं है, बल्कि वह अर्थपूर्ण संरचना है। स्पेस में निजी और सामूहिक स्थान, निजी और सार्वजनिक परिवेश को सम-समसामयिक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए।

शहर का आख्यान पढ़ते समय सभ्यता की परतों को खोलना चाहिए। हर सभ्यता अपने साथ नए किस्म का सौंदर्यबोध लेकर आती है और उसके सौंदर्यबोध के अनुरूप शहरीजनों की मनोदशा धीरे-धीरे चली जाती है। पुराने जमाने में शहरों पर बात होती थी तो सभ्यता के रूपों पर भी बात होती थी, लेकिन आजकल शहरों की आख्यान पर जब खोज करते हैं और बात करते हैं तो सभ्यता पर कम सतह के सवालों पर ज्यादा बातें करते हैं, सभ्यता के इकसार रूप की चर्चा अधिक करते हैं। नगर सभ्यता में जब नगर के आख्यान को खोजते हैं तो तात्कालिक या सामयिक स्वरूपों तक सीमित रहते हैं। सम-सामयिकता आख्यानों में हावी रहती है। यानी शहर का आख्यान शहर की सभ्यता की स्मृतियों से विच्छिन्न होकर हमारे सामने आता है। नगर के आख्यान का भोक्ता नगर के गौरव में रहता था, संस्कृति के बाँकपन में जीता था, देशज विशेषताओं में जीता था। नया शहरी इसके विपरीत संस्कृतिहीन उपभोक्ता की तरह जीता है। आज के शहरी के पास अपने को सजाने-संवारेने के बहुत सारे उपकरण हैं, ऊपरी साजो-सामान है, लेकिन सभ्यता नहीं है, वह अपने शहर की विरासत से नावाकिफ है। हर शहर की अपनी सभ्यता

है, उसके कुछ प्रमुख लक्षण हैं, सांस्कृतिक उपलब्धियाँ हैं, शिष्टता और लोकाचार की कुछ खूबियाँ हैं जिनको खोजने की जरूरत है।

अब्दुल हलीम 'शरर' के अनुसार शहर के आख्यान को पढ़ने के लिए हमें कुछ पहलुओं पर गौर करना चाहिए, ये हैं- मकान, फर्नीचर, वेशभूषा, शिष्टाचार, शालीनता, अभिवादन, संबोधन और कुशल क्षेम पूछना, हास्य का ढंग, शादी-गमी की महफिलें, मज़लिसें, धार्मिक आयोजन।

घर कैसा है ? इससे अंदाजा लग सकता है कि शहर किस संस्कृति में ढल रहा है। एक जमाना था जब दिल्ली-लखनऊ के पुराने शहरों में 'बाह्य प्रदर्शन' और 'शानदारी' सिर्फ शाही महलों और प्रासादों तक सीमित थी। पुराने जमाने में अमीर व्यापारी जो मकान बनवाते थे वे अंदर से कैसे भी विशाल हों लेकिन बाहर से देखने में साधारण होते थे। बाहर से मामूली मकान लगते थे, इसका प्रधान कारण यह था कि बाहर से भव्य-सुंदर दिखने वाले मकान पर शाही खानदान कब्जा कर लेता था। इसलिए पुराने जमाने में सिर्फ महल ही बढ़िया होते थे लेकिन आम लोगों के मकान एकदम साधारण और बाहर से देखने में साधारण हुआ करते थे। दूसरा कारण यह था कि यदि जनता का शानदार मकान बनवाना शाही परिवार के खिलाफ बगावत मानी जाती थी। इन मकानों में रहने वालों का शाही परिवार अमन-चैन के साथ जीना मुश्किल कर देता था। यही वजह है दिल्ली में मकबरे और महल तो सुंदर हैं लेकिन आम जनता का कोई सुंदर मकान नजर नहीं आयेगा।

शहरी संस्कृति में पहले हर शहर में अपने किस्म का शिष्टाचार हुआ करता था। सामान्य लोगों में शिष्टाचार देखकर आप उस शहर की संस्कृति का सहज ही अंदाजा लगा सकते हैं। यह शिष्टाचार राष्ट्रीय सभ्यता का पैमाना माना जाने लगा। आजकल लोग शिष्टाचार को दिखावा या पाखंड कहते हैं। जबकि यह पाखंड नहीं है बल्कि इस तरह की बातें वे लोग करते हैं जिनको शिष्टाचार नहीं आता या जिनके पास इंसानी संस्कृति नहीं है। गौर करो तो इंसानियत ही दिखावा है। अच्छा पहनना, अच्छा खाना, अच्छी जीवन-सामग्री रखना, सफाई से रहना ये सब चीजें शिष्टाचार में आती हैं। सवाल यह उठता है हमारे बीच से



शिष्टाचार कब गायब हो गया ?

अब्दुल हलीम 'शरर' ने 'पुराना लखनऊ' में लिखा है, 'शिष्टाचार का पहला सिद्धांत यह है कि मेल-जोल में एक-दूसरे को हर प्रकार की सुख-सुविधा की बात में अपने ऊपर तरजीह दी जाये और आपको उसके पीछे और उससे निचले स्तर पर रखा जाये।' शिष्टाचार से व्यक्ति में 'त्याग और बलिदान' का भाव पैदा होता है, वह इस बात के लिए तैयार रहता है कि दोस्तों के साथ हर तरह के व्यवहार में स्नेह और सहानुभूति दिखाये।' शिष्टाचार दिखावा नहीं है बल्कि हौसलामंदी है। यह आपकी सामर्थ्य का प्रतीक है। इसी तरह शालीनता का भी महत्व है। शालीनता को इन दिनों फूहड़ता ने अपदस्थ कर दिया है। 'शरर' ने लिखा, 'शालीनता की बुनियाद अमीरी, रईसी और हुकूमत में पड़ी है। हुकूमत और रियासत बताती है कि छोटों को बड़ों से और बड़ों को छोटों से किस तरह मिलना चाहिए और बराबर वालों से कैसा बर्ताव करना चाहिए। मगर व्यापारी वर्ग को अमीरी के इन चोंचलों और आचार संबंधी कष्टों से दुश्मनी है। व्यापार तो लेन-देन और स्वार्थपरता के बल पर पनपता है और सेल्फ-सेक्रिफाइस यानी अपने वक्त और अपने रुपये, अपने हुनर और अपनी दौलत का कारण ही किसी पर निछावर कर देने को मूर्खता बताता है। इसके विपरीत रईसी की विशेषता यह है कि निःस्वार्थता के साथ अपने तरफदार या योग्य लोगों को सुख-सुविधाएँ दी जायें और उसका यह लाज़िमी नतीजा है कि जहां व्यापार की प्रगति होगी और व्यापारियों की संस्कृति समृद्ध सामंतों और अभिजातवर्ग की संस्कृति पर हावी हो जायेगी वहां कोई नैतिक सिद्धांत बाकी नहीं रह सकता।' कायदे से शिष्टाचार का पालन करना चाहिए, उसका मजाक नहीं उड़ाना चाहिए। शिष्टाचार से पता चलता है आपकी सभ्यता कितनी विकसित है।

भारत में शहरी संस्कृति के विकास के साथ होटल-रैस्टोरेंट का व्यापक प्रसार हुआ। लेकिन क्लब संस्कृति का विकास नहीं हो पाया। शहरों में क्लब हों और हर स्तर के लोगों के क्लब हों, इन दिनों जो क्लब हैं वे सिर्फ अमीरों के हैं, गैर-अमीर सामाजिक तबकों के लिए गलियों-मुहल्लों में क्लब संस्कृति का प्रसार करना बेहद जरूरी

है। यह नए किस्म का समाजीकरण है।

नव्य-आर्थिक उदारीकरण आने के पहले पुराने शहर की संस्कृति को नव्य आधुनिक शहरी संस्कृति ने ध्वस्त किया, लेकिन पुराने किस्म की बसावट के रूपों को ध्वस्त नहीं कर पायी। महानगरीय संस्कृति विकसित हुई लेकिन उसमें पुराने जाति, धर्म, क्षेत्र आदि की सीमाएँ बनी रहीं, कुछ महानगरों में ये सीमाएँ टूटीं, इसको तोड़ने का तरीका विलक्षण रहा, दलितों-अल्पसंख्यकों को महानगरों में घेर दिया गया, बार-बार उनको शहर के बाहर ठेला गया, झुग्गी-बस्तियों में ठेला गया। शहरों का विकास हुआ लेकिन पड़ोसी संस्कृति खत्म हो गयी। नया स्थापत्य आया, बहुमंजिला इमारतें और फ्लैटघर की संस्कृति आई, इसने अभिजात्य और अधिनायकवादी परिप्रेक्ष्य में अपना विकास किया। नए किस्म का सामाजिक विभाजन पैदा हुआ अमीरों के इलाके अलग, मुहल्ले या कालोनी अलग, गैर-अमीरों और गरीबों के इलाके अलग।

फ्रेडरिक जेम्सन के अनुसार इस दौर के शहरी व्यक्ति में नयी संस्कृति का मूलाधार है 'मैं नहीं जानता' का एटिच्यूट समूचे शहर में छाया हुआ है। यही एटिच्यूट उसके सामाजिक संबंध का आधार है। शहरों में नयी जीवनशैली आई, लेकिन यह 'इंस्टिट्यूट एस्थेटिक्स' (सहजात सौंदर्य) पर आधारित है। यह सहजजात वस्तुकरण पर आधारित है। इसके कारण सबके घर एक जैसे सजे मिलेंगे। सबको फास्टफूड या जंक फूड को खाने की आदत मिलेगी। फास्टफूड के इकसार रूपों को लासवेगास से लेकर गुड़गाँव तक एक ही स्वाद में पा सकते हैं। नया स्थापत्य भी इस तर्क पर आधारित है कि 'मुझे क्या लेना-देना' सभी शहरों में नयी इमारतें इसी नजरिये पर आधारित हैं। ये मुक्त इमारतें हैं, इनमें रहने वाले एक-दूसरे से बेखबर, अपरिचित, संबंधहीन, ढंग से रहते हैं। ये इमारतें सीमेंट का ढेर हैं।

नए शहर का स्थापत्य पूरी तरह कम्प्यूटर फोटोग्राफ की जीरोक्स कॉपी लगता है। अंदर जाएंगे तो घर की सजावट और बाहरी स्थापत्य देखकर घर में रहने वाले की निजी देशज जीवन शैली, मूल्यबोध, संस्कृति आदि का अंदाजा लगाना संभव ही नहीं है। घर के अंदर जाएंगे तो वहां कम्प्यूटरजनित सूचनाएं इधर-उधर बिखरी नजर

आएंगी। घर एक तरह से फिल्मी शूटिंग का सैट नजर आयेगा। ज्यादातर घरों की डिजायन 'फोटोग्राफी' के आधार पर तैयार की गई है। उल्लेखनीय है आरंभ में ये घर 'फोटोग्राफी' के लिए बनाए गए थे, इन घरों का फोटोग्राफी मूल्य था। वस्तुतः शहर में हम जिस स्थापत्य का उपयोग कर रहे हैं वहां 'फोटोग्राफिक उपकरणों' का उपयोग है। इसमें आप 'आब्जेक्ट' का उपयोग नहीं करते बल्कि फोटोग्राफिक उपकरणों की ईमेजों का उपभोग करते हैं। अब एक ही जैसे फ्लैट होते हैं, उनमें स्थापत्य की दृष्टि से कोई वैविध्य नहीं होता।

नए स्थापत्य में यह 'सतह' महत्वपूर्ण है। अब हम सतह को ही देखते हैं, गहराई को नहीं देखते। इसके कारण सतहीपन ने इमोशनल ऑब्जेसन भी पैदा किया है। अब जीवन की अंतर्वस्तु को लेकर हमें बेचैनी नहीं होती। नई इमेज की खूबी है कि हम उसे देखते हैं, लेकिन महसूस नहीं करते, वह हमारी अनुभूतियों को स्पर्श नहीं करती, फलतः इमेज है लेकिन संवेदना और अनुभूतियाँ गायब हैं। नयी अवस्था यह है जिसमें 'दर्द' है लेकिन दर्द की अनुभूति गायब है। यानी शब्दों को उनके अर्थ से विच्छिन्न कर दिया गया है। अब संप्रेषण है लेकिन नाटकीय रूप में। अब हम अपनी आंतरिक अनुभूतियों को भी नाटकीय ढंग से पेश करते हैं। ऐसी अवस्था में 'सत्य' क्या है यह तय करना बेहद मुश्किल काम है। ऐसी स्थिति में सत्य को तो भूल ही जाइए।

इन दिनों व्यक्ति की पीड़ा, अहं, निजता, साझा पीड़ा, अवसाद आदि को अ-केन्द्रित कर दिया गया है। आज मनुष्य है उसमें बेचैनी भी है, लेकिन यह सब नजर नहीं आयेगा। नया मनुष्य बेचैनी से मुक्त है। सभी किस्म की अनुभूतियों और संवेदनाओं से मुक्त है, वह अब भीड़ की संवेदनाओं, मीडिया निर्मित संवेदनाओं और मीडिया जनित उन्माद में जीता है। अब सत्य वह नहीं है जो मनुष्य भोग रहा है, बल्कि सत्य वह है जो मनुष्य को मीडिया बता रहा है, फलतः हम मनुष्य के सत्य को देख ही नहीं पाते। अब मीडिया निर्मित रूढ़ियों और शैलियों में बंधकर रह गए हैं। कैसे खाएं, कैसे बोले, कैसे चलें, कैसे व्यवहार करें, इन सबको मीडिया निर्मित कर रहा है, इसके कारण व्यक्ति

की निजता और निजी विशिष्टताओं का लोप हुआ है।

सामान्य चेतना यह है कि स्थापत्य की कोई विचारधारा नहीं होती, लेकिन यह सच नहीं है। स्थापत्य की विचारधारा होती है। स्थापत्य के निर्माण में सामाजिक परिस्थितियों, परिवेश, मौसम और राजनीतिक अर्थशास्त्र आदि की भूमिका होती है। स्थापत्य महज कारीगर के दिमाग की पैदाइश नहीं है। आजादी के बाद सामने आए नए शहरी स्थापत्य पर प्रसिद्ध स्थापत्य विद् रोमी खोसला ने 'इनक्लुडिंग आइकोनोग्राफी एंड इमेजेज इन आर्कीटेक्चर' (1984) लेख में विस्तार से लिखा है, खोसला के अनुसार भारतीय स्थापत्य कला की खूबी है कि इसमें वैविध्य है। एकरूपता का अभाव है। यह मूलतः बहुलतावादी है। पूरी तरह खुला हुआ और भारतीय यथार्थ से पूरी तरह जुड़ा हुआ। आजादी के बाद अनेक ऐसी इमारतें बनी हैं जिनका आधार पश्चिमी है। इस प्रवृत्ति ने हमारी स्थापत्य कला को भी प्रभावित किया है। मसलन, दिल्ली में एम्स, कोलकाता में टाटा सेंटर आदि की बिल्डिंग को ही लें। इसमें भारतीय स्थापत्य के किसी भी तत्त्व का इस्तेमाल नहीं किया गया। इस तरह की इमारतों में अमूर्तन हावी रहता है। इस तरह की इमारतों का परायापन बंद बक्से और कंकरीट के ढेर की तरह दिखाई देता है।

स्थापत्य भावबोध को ये इमारतें अस्वीकार करती हैं। यह शुद्ध अमूर्तन की कला है। इसकी खूबी है जटिलता को छिपाना, इकसार सतह, छतों का लोप, किसी भी तरह के मूर्ति प्रतीकों एवं विश्वासों से इसका कोई संबंध नहीं है। यह अजनबीपन की कला है। यह ऐसे मनुष्य की कला है जिसका आशय समझना मुश्किल है। इसका हमारी परंपरा से कोई संबंध नहीं है।

भारतीय स्थापत्य कला का आधार है। 'प्रतिमा विद्या' यह ऐसी विद्या है जो हमारे चिह्नों, प्रतीकों, संस्कार और दर्शन में घुली हुई है। हमारे यहां हजारों प्रतिमाएँ हैं उनकी हजारों इमेज हैं। इन इमेजों से व्यक्ति के सोचने का पता चलता है। रोमी खोसला का मानना है जब किसी घर की परिकल्पना की जाती है तो उसके विभिन्न अंगों को जोड़ने की कोशिश की जाती है। असल में स्थापत्य को प्रतिमा विद्या को रूपायित करने वाली संरचना मात्र नहीं समझना

चाहिए और प्रतिमा विद्या को सजाने वाले तत्त्व के रूप में भी विश्लेषित नहीं करना चाहिए। शहरीकरण के कारण मूल मुद्दों पर बहस नहीं हो रही है। मसलन् रीयल स्टेट पॉलिसी, गृहहीन लोगों की दशा आदि के सवाल गायब हैं। अब कहा जा रहा है कि 'बाजार' ही यथार्थ है, वही नियामक है। इस प्रसंग में रिम कोल्हास की किताब 'दि ग्रेट लीप फॉवर्ड' याद आ रही है। इस किताब में कोल्हास ने शंघाई के विकास का भव्य वर्णन करते हुए दंग शियाओं पिंग के नजरिए का व्यापक विश्लेषण किया है। शंघाई में 9 हजार से ज्यादा बहुमंजिला इमारतें 1992 के बाद बनी हैं। कोल्हास ने लिखा साम्यवाद के गोपन रूप का आदर्श है लाल। यह लाल के यूटोपिया से भागने की कोशिश भी है। क्योंकि उस समय 'लाल' पर चारों ओर से हमले हो रहे थे। जब दुनिया विध्वंस और दुखों के ऊपर मुनाफा कमा रही हो तो 'रेड' नहीं, 'इंफ्रारेड' जरूरी है। यह सुधार की विचारधारा है। इस तरह का प्रचार अभियान साम्यवादी यूटोपिया के अंत के समय चलाया गया। इस प्रकल्प का लक्ष्य था 19वीं सदी के आदर्शों को 21वीं सदी के यथार्थ के आवरण में छिपाना। जो कह रहे थे 'बाजार' ही यथार्थ है, वे बाजार की वास्तविकता को ठीक से समझ ही नहीं पाए। वे दंग की रणनीति समझ नहीं पाए।

'बाजार' के पक्षधर मानते हैं। पूंजीवाद को मानो या विध्वंस के लिए तैयार रहो। लेकिन 'बाजार' तो टूट चुका है। स्थापत्य की दृष्टि से देखें तो चीन में हजारों इमारतें बनायीं गयीं लेकिन उनमें कोई किराएदार नहीं है। ये इमारतें पूंजीवादी अवस्था के लिए कोई कीमत नहीं दे रही। इन इमारतों की मौजूदगी को सिर्फ बाजार के तर्क के आधार पर नहीं देख सकते। पश्चिम बंगाल के कोलकाता के पास में राजारहाट ऐसा ही प्रयोग है जहाँ पर सैकड़ों इमारतें बना दी गयीं लेकिन सब खाली पड़ी हैं। नोएडा से लेकर मुंबई तक दो लाख मकान बनकर तैयार खड़े हैं लेकिन उनके खरीददार नहीं हैं।

भारत में मॉल का आरंभ सन् 1997 में हुआ। यह नव्य-उदार आर्थिक नीतियों के गर्भ से उपजा उपभोग का प्रतीक है। सतह पर यह स्थापत्य है, लेकिन वास्तव अर्थ में यह उपभोग के आनंद का प्रतीक है। यहां हम दमित

भावों के उपभोग का भी आनंद लेते हैं। पूर्व-मॉल युग में सादगी के बहाने उपभोग का वस्तुकरण नहीं कर पाते थे, लेकिन नए स्थापत्य ने विलक्षण आकर्षण पैदा किया है, यह स्थापत्य का आकर्षण ही उसकी धुरी है। नयी शहरी सभ्यता में इसने 'आकर्षण' को प्रमुख बनाया है। नया नारा है जो आकर्षित है वह स्वाभाविक है। अपना 'स्पेस' तैयार करती है। अब जोर इस बात पर है कि इस तरह सजाओ कि आकर्षित लगे। यह नयी 'शॉपिंग' संस्कृति है। इसने 'उपभोग' के सवालों को प्रमुख बना दिया है। पहले माल खरीदते थे, अब माल ही नहीं खरीदते बल्कि इच्छाएँ, जीवनशैली, एटीकेट की शॉपिंग करके घर आते हैं। पहले बाजार माल की बिक्री की जगह था लेकिन अब अनुभूतियों और इच्छाओं के सृजन का केन्द्र है। नए बाजार में नए किस्म का स्पेस पैदा हुआ है जिसे 'कंट्रोल स्पेस', 'जंक स्पेस' आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं यह स्पेस मानवीय गरिमा और मानवीय यथार्थ से रहित एकदम खोखला 'स्पेस' है। इसका प्रचार की दृष्टि से महत्व है लेकिन मानवीय यथार्थ की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। यह नए किस्म के शहरी यूटोपिया का अंग है।

नए 'स्पेस' में विलक्षण खिचड़ी है। इसमें सब कुछ समाहित कर लेने की क्षमता है, इसमें चीजें एक-दूसरे पर लदी हुई आरोपित नजर आती हैं। इस 'स्पेस' को समझने के लिए हमें 'डि-डिफरेंशिएशन' करना चाहिए। भेदों में भेद करना चाहिए। नई मॉल संस्कृति का जन्म इसलिए संभव हुआ कि पुराने शहर में बाजार में 'स्पेस' ही नहीं बचा था। पुराने शहर में समाहित करने की क्षमता नहीं बची थी, इसलिए एक तरफ नए उपनगर बसाए गए, नए मॉल बनाए गए। मॉल और उपनगर बसाने का विचार सबसे पहले अमेरिका में सन् 1956 में सामने आया। यह पुराने शहर के हास के साथ उपजी अवधारणा है। इसने समूचे समाज को व्यापक रूप में प्रभावित किया। इसने जीवन शैली से लेकर बाजार तक सबकी प्रकृति बदल दी।

फ्रेडरिक जेम्सन के अनुसार मॉल की पूर्व शर्त है एयरकंडीशनिंग और आंतरिक स्तर पर वैविध्यपूर्ण आंतरिक स्थापत्य संरचना। नए शहरी आख्यान में जिस तरह मॉल आए उसी तरह नए एयरपोर्ट आए। अब एयरपोर्ट बड़े

शॉपिंग मॉल की तरह है। म्यूजियम की तरह हैं। शहर जैसे हैं। नए शहर में सुपर मार्केट, मॉल, हाउसिंग, कॉम्प्लेक्स आदि एक साथ नजर आते हैं। फलतः घर भी मॉल जैसे नजर आते हैं।

मॉल संस्कृति का सबसे बुरा पहलू है शहरों की भूमिका का लोप। मसलन, शहर में आप कभी भी मीटिंग कर सकते थे, नुक्कड़ सभा कर सकते थे, राजनीतिक पर्चा बांट सकते थे, राजनीतिक प्रचार कर सकते थे, लेकिन मॉल में यह काम नहीं कर सकते। यानी मॉल ने नागरिक की स्वतंत्र अभिव्यक्ति के 'स्पेस' को छीन लिया है। पहले बाजार स्वतंत्र अभिव्यक्ति के केन्द्र हुआ करते थे। लेकिन मॉल में यह संभव नहीं है। वे सिर्फ बाजार हैं। इसमें पुराने बाजार जैसी स्वतंत्रता नहीं है। इसने पुराने बाजार को अपदस्थ कर दिया है। यहां स्थानीयता की बजाय 'सार्वभौम माल संहिता' के तहत सारी चीजें संयोजित की जाती हैं। इसमें स्थानीय या लोकल जैसी कोई गंध नहीं मिलेगी। यहां चीजें एक-दूसरे का दमन कर रही हैं, एक-दूसरे पर हावी हैं। यह लोकल कल्चर के दमन का प्रतीक है।

फ्रेडरिक जेम्सन के अनुसार मॉल कल्चर वस्तुतः समूचे समाज के 'डिजनीफिकेशन' का अंग है। यह सांस्कृतिक हस्तक्षेप है। मॉल ने 'डिजनीफिकेशन' के तत्त्वों को हमारे जीवन में विस्तार दिया है। 'डिजनीफिकेशन' का लक्ष्य है मुक्त चिंतन और फ्री एक्शन में हस्तक्षेप करना, उपभोग, अनुभूति, श्रम और मशीनीकरण आदि को इकसार बनाना। 'डिजनीफिकेशन' का अर्थ है चीज को उसके मूल या जड़ से अलग करना, घटना को उसके रीयल इवेंट से अलग करना, मूल चरित्र से अलग करना, हर चीज की नए सिरे से पैकेजिंग करना, चीजों को सरल बनाना जिससे समझ में आए। 'डिजनीफिकेशन' ने 'स्पेस' के साथ जुड़े आवयविक संबंध को नष्ट कर दिया। आवयविक संबंध लंबे समय में बनता है जिसे वह खत्म कर देता है। उसकी जगह 'पर्यटकीय स्थानबोध' पैदा किया है। इसमें 'थीम' का महत्व है, फलतः वे स्थान विशेष को किसी न किसी 'विचार' के साथ जोड़ देते हैं। इसकी खूबी है 'मिश्रित उपभोग, मिश्रित प्रस्तुति' विभिन्न किस्म की चीजों को एकही स्थान पर पेश करके उपभोग के नए भावाबोध की सृष्टि करना। यहां

इमेज और 'लोगोज' के जरिए वस्तुओं और सेवाओं के प्रमोशन का काम किया जाता है। इसकी प्रस्तुतियों में रीयल की बजाय हाइपररीयल का इस्तेमाल किया जाता है।

फ्रेडरिक जेम्सन के अनुसार 'मॉल' वस्तुतः 'स्पेस' का मनोविज्ञान है। वह वस्तुओं का बगीचा है। यहां हर चीज पर एयरकंडीशनिंग और ऑब्सेशिव भावबोध के आवरण में लिपटी पड़ी है। यह एक तरह से 'वर्चुअल जंक स्पेस' है। यह वह जगह है जहां 'स्पेस' के अलावा सब कुछ है। यह ऐसा 'स्पेस' है जिसमें वर्चस्व का बोलबाला है। इसकी भाषा वर्चस्व की भाषा है। यह ऐसा 'स्पेस' है जो स्वयं ही वर्चस्व बनाए रखता है। 'जंक स्पेस' वह है जो 'स्पेस' के लिए उपलब्ध नहीं है। 'जंक स्पेस' में हमेशा 'इन्नोवेसन' चलता रहता है। यहां पुरानी चीजें हटाने से लेकर री-साइकिलिंग आदि चलती रहती है। इस 'स्पेस' में भवन निर्माता की बुद्धि को धता बताते हुए बार-बार परिवर्तन होते रहते हैं। यह असल में इस धारणा से संचालित है कि 'हर चीज को खींचा जा सकता है', इस समूची प्रक्रिया का व्यापक असर हुआ है। फलतः चमकीलेपन ने हठात् ध्यान खींचना शुरू कर दिया है।

फ्रेडरिक जेम्सन के अनुसार 'जंक स्पेस' में 'री' महत्वपूर्ण पदबंध है। जैसे, रिस्टर, रीअरेंज, रिजेम्बल, रिवेम्प, रिन्नोवेट, रिवाइज, रिकवर, रीडिजायन, रिटर्न, रेंट आदि। 'जंक स्पेस' वस्तुतः प्रतिगामी और दमनात्मक है। रूपरहित ढंग से फैलता है। यह सभी नियम, कानून और संसाधनों का दुरुपयोग करते हुए फैलता है। यह वह 'स्पेस' है जहां भेद छिपा लिए गए हैं। 'हायरार्की' को 'एकुमुलेशन' के जरिए अपदस्थ कर दिया गया है। आज 'जंकस्पेस' सब पर हावी है, यह कुपोषित है, इसका स्थानीयता से बैर है। यह स्थानीय और क्लासिक से विच्छिन्न है। इसका अर्थ है मूल या ओरिजनल की मौत।

'डिजनीफिकेशन' के कारण जो मन बन रहा है वह 'स्थानीयता' से पूरी तरह मुक्त है। इसके कारण बच्चों की पहचान, सपनें, अनुभूतियाँ आदि पूरी तरह बदल गए हैं। विविधता का अंत हो गया है। यह भूमंडलीकरण का आदर्श रूप है। यह स्थानीय कीमत पर फलता-फूलता है।

इसका लक्ष्य विविधता नहीं है, इकसारता है। इसमें 'प्रभावशाली प्रस्तुति' और 'मुनाफे' पर जोर है। यह मुक्त बाजार की पैदाइश है। यह आईएमएफ और विश्व व्यापार संगठन के बहुस्तरीय पूंजीनिवेश नीति का अंग है।

शहरी आख्यान के तीन बड़े मीडिया स्रोत हैं, पहला सिनेमा, खासकर हिंदी सिनेमा, दूसरा टेलीविजन सीरियल और तीसरा है विज्ञापन। मीडिया में शहर का आख्यान वस्तुतः सृजन है, यहां इमेज, कल्पना, विचारधारा और भाषायी खेल की बड़ी भूमिका है। फिल्म में शहर के आख्यान का नायक मध्यवर्ग, निम्न-मध्यवर्ग या आवारा निम्नवर्ग है। इन पर केन्द्रित फिल्मों में प्रमुखतः दो तरह के मॉडल प्रचलन में हैं एक मॉडल वह है जो मैलोट्रामा केन्द्रित है, दूसरा यथार्थ केन्द्रित है। इन दोनों मॉडल की वैचारिक धुरी है आधुनिकता। जबकि हिंदी धारावाहिकों ने परिवार, उसके तनाव, मध्यवर्गीय भाव-भंगिमाएं और आकांक्षाओं को अभिव्यंजित किया। शहरी आख्यान में महानगर और उसके समानान्तर बसा झुग्गी-बस्ती संसार केन्द्र में है।

इसी तरह बंगला सिनेमा में पहले ग्रामीण जीवन और उसका यथार्थ केन्द्र में था लेकिन इधर के बीस सालों में मध्यवर्गीय आख्यान ने बंगाली सिनेमा को घेर लिया है। इस आख्यान में बंगाल में बदल रही मध्यवर्गीय मनोदशा, राजनीति और बदलते कलाबोध के सवाल को केन्द्र में लाकर खड़ा कर दिया है। नये बंगाली सिनेमा ने बंगाली मध्यवर्ग के बदले हुए जीवन मूल्यों को गौतम घोष, ऋतुपर्ण घोष आदि की फिल्मों में सहज ही देख सकते हैं। यह परंपरा सत्यजित राय, मृणालसेन, ऋत्विक् घटक की परंपरा से भिन्न है। एक जमाना था उत्तम कुमार बंगाली शहरी का नायक था, यह ऐसा नायक था जिसके पास संस्कृति थी, लेकिन नया शहरी नायक लंपट है। पहले लंपट बंगाली खलनायक था, लेकिन आज वह नायक बन चुका है, उसे सिनेमा के पर्दे से लेकर आम जीवन तक आसानी से देख सकते हैं। इस संदर्भ में उल्लेखनीय फिल्में हैं मिथुन चक्रवर्ती अभिनीत 'एमएलए फाटा क्रेष्टो'। इससे भिन्न ऋतुपर्ण घोष की बंगला फिल्में हैं- चित्रांगदा, चोखेर वाली, नौका डूबी, बाड़ी वाली, दोसर, आबहमान, शुभमुहूर्त,

उत्सव, हीरेर आंगटी, दहन और उन्नीसेर अप्रैल आदि।

दूसरी ओर हिंदी सिनेमा में शहरी आख्यान के बदलाव का सुंदर नमूना है हीरो की बदली हुई प्रकृति। इसके दो नायक हैं अमिताभ बच्चन और शाहरुख खान। शाहरुख खान नव्य-उदारवाद नायक है, इसका समूचा तानाबाना भूमंडलीकरण, अप्रवासी भारतीय और कास्ट अस्मिता से जुड़ा है। यह ऐसा नायक है जिसकी अतीत की स्मृतियां फिल्मी कहानी से गायब हैं। पुराने फिल्मी हीरो के पास अतीत था, बचपन था। उसके पास व्यक्ति की पहचान थी। पुराने हीरो के पास जाति, क्षेत्रीय पहचान नहीं थी, (एकाध अपवाद छोड़कर)। इसके विपरीत नए हीरो के पास जाति या क्षेत्रीय पहचान है। मसलन नया हीरो शाहरुख खान पंजाबी, समृद्ध और उच्चजाति का है। ये चीजें पुराने हीरो में गायब हैं। पुराने हीरो के नाम देखें, 'मि. अमर', 'मि. आनंद', 'मि. राज', 'विजय', 'जय', 'वीरु' आदि। कुछ फिल्मों में मुस्लिम नाम आए, जैसे 'मुकद्दर का सिकंदर', 'कुली', ईसाइ रूप में 'अमर, अकबर एंथोनी', 'नसीब', हिंदू-मुस्लिम ईसाई के रूप में 'जान जानी जनार्दन' आयी।

आर्थिक उदारीकरण आने के बाद फिल्मों में 'राहुल' और 'प्रेम' जैसे नायकों का चरित्र जाति और क्षेत्रीय पहचान को लेकर आता है, टिपिकल मल्लोत्रा और खन्ना सामने आते हैं, समृद्ध पंजाबी के रूप में क्षेत्रीय पहचान सामने आती है। नायिका रूप में 'सिमरन', 'अंजलि' सामने आती हैं, उनके साथ ओबेराय और ग्रेवाल जाति की पहचान भी सामने आती है। पुराने हीरो के पास अतीत की स्मृतियां थीं जिनकी उसे जब याद आती थी तो वह प्रतिवाद करता था, बदला लेता था, हिंसा करता था, इसी तरह नायक-नायिका में अमीर-गरीब का बायनरी अपोजीशन भी था। सजनी अमीर साजन गरीब का फार्मूला खूब चला। गरीब हीरो में संपदा के प्रति घृणा का भाव था। हीरो यदि अमीर होता था तो उसकी सहानुभूति गरीबों के प्रति हुआ करती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि गरीब और गरीबी का संदर्भ फिल्मी कथानक का अनिवार्य हिस्सा था। लेकिन अब ऐसा नहीं है।

नव्य उदारीकरण के लिए खान बंधुओं की त्रिमूर्ति ने

(शाहरुख, आमिर, सलमान) ने नया आख्यान रचा है। इसमें गरीब, किसान, मजदूर और गरीबी गायब है। ये ऐसे नायक हैं जिनका कोई अतीत नहीं है। नया हीरो गुस्सा नहीं करता, प्रतिवाद नहीं करता। 'राहुल' और 'प्रेम' को कभी गुस्सा नहीं आता। बल्कि सामंजस्य बिठाने पर ज्यादा जोर है। इन्हें सामाजिक असमानता परेशान नहीं करती। नए नायक का कोई इतिहास नहीं है, बचपन नहीं है। पुरानी स्मृतियाँ नहीं हैं। वैभव और संपदा से भरी जिंदगी है। चूंकि नए हीरो के पास अतीत की स्मृतियाँ नहीं हैं अतः उसे गुस्सा भी नहीं आता। उसका कोई इतिहास नहीं है। फलतः इतिहास के प्रति इसके अंदर केयरिंग का भाव भी नहीं है।

द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर दौर में भारत का एक बड़ा फिनोमिना है अप्रवासी भारतीय। इसमें विविध किस्म के भारतीय हैं और ये अमेरिका से दक्षिण अफ्रीका, मारीशस से कैरिबियन देशों, मध्यपूर्व के देशों से लेकर समूचे यूरोप तक फैले हैं। इनमें भारत की जातीय-सांस्कृतिक विविधता साफ नजर आती है। हम यह भी कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति का इन लोगों के कारण विश्वव्यापी प्रसार हुआ है। यही वह बुनियादी कारक है जिसके कारण हिंदी फिल्मों में अप्रवासी एशियाई संस्कृति की व्यापक अभिव्यक्ति हुई है। अप्रवासी शहरी आख्यान सिनेमा में दाखिल हुआ है। शहरी आख्यान के साथ जुड़े माइग्रेसन और स्थानीयतावादी मूल्यबोध की अभिव्यंजना हुई है।

इन दिनों सिनेमा में पुरानी सामंती हवेली वाले हीरो का अंत हो चुका है। जीवन में भी हवेली संस्कृति का अंत हो चुका है। नया हीरो विदेश पलट है, अप्रवासी भारतीय है। ग्लोबल कारोबारी है। 'कभी खुशी गम', 'दिलवाले दुल्हनिया ले जायेंगे', 'माई नेम इज खान' आदि इसी तरह की फिल्में हैं। भारतीय सिनेमा में कई मॉडल प्रचलन में हैं जैसे- 'विविध सिनेमा मॉडल', 'लोक-संस्कृति मॉडल', 'यह तो पब्लिक है यह सब जानती है मॉडल', प्रतिगामी 'पल्लू ऑफ पब्लिक मॉडल'।

नए शहर के जीवन और स्पेस को 'छद्म इवेंट' और 'छद्म अनुभूति' ने घेर लिया है। इस तरह के इवेंट का दर्शक भी छद्म होता है। शहरीजन की समूची चेतना 'इतिहास-

पूर्व युग' के मनोभावों से संचालित है। यह ऐसा नागरिक है जो इतिहास शून्य है, इसकी इतिहास में कोई दिलचस्पी नहीं है। वह जिस शहर में रहता है उसके इतिहास, परंपरा, संस्कृति आदि से उसका कोई संबंध नहीं है। दिल्ली, कोलकाता, मद्रास, बंगलौर, गुड़गांव, आदि में शहरी आसानी से दिख जायेगा। शहरियों में अलगाव बढ़ा है वहीं दूसरी ओर फोटोग्राफिक इमेजों के प्रति आकर्षण बढ़ा है। अब सर्वव्यापक एवं सर्वसंग्रही शारीरिक मुद्राओं की इमेजों ने घेर लिया है।

वहीं दूसरी ओर 'नॉस्टेलजिया' फिल्मों के माध्यम से लौट रहा है, यह सामूहिक और रूढ़िबद्ध रूपों में अभिव्यंजित हो रहा है। इसे 'गांधी', 'देवदास', 'जोधा अकबर', 'बाजीराव मस्तानी' आदि फिल्मों में सहज ही देख सकते हैं। इस तरह की फिल्मों में अतीत का मनमाना प्रस्तुतिकरण नए फैशन रूपों के साथ आ रहा है। इस तरह की फिल्मों के जरिए 'खोया हुआ यथार्थ' पाने की असफल कोशिशें हो रही हैं। इस तरह की फिल्मों के जरिए अतीत, अस्थिरता, जड़ता, राजनीतिक गरमी, समृद्धि आदि को देखा जा सकता है। यह एक तरह का सौंदर्यबोधीय उपनिवेशीकरण है। इस तरह की फिल्में करीबी इतिहास, सम-सामयिक इतिहास के विमर्शों की उपेक्षा करती हैं। वे व्यक्तिगत तौर बाह्य स्मृति बनाने का काम करती हैं। इन फिल्मों में इतिहास का जो रूप आ रहा है वह सम-सामयिक समय में चल रही इतिहास संबंधी बहसों, संदर्भों से कोसों दूर है, साथ ही वे इतिहास को 'नाटकीय' बना रहे हैं। वे इतिहास की शैलियों में संकुचित या सीमित करके पेश कर रहे हैं। इस तरह की फिल्मों में अतीत की इमेजों का संग्रहवाद नजर आता है। संग्रहवाद के नाम पर अतीत पूजा खूब हो रही है। कई फिल्में 'रीमेक' के नाम पर भी आई हैं। 'रीमेक' का मतलब है कि जो पहले बना है उसे हम जानते हैं। इसने विलक्षण की अंतर्पाठ्यता को जन्म दिया है। आज यह हमारे शहरी जीवन और स्पेस का अभिन्न अंग है।

शहर में अब एक पाठ नहीं बल्कि एक-दूसरे में गुंथे हुए अनेक पाठ नजर आते हैं। इस तरह की फिल्मों के माध्यम से नए किस्म के 'अतीत' और 'छद्म ऐतिहासिकता' को मिलाकर पेश किया जा रहा है और उसके माध्यम से

‘रीयल’ इतिहास को अपदस्थ करने की कोशिश हो रही है। इस तरह के नॉस्टेलजिया में निर्मित फिल्में ‘नायक’ केन्द्रित नजरिए से तैयार की जा रही हैं। यह वस्तुतः ‘हीरो’ व्यवस्था है। ‘संतोषीमाता’ फिल्म से लेकर ‘रामायण’ सीरियल तक इस सिस्टम को देख सकते हैं। इसी फ्रेमवर्क में ‘एंग्री यंगमैन’ के नायक के रूप में अमिताभ बच्चन आते हैं। ‘अतीत केन्द्रित’ फिल्में ‘सम-सामयिकता’ को मद्देनजर रखकर बनायी जाती हैं। इस तरह की फिल्मों का एकमात्र लक्ष्य है दर्शक को ‘ऐतिहासिकता’ से बाहर ले जाना। ‘ऐतिहासिक समय’ के परे ले जाना। अतीत को स्टीरियोटाइप रूप में पेश करना। सिनेमा में ‘इतिहास’ के नाम पर ‘कहानी’, ‘कहानी’ के नाम पर ‘तयशुदा कहानी’ और ‘निर्मित कहानी’ आ गयी है।

सच यह है कि कलाओं में अतीत जब आता है तो नए तथ्यों और तत्त्वों का उद्घाटन करता है। यह प्रवृत्ति ऐतिहासिक उपन्यास में देख सकते हैं। इसके विपरीत ऐतिहासिक घटना या व्यक्ति पर बनी हिन्दी फिल्मों किसी नए तत्त्व को उद्घाटित नहीं करती। इसके विपरीत बंगला फिल्मों नए तत्त्व का उद्घाटन करती हैं। उदाहरण के रूप में हाल ही में आई ‘लालन फकीर’ और ‘कादम्बरी’ फिल्मों को ले सकते हैं। इसी तरह श्याम बेनेगल ने जब ‘भारत एक खोज’ सीरियल बनाया था तो नए तत्त्वों का प्रत्येक एपिसोड में उद्घाटन किया था। अतीत केन्द्रित फिल्में स्टीरियोटाइप प्रस्तुति के कारण मुग्ध रखती हैं। अतीत को लेकर दर्शक के मन में सवाल पैदा नहीं करतीं, लेकिन मनमानी व्याख्या का मौका जरूर देती हैं।

नए शहरी आख्यान में ‘जोड़तोड़’, ‘भय’, ‘वंचना’, ‘तुलना’ और ‘पुनरुक्ति’ आदि प्रमुख हो उठे हैं। नया शहरी अवधारणों में नहीं सोचता। वह रूढ़िगत भाषा से बंधा है। यह ऐसी भाषा है जो मृत है। इसके जरिये व्यक्ति

के मर्म को नहीं समझ सकते। इसके कारण जीवन के तथ्य और सत्य दोनों को सही रूप में समझने में असुविधा हो रही है। विश्लेषणात्मक ढंग से देखने और सोचने की प्रवृत्ति ने पूरे क्षितिज को घेर लिया है। फार्मूलाबद्धता ‘रिचुअल्स’ की तरह दाखिल हो रही है। इसके कारण अंतर्विरोधों पर नजर नहीं जाती, अंतर्विरोधों पर बात नहीं होती। खासकर राजनीति में ‘तुलना’ और ‘पुनरुक्ति’ का वर्चस्व स्थापित हो गया है।

अब यथार्थ की तुलना में केरीकेचर अच्छा लगता है। संप्रेषण में चिर-परिचित चीजों, अनौपचारिक परिवेश आदि को बार-बार पेश किया जाता है। ‘तत्क्षणता’ और ‘सरलता’ पर जोर है। नामों के संक्षिप्त रूपों पर जोर है। भाषा में आलोचना गायब हो गयी है। उसकी जगह भाषा में प्रशंसा ने वर्चस्व स्थापित कर लिया है। भय और संशय की भाषा ने शहरी जीवन को पूरी तरह अपने घेरे में ले लिया है। भाषा में ‘तत्क्षण पाने’, ‘सनसनी’ और ‘रोमांचकता’ इन तीनों ने कब्जा जमा लिया है। तार्किकता की जगह ‘निजी अनुभव’ और ‘भावुकता’ ने ले ली है। ‘अराजकता’ आम फिनोमिना है। ‘नएपन’ के नाम पर कृत्रिम चीजों वे समूचे स्पेस को घेर लिया है। अब ऐसी संस्कृति उभरकर आई है जो अंतर्विरोधरहित है। नकल, अनुसरण, आत्मसात्करण आदि प्रवृत्तियों का वर्चस्व स्थापित हो गया है। पहले ‘मेनीपुलेशन’ को बुरा मानते थे लेकिन इन दिनों उसका जमकर गुण के रूप में प्रयोग हो रहा है। अब मेनीपुलेशन के खिलाफ संघर्ष नहीं होते। ‘जिज्ञासा’ को ‘सूचना’ का दास बना दिया गया है। ‘सूचना’ को आंकड़े में तब्दील कर दिया गया है। फलतः सूचनाएँ हैं लेकिन विश्लेषण नहीं है। कॉमनसेंस के जरिए ज्ञान को पूरी तरह अपदस्थ कर दिया गया है। अब कॉमनसेंस ही ज्ञान है और यही कॉमनसेंस इन दिनों दमन का औजार है।

#### संपर्क:

ए-8, पी 1/7, सी.आई.टी. स्कीम-VII एम  
कोलकाता-700054, मो. 09331762360

## तापसी : अस्तित्व से अस्तित्वजान स्त्री

अरुण अभिषेक

कुसुम अंसल का उपन्यास 'तापसी' स्त्री-अस्तित्व-चेतना के पक्ष में अपना आगाज भरता है। जहाँ स्त्री, केन्द्रित विमर्श के रूप में उभरती है। उपन्यास का यह अंश अधिक मौजूं होगा- "माँ" नाम की वह स्त्री पता नहीं कैसी थी? धुएँ की लकीर में अनपहचाना कोई धूमिल चेहरा जो केवल उसका था, उसके लिए था, पता नहीं कहाँ खो गया था?" तभी वह चेतना पाठकों के सामने आती है कि मातृत्व का कोई संबंध शास्त्र से नहीं है। इसलिए कोई पशु मनुष्य को छोड़कर मातृत्व को उपलब्ध नहीं कर सकता। माँ तो बन सकती है हर मादा, लेकिन मातृत्व की संभावना केवल स्त्री को उपलब्ध है। स्त्री का यह कद, पुरुषों से कई गुणा आगे करता है। बावजूद स्त्री-अस्तित्व का संकट अब भी बरकरार है।

उपन्यास 'तापसी' स्त्रियों के उन व्यापक परिवेश को व्यक्त करता है, जिसमें धर्म को आधार बनाकर कमजोर और साधनहीन विधवा स्त्रियों और परित्यक्ताओं का अवर्णनीय पोषण अब तक व्याप्त है, जिन्हें पढ़ते ही रोंगटें खड़े हो जाते हैं। साथ ही विधवा आश्रम के कई नग्न सत्य पाठकों को बेचैन कर जाते हैं।

उपन्यास 'तापसी' में सिर्फ एक स्त्री तापसी ही नहीं है बल्कि ऐसी कई स्त्रियाँ हैं, जहाँ एक स्त्री दूसरी स्त्री का शोषण भी करती है। स्त्री के लिए यह निर्मम सत्य है। साथ ही स्त्री गुण-सूत्र के प्रतिकूल। उपन्यास में इन स्त्री चरित्रों का समरूप समलैंगिकता से लेकर, तुच्छ भौतिकता से जुड़ी भावों से है। बावजूद, स्त्री का कद तब ऊँचा होता है, जब तापसी प्रदत्त जीवन की शर्तों के अनुसार जीते हुए भी, वह उन शर्तों से समझौता नहीं करती और न ही उनके अनुसार ढलकर स्थिरीभूत होती है। बल्कि वह उन प्रतिकूल स्थितियों का विरोध भी करती है। तापसी का यह शौर्य उपन्यास के सौंदर्य को व्यक्त करता है। तापसी के भीतर एक अदम्य जिजीविषा है। अपने अस्तित्व के लिए चरम सीमा तक जूझती है। कथानक में उसके इस साहस का पाठक कायल भी होते हैं। लेखिका की यह सफल कोशिश है, जहाँ वे पाठकों को इस विषम स्थिति के प्रति सजग करती हैं और चेतना देती हैं। निश्चय ही उपन्यास एक क्षोभनीय संकट को व्यक्त करता है कि जो व्यक्ति, पद एवं संस्थाएँ उनके विधवाओं के देख-रेख और सम्मान के जिम्मेदार हैं, वही इनका शोषण भी कर रहे हैं। आश्चर्य तब होता है, जब उस शोषणकर्ता में स्त्री की भी हिस्सेदारी होती है या उन घटित शोषण में उनकी पार्श्व भूमिका होती है। लेखिका ने इस यथार्थ को करीब से महसूस किया है। वह तापसी के प्रति इतनी तपी और पकी हैं कि धर्म के नाम पर शोषण करने वालों के प्रति उनके कलम में आग दहक उठती है। पाठक लेखन के इस क्रूर ताप को अच्छी तरह समझते हैं और महसूसते हैं। कुसुम अंसल प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से भगवान के अस्तित्व पर भी कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाती हैं। जो मानव-मन की यथार्थपरक जिज्ञासा को व्यक्त करती है। साथ ही धर्म के नाम पर तांडव-नृत्य करने वालों का जबरदस्त विरोध भी करती है।

उपन्यास 'तापसी' स्त्री के सांस्कृतिक अस्तित्व को लेकर भी बेचैन रहता है। तभी उपन्यास में स्त्री का स्वप्न उसकी स्मृतियों के माध्यम से सामने आता है। स्त्री-मन के विभिन्न कोलॉज हैं। तापसी के पास सुंदर स्मृतियाँ हैं। जहाँ उसे सर्वप्रथम माँ याद आती है। यहाँ तापसी 'किसी बहाव में बह जाती है। घर के आँगन में अपने पेड़ की छाया के नीचे अपने ही मौन में बैठकर वह अपनी स्थिति के बारे में सोचना चाहती थी।' (पृ. सं. 126)। उपन्यास में यह चेतना विकसित होती है। तापसी के माध्यम से उन चरित्र की चेतना भी सामने आती है। यह उनका आत्मनिरीक्षण भी है। सत्य और भ्रम के मध्य एक सवाल बनती है। तापसी प्रश्न करती है कि 'मंदिर में भगवान की नृत्य-मुद्रा क्यों अंकित की गई थी? इस कारण कि सारा संसार उसकी तरंग पर



नृत्य कर रहा था या उसकी किसी-न-किसी ताल पर।' उसे याद आती है जब वह कनिका दीदी के साथ नृत्य की थी। उस नृत्य में वह कितनी लिप्त हो गई थी, गहरे कहीं समा गई थी। इन स्मृतियों की मुग्धता में मीराबाई याद आती हैं। वह कैसे कृष्ण को खोजती 'वृंदावन की कुंज गलिन...' आई होंगी। मीरा की वह लगन, उसकी लिप्तता, भक्ति का गहराव कितना मुग्धकारी रहा होगा। यह उपन्यास यथार्थ में इस मुग्धता से मोहभंग की भावनाओं और संवेदनाओं को भी व्यक्त करता है। इसके साथ ही वृंदावन की रहस्यमय रसात्मकता सामने आती है।

तापसी के संस्कृति और अध्यात्म का निच्छल स्वरूप भी दीख पड़ता है। वह दृश्य है जब गउर दासी एक गुफा में बैठे बाबा की तपस्या के बारे में बताती है। ओऽम् ध्वनि का शाश्वत सुख। अद्भुत अनुभव था तापसी के लिए। पाठक उस अलौकिक दुनिया को आत्मसात करते नजर आयेँगे। तापसी के जीवन में रखाल काका की उपस्थिति, उसके आत्मविश्लेषण में सहायक रही, जहाँ रखाल काका की अद्भुत मूर्तिकार मानसिकता सामने आती है। कैसे एक जीते-जागते स्त्री को अनावृत्त कर, उसके जिस्म को महसूसते, उसके बाद वैसी ही जीवंतता पत्थर की मूर्ति में डाल देते हैं। अद्भुत! "उनके पास दूरदर्शिता पूर्ण अन्तर्दृष्टि थी, जो परिवर्तित होते नये युग की क्रांतिकारी सार्थकता को देख सकती थी।" (पृ. सं. 95)। उपन्यास में रखाल का चरित्र भी अपना मायने रखता है। रखाल के पिता और पूर्वज अजंता-अलोरा की गुफाओं में प्रतिमाएं गढ़ने का कार्य करते थे। 'उस परिवार की मान्यता थी कि आगे जाकर भारत की अपनी संस्कृति उसकी सारगर्भिता उसे विश्व के फलक पर एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करेगी। (पृ. सं. 95)। लेखिका रखाल के व्यक्तित्व और कृतित्व को व्यक्त कर कलाकार मन के सूक्ष्म-योग को व्यक्त करती है। देखा जाय तो तापसी के इर्द-गिर्द ऐसे चरित्र हैं, जिनका उकेरन उपन्यास को विस्तार देता है। साथ ही कथानक को करीब से जानने की संवेदना। चाहे वह किरदार अम्बिका देवी, बरौता, जयमाला, तुलसी, रखाल दा, अहीर की विधवा नूराबाई, कनिका, वृंदा ही क्यों न हो। रखाल दा के बाद तापसी की पहचान कनिका दी से होती है।

कनिका दी उसे समझती है। उनकी अंतरंगता तापसी को जीवन से जूझने की प्रेरणा देती है। जिनमें जतिन दा, टीचर दीदी भी सामने आती हैं। जतिन दा उसे समझाते- 'तापोशी, महक सूंघी जाती है, अनुभव की जाती है। उसे आँख से देखा नहीं जाता जैसे किसी स्त्री-पुरुष के अच्छे-बुरे गुण।' (पृ. सं. 108) जतिन दा पर तापसी का अटूट विश्वास था। लेकिन जतिन दा उस विश्वास को खंडित कर गये। जब वे मासूम तापसी को बहशी मजूमदार से शादी करवाने के एवज में जो रकम मिलती है, उसे ताड़ी के फेनिल प्रवाह में बहा देते हैं। यहाँ पुरुष की बौद्धिकता का छद्म सामने आता है।

तापसी के अंदर एक बदलाव आया, जहाँ उसकी अपेक्षा पल रही थी। तभी वह विधवा आश्रम से मुक्त होकर 'कुसुम सरोवर' की ओर उन्मुख हुई। 'कुसुम सरोवर' जैसे किसी गहराई का प्रतीक था- 'एक बोध, एक गीली संवेदनशीलता, जो भीतर की तरफ देखने में सक्षम थी...'।" (पृ. सं. 153) अध्यापन से प्राप्त 'पहला वेतन, अपने श्रम से कमाया, उसके बहे हुए स्वेद का स्वच्छ परिणाम वह धन, हथेली पर एक नया सूरज उगा था जैसे।' (पृ. सं. 154) तापसी एक संघर्ष के बाद आत्मसुख पाती है। एक स्त्री की अपनी जिजीविषा का आत्म सुख। जीवन का एक नया आकाश। लेखिका तापसी के इस संघर्ष को बड़ी बारीक अंदाज में व्यक्त करती है। जीवन के लय और आनंद को तापसी अंतस् से महसूसती है। इनका यह संघर्ष स्त्री-प्रेरणा भी बनती है। इसकी एक वजह यह भी है कि पुस्तकों की सान्निध्य से, तापसी जिंदगी की प्रतिकूल स्थितियों से जूझने की प्रेरणा पाती है। पुस्तक-संस्कृति का यह वास्तविक चरित्र है। जीवन का एक अद्द हिस्सा है। उत्स है। इस मायने में लेखिका की अंतरंगता भी सामने आती है। यकीनन यह जीवन से जुड़े मन का सौंदर्य है। इस जगह उपन्यास का वह अंश याद करना जरूरी है, जब तापसी, बाबा से पूछती है- "बाबा, जीवन का यदि कुछ पता न हो तो क्या करे कोई? कैसे जाने?" बाबा का जवाब, तापसी की मानसिकता के परिचय के साथ, पुस्तक संस्कृति के प्रति रुझान भी है। गौरतलब है बाबा का जवाब- 'दीदी माँ, बहुत भोली हो तुम, वह

भी आज के जमाने में। माँ तुम अच्छे ग्रंथ पढ़ो, अच्छी पुस्तकें, वहीं तुम्हें ज्ञान देंगी.... अच्छी संगत करो, अच्छे लोगों से बातचीत करो।' (पृ. सं. 101) लंपट-संस्कृति के विरुद्ध यह आगाज है। समय के क्रूर प्रहार को असंवेदनशील करने की यह साधना है। साधना जीवन का लौकिक पक्ष के लिए हो या फिर अलौकिक पक्ष के लिए। उपन्यास का यह क्रूर सच सामने आता है। जटिल चरित्रों की अराजकता से सामना करना पड़ता है। वृंदावन आश्रम का यह क्रूर यथार्थ लेखिका को उद्वेलित करता है। और वे सूक्ष्म से सूक्ष्म हालात को अपनी गहन संवेदनशील दृष्टि से बिल्कुल उन चरित्रों और परिवेश के पास जाकर, सच, सच लिख डालती है। सच तो यह है कि उपन्यास महज वृंदावन आश्रम में घटित स्त्रियों के विरुद्ध एक साम्राज्य के आतंक को ही व्यक्त नहीं करता है, बल्कि उन स्त्रियों की है, जो छली जाती हैं। भ्रमित की जाती हैं। वह भी, वह दुख ज्यादा महसूस किया जाता है कि एक स्त्री दूसरी से ही छली जा रही है। पुरुष तो छल ही रहे हैं। उपन्यास का रखाल दा कास होना क्या है? अटूट विश्वास तो रखती थी, जतिन दा पर। पर जतिन दा? उपन्यास में स्त्री के प्रति एक संवेदनशील नजरिया की शुरुआत होती है। कथानक स्त्री को चेतन-संपन्न करता है। स्त्री-अस्तित्व के प्रति उनकी ललक जगती है। यानि अपने होने का आत्मबोध। यह होना ही, आत्म सुख है। तापसी की चेतना इस तथ्य का साक्षी है। 'हर समय उनके भीतर की चेतना जैसे नये किसी अनुभव के लिए उत्सुक रहता था...' (पृ. सं. 165) सच तो यह है कि तापसी के अंदर यह तराश उपन्यास के चरित्र जयमाला के सान्निध्य में ज्यादा फली-बढ़ी। जयमाला के समूचे व्यक्तित्व में एक अजीब-सा आकर्षण दिखाई देता है। क्यों नहीं? जयमाला का चरित्र स्त्री-मन का भौतिक और आध्यात्मिकता का जीवंत अनुभव है। देह से मोहभंग। स्त्री की यह अंतर्चेतना उन्हें अपने जीवन से जोड़ती है। इस तथ्य के लिए उपन्यास का यह दार्शनिक दृष्टांत गौरतलब है। जब वह जयमाला यानि एक स्त्री-चरित्र के बारे में सोच रही है। तापसी को लगा, वह काफी हद तक अपना समूचा ध्यान अपनी चेतना को

बाहरी या भौतिक वस्तुओं से सिकोड़कर अपनी ही स्वयं की आंतरिक, आत्मगत प्रतिक्रियाओं में केन्द्रित किये जा रही थीं...।' (पृ. सं. 179) निश्चय ही, उपन्यास का नाभिनाल का आशय यह है कि 'जीवन साधारणतया से उठकर एक ध्येय में परिवर्तित हो।' (पृ. सं. 180) निश्चय ही जीवन के प्रति यह संचेतना है। उपन्यास यहाँ विमर्श भी करता है। जिसमें पाठक पाठ-आनंद के साथ, जीवन के उन जटिल मारक हालातों से जूझते हुए, जीने की वास्तविक ऊर्जा भी लेते हैं, जहाँ जीवन खिल उठता है। यहाँ तापसी का जीया हुआ वह पल भी याद करना जरूरी होगा, जब वह अपनी हथेली पर तितली लेकर सोचती है- 'तितली भी तो प्रकृति की इतनी महान विशालता का एक अंश थी, संसार की गति की तरंगता में बहती हुई...।' (पृ. सं. 183) तितली की बिंबात्मकता में, स्त्री-अस्तित्व की स्थापना है। उपन्यास तापसी के माध्यम से स्त्री-मन का व्यापक विमर्श करता है। चाहे वह स्त्रियाँ जिस जगह से भी आ रही हों। प्रस्तुत उपन्यास में उन स्त्रियों की गूँज और अनुगूँज स्पष्ट सुनी जा सकती है। तब उपन्यास का यथार्थ, पाठकों को विचलित नहीं करता, बल्कि जीवन के प्रति संयमित भावों और विचारों का उद्गम बनता है। जीवन का उत्स बनता है।

कुसुम अपनी विशिष्ट गद्य शैली और पारदर्शी भाषा के कारण पाठकों के मध्य बखूब जानी जाती हैं। भाषा इतनी सजीव है कि उपन्यास के कथानक या फिर कथ्य पाठकों के मानस पटल पर कई जीवंत दृश्यों को रचते हैं और उन्हें उन अनुभवों से जोड़ते भी हैं। यानि उपन्यास में भाषा की घनीभूत रचनात्मकता ऐसी है कि उपन्यास के अमूर्त या मूर्त अनुभवों से गुजरते हुए दृश्य, कथ्य, और परिवेश को पठनीय और सघन बनाती है। लेखिका की यह लेखन-शिल्पकला इतनी परिपक्व और गहन है कि पाठक 'तापसी' को केन्द्र में रखकर, स्त्री अस्तित्व के बेवाक् यक्ष-प्रश्नों से जूझते हैं। निश्चय ही यह लेखिका की गद्य-शिल्प की संश्लिष्टता का ही परिणाम है, जहाँ पाठक उपन्यास के प्रभावों में, अपनी गहरी पाठकीय-तन्मयता से तादात्म्य बनाते हैं।

संपर्क : विवेकानंद कॉलोनी, पूर्णियाँ- 854301, मो. 9852888589

## शताब्दियों और शाश्वत प्रश्नों के 'आज' की चित्रलेखा

डॉ. शशिभूषण द्विवेदी

डिप्टी एडिटर, 'द हिन्दू' (अंग्रेजी दैनिक)

भगवती चरण वर्मा के कालजयी उपन्यास चित्रलेखा से जुड़े ये कुछ अद्भुत ताजा संयोग हैं कि मैंने यह किताब इंटर की परीक्षा देकर छुट्टियों में अपने परीक्षाफल की प्रतीक्षा करते हुए अपने पिताजी की डांट के बाद पढ़ लिया था और समझ में बहुत कुछ नहीं आने के बावजूद इसकी भाषा ने मुझे बांधा था। अब फिर लगभग बीस वर्षों बाद इसे पढ़ने का एक सुख और एक चुनौती दोनों का सामना और अनुभव साथ-साथ करने का सुख बिल्कुल अलग है; यानि यह वह सुख है जिसे रचनात्मक या 'Creative' की संज्ञा दी जा सकती है।

इस पुस्तक से जुड़ा संयोग यह कि लखनऊ उपन्यास विधा के जिन दिग्गजों अमृतलाल नागर, यशपाल और भगवती चरण वर्मा का शहर कहलाने के साथ-साथ चौथे से आठवें दशक तक 'हिंदी उपन्यास की राजधानी' भी कहलाता रहा; उसी लखनऊ के चौक इलाके को बड़ी हवेली में अपना सारा सृजन करने वाले नागर जी का यह शताब्दी वर्ष है, और इसी वर्ष उपन्यास सम्राट प्रेमचंद के पहले उपन्यास 'सेवासदन' के भी सौ वर्ष पूरे हो रहे हैं। जाहिर है कुछ पत्र-पत्रिकाएँ उपन्यासों पर विशेष सामग्री इस संदर्भ की आवश्यकता के साथ दे रही हैं कि बाकी कई रचनाओं के साथ-साथ क्या हिंदी के कुछ उपन्यासों को भी आज के समय से जोड़कर देखा-समझा जा सकता है; या उसके पुनर्पाठ में क्या कोई ऐसी गुंजाइश बनती या बचती है, या बची हुई है जो हमें इसके लिए उकसाए, या यह सोचने को चुनौती दे कि यह कृति आज हमारे लिए कितने काम की है; और आने वाले समय के लिए इसकी क्या उपादेयता है।

उपन्यासों की सूची में इस किताब पर अभी नजर जाने की एक और बड़ी वजह यह भी है कि यह कई विश्वविद्यालयों के एम.ए. या ऑनर्स वगैरह के पाठ्यक्रम में भी है और हमारे कुछ विश्वविद्यालय अभी जिन परिस्थितियों से गुजर रहे हैं उसमें इस उपन्यास के लिए मेरी नजर में कुछ ऐसा है जिस पर बात होनी चाहिए। उपन्यासों, कहानियों के बारे में हिंदी आलोचना के 'पार्टनरों' का एक तबका यह भी कहता रहा है कि उनमें, या गद्यमात्र में, विमर्श की बहुत गुंजाइश नहीं होती; क्योंकि वहाँ लेखक बहुत कुछ पहले ही 'कह चुका' होता है; लेकिन इसमें इन्हीं 'पार्टनरों' की 'पॉलिटिक्स' ज्यादा रही है, तथ्यात्मकता कम। मेरा मानना है कि हर कृति में कृतिकार कुछ-न-कुछ जाने-अनजाने, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, गाहे-बगाहे छोड़े रहता है जिसे खोजने की क्षमता आलोचक की औकात का अंकन करते हुए विद्वता में उसका अंक निर्धारित करती है।

भगवती बाबू की चित्रलेखा ऊपर के सारे संयोगों को मेरे लिए एक चुनौती में बदलकर अभी मेरे सामने है और मेरा मानना है कि पिछले सत्तर वर्षों में अगर इसकी दस लाख प्रतियाँ बिक चुकी हैं तो यह अपनी विधा में मील का पत्थर भी है, लोकप्रियता और महानता का रिकार्ड भी है और हमारे समय के लिए एक ऐसा आईना भी है जिसमें आज के कई व्याख्यायित-अव्याख्याति विमर्शों का एक आधुनिक-कोलॉज है; जिसे इक्कीसवीं शताब्दी में खड़ी कई परिस्थितियों, घटनाओं के संदर्भ में भी समझा-बूझा जा सकता है। 'लोकप्रियता' और 'महानता' साहित्यालोचन के दो बड़े महत्वपूर्ण शब्द हैं और कई बार 'लोकप्रिय' कृतियाँ 'महान' की सूची से अलग कर दी जाती हैं और बीसवीं शताब्दी के महान उपन्यासकार नोबेल पुरस्कार विजेता स्वर्गीय सॉल बेलो यह भी कहते हैं कि कोई भी बड़ा लेखक जब लोकप्रिय भी होने लगे तो समझना चाहिए कि उसकी 'आत्मा का प्रहरी चुकने लगा है' (The Protector of his soul is ceasing) (यहीं

मूल शब्द है बेलो के)। शायद यही वजह है आज कि यूरोपिय समाज मिल्टन को 'ग्रेट' लेकिन शेक्सपियर को दोनों 'ग्रेट एंड पोपुलर' एक साथ मानता है। हमारे तुलसीदास 'ग्रेट एंड पोपुलर' के कालजयी उदाहरण हैं।

तो क्या चित्रलेखा इन दोनों कसौटियों की तरह बनकर ही हमारे सामने नहीं आती? क्योंकि फ्रेंच उपन्यास 'थोया' की तर्ज पर लिखी गई यह किताब लोकप्रिय भी है और महान भी; और दोनों ही कसौटियों पर इसकी उपादेयता आज भी कायम है।

दो : भगवती चरण वर्मा ने रघुवीर सहाय को दिये एक साक्षात्कार में कहा था कि यह किताब उनके जीवन भर के 'ज्ञान-श्रम-साधना-चिंतन-मनन का निचोड़' है। मेरा मानना है कि यह पुस्तक 'पाप' और 'पुण्य' के जिस सामाजिक-दार्शनिक साहित्यिक प्रश्न से शुरू होकर चंद्रगुप्त के समय के इतिहास, समाज, नीति-नैतिकता-पुरुषार्थ, प्रेम-समर्पण-तर्पण, अर्थ-काम-मोक्ष आदि के सनातन प्रश्नों तक आती है; ये सारे प्रश्न आज के बाजार और मैनेजर से 'मैनेज' होने वाले आज लगते तो हैं लेकिन इनमें भाषा विज्ञान का वह गूढ़ार्थ भी शामिल है जिसे अर्थ का अर्थ यानि 'meaning of the meaning' या आंतरिक अर्थ यानि 'inner meaning' कहते हैं; और जो हमेशा से 'deconstruction' यानि विनिर्मिति का रास्ता खोलता रहा है। इस पुस्तक के पात्र, स्थितियाँ, कथा, उनका दर्शन, उनके द्वंद्व और सबके केन्द्र में स्थित है दो व्यक्तियों सामंत बीजगुप्त और नर्तकी चित्रलेखा का खुला आज के संदर्भ में 'live in relation' जैसा लगता हुआ प्रेम; जो सबको संभाले हुए है; एक ऐसा शुद्ध भारतीय चित्त वाला समर्पण सृजित संसार बनाते हैं जिसमें हर व्यक्ति अपनी छाया देख सकता है और अपने 'स्व' का साक्षी बनकर अपना रास्ता स्वयं चुनकर व्यक्ति-महिमा का आदर्श कायम कर सकता है।

तीन : इस पुस्तक की कथा इतनी सी है कि एक महात्मा रत्नाम्बर के दो शिष्य विशालदेव और श्वेतांक उनसे पाप और पुण्य की परिभाषा या व्याख्या पूछते हैं। निरुत्तर गुरु उन्हें अपने दो परिचितों सामंत बीजगुप्त और योगी कुमार गिरी के पास इस तर्क के साथ छोड़ आते हैं कि 'पाप पुण्य संसार में ही रहकर समझे जा सकते हैं।

योगी की कुटी उसका उपयुक्त स्थान नहीं है। योगी कुमार गिरी नए शिष्य से कहते हैं कि वे उसे 'पुण्य' का रास्ता दिखा देंगे जिसके माध्यम से वह 'पाप' को समझ लेगा।

सामंत बीजगुप्त- जो महाभोगी होने के साथ-साथ एक 'पूर्णपुरुष' भी है एक विदुषी नर्तकी चित्रलेखा से खुला प्रेम करता है और दूसरे शिष्य से कहता है कि वह औरत उसकर पत्नी न होते हुए भी 'पत्नी के बराबर' है। दूसरी तरफ यशोधरा नाम की एक लड़की- जो एक पूर्व सामंत की पुत्री है- बीजगुप्त के पास वाले शिष्य श्वेतांक से प्रेम करने लगती है, हालांकि श्वेतांक का मन अपने 'स्वामी' बीजगुप्त की प्रेमिका चित्रलेखा पर भी आ चुका है। चित्रलेखा का सामना एक बार योगी कुमारगिरी से होता है और वह उनके ज्ञान और शरीर दोनों से प्रभावित हो उनसे प्रेम करने लगती है, उनके आश्रम में बीजगुप्त को छोड़कर आ जाती है और जब योगी कुमारगिरी वासना-भ्रष्ट हो उससे प्रेम का इजहार करते हैं तो इंकार कर वह फिर बीजगुप्त के पास आ जाती है। प्रेम में हारकर विरक्त होकर बीजगुप्त अपनी सारी संपत्ति श्वेतांक नामक शिष्य को दान दे देता है ताकि यशोधरा के पिता उसका विवाह उससे कर दें, क्योंकि श्वेतांक गरीब है इसलिए उसके पिता उसका विवाह श्वेतांक से नहीं कर रहे थे। इधर 'वासना के कीड़े' कुमारगिरी को छोड़ चित्रलेखा जब फिर बीजगुप्त के पास आती है तो उसे निर्धन पाती है। उसी समय चित्रलेखा भी अपनी सारी संपत्ति दान कर देती है और बीजगुप्त के साथ यह कहकर 'भिखारी की भांति' संसार में निकल पड़ती है कि अब वे दोनों 'बराबर' यानि एकदम गरीब हो गए। बीजगुप्त और चित्रलेखा का प्रेम उदात्त प्रेम की पराकाष्ठा है।

इधर एक वर्ष के बाद दोनों शिष्य रत्नांबर से मिलते हैं और पाप पुण्य का निष्कर्ष यह निकलता है कि आदमी न पाप करता है न पुण्य, वह वहीं करता है जो उसे 'करना पड़ता' है।

चार : चित्रलेखा कथा की रोशनी में भारतवर्ष के उस कालखंड की कथा है जिसमें राजे-महाराजों के यहाँ नर्तकियाँ रहती तो थीं लेकिन वे वेश्याएँ नहीं थीं। उस समय राजे-महाराजे चाणक्य जैसे मंत्रियों की राय से सामाजिक-दार्शनिक-साहित्यिक प्रश्नों पर शास्त्रार्थ-गोष्ठियाँ बुलाते थे

जिस पर गंभीर बहसें होती थीं जिसे हम आज के शैक्षिक सेमीनारों का समकक्ष कह सकते हैं। वहाँ संगीत की महफिलें होती थीं जिसमें विहाग और यमक जैसे रागों का उदात्त झलकता था। यह वेद-पुराण, शस्त्र-शास्त्र और धर्म-दर्शन आदि से बना एक ऐसा समाज था जिसमें 'beauty with brain' वाले आज के मुहावरे पर खरे उतरने वाले चित्रलेखा और बीजगुप्त जैसे लोग थे। (इस संदर्भ में चित्रलेखा का दूसरी औरतों से हंसी-ठट्ठा और बीजगुप्त को उसको पहले दिन दिया हुआ जवाब समझा जा सकता है)। कुछ उदाहरण देखें:

“पाटलिपुत्र का जन समुदाय चित्रलेखा के पैरों पर लोटा करता था। पर चित्रलेखा ने संयम के तेज से जनित कांति को बनाए रखा। बड़े-बड़े शक्तिशाली सरदार और लक्षाधीश नवयुवक उसके प्रणय के प्यासे थे। पर उसको कोई भी न पा सका। जन-समुदाय के सामने वह असाधारण सुंदरी आती थी और विद्युत की भांति चमककर उनके सामने से लोप हो जाती थी। जिसने उसे एक बार देखा, उसके हृदय में उसे एक बार देखने की अमिट साथ उत्पन्न हो गई।

बीजगुप्त एक दिन चित्रलेखा का नृत्य देखने गया। नाचते-नाचते चित्रलेखा की दृष्टि बीजगुप्त पर पड़ी। एकाएक उसका मुख श्वेत हो गया। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो कृष्णादित्य (उसका पूर्व पति) स्वर्ग से उतरकर उसका नृत्य देखने आया है। वह रुक गई और एकटक अपने को तथा अपने सामने बैठे हुए जनसमुदाय को भूलकर बीजगुप्त की ओर देखने लगी। बीजगुप्त युवा था, उसकी अवस्था प्रायः पच्चीस वर्ष की थी। चित्रलेखा के सौन्दर्य के वशीभूत होकर वह भी एक टक उसकी ओर देख रहा था। उसकी आँखें चित्रलेखा की आँखों से मिल गईं। जन-समुदाय की आँखें उस व्यक्ति की ओर घूम गईं, जिसको चित्रलेखा देख रही थी। लोगों के मुँह से निकल पड़ा 'अरे! यह तो बीजगुप्त है।'”

इस प्रसंग के बाद बीजगुप्त चित्रलेखा के पास नृत्य खत्म होने पर आता है और पूछता है कि क्या वह कभी उसके पास आकर उससे मिल सकता है। चित्रलेखा का उत्तर व्यक्ति द्वारा अपने लिए निर्मित दर्शन का एक अद्भुत

लेकिन अपर्याप्त उदाहरण है। वह कहती है, 'नहीं! मैं व्यक्ति-विशेष के सामने नहीं आती हूँ। व्यक्ति का मेरे जीवन से कोई संबंध नहीं।'।

यह उत्तर सुनकर बीजगुप्त की आशा पर 'तुषारापात' हुआ। फिर भी वह साहस करके बोला, 'व्यक्ति से ही समुदाय बनता है। समुदाय की प्यास उसके प्रत्येक व्यक्ति की प्यास है। फिर यह भेद क्यों?'।

इस पर चित्रलेखा का जवाब है, 'भेद जानना चाहोगे तो सुनो! जिसे सब समुदाय का उल्लास कहते हैं, वह समुदाय के व्यक्तियों के रुदन का संग्रह है। निर्बल व्यक्तियों की आहें संगठित होकर समुदाय द्वारा जनित क्रांति का रूप धारण कर सकती हैं। और साथ ही समुदाय से हानि की कोई संभावना नहीं होती वहाँ व्यक्ति का ममत्व भाव भयोत्पादक केन्द्र बन जाता है।'।

वर्मा जी लिखते हैं कि 'बीजगुप्त प्रेम करने गया था, दर्शन पर तर्क करने के लिए नहीं।'।

मतलब इन दो प्रारंभिक बातचीतों से लग सकता है कि दोनों आज की शब्दावली के 'thinking people' यानि सोच-समझ रखने वाले लोगों में अपने-अपने ज्ञान के प्रदर्शन और उससे एक-दूसरे को चित्त कर देने की होड़ लगी है; लेकिन इस बातचीत की गहराई, यानि मैं जिसे 'meaning of the meaning' कह चुका हूँ; उस गहराई में जाने पर लगता है कि प्रेम का मनोविज्ञान बहुत विचित्र होता है और हल्के-फुल्के झगड़े से शुरू हुआ प्रेम बहुत गहरा, शाश्वत, उदात्त और सौन्दर्यशास्त्रीय- बोध यानि 'aesthetics' से भरा हुआ होता है। फिर व्यक्ति और समाज के संबंध वाली बहस में बीजगुप्त का पलड़ा भारी लगते हुए एक समाजशास्त्रीय-बोध का अहसास कराता है; लेकिन चित्रलेखा के उत्तर में उसके विगत दुखी जीवन का कंपन है और यह अनायास नहीं है कि एक विधवा, फिर एकल्यक्ता ऐसी। चित्रलेखा के उत्तर की तलखी में उसका विगत बोल रहा है और इसी अर्थ में आदमी का विगत कभी उसका पीछा नहीं छोड़ता, या कहिए दुःख, मृत्यु, भय, प्रेम आदि के शाश्वत भाव मनोविज्ञान की विभिन्न गुत्थियों के साथ गाहे-बगाहे-जाने-अनजाने व्यक्ति से अपना प्राप्य लेते रहते हैं और उसे पता भी नहीं चलता।

यह मानव-मन की शाश्वत धारा है जो चाहे सातवीं शताब्दी की हो या इक्कीसवीं शताब्दी की; इसके रूपक या 'metapher' बदल सकते हैं, उसकी पृथ्वी या उसकी आधार भूमि नहीं!

'चित्रलेखा' के चरित्रों में जात-पात के पचड़े से ऊपर ज्ञान की रोशनी में ऐसे लोगों की कहानी है जो 'bold' हैं और जो संबंधों के मामले में भी इतने सजग हैं कि ज्ञान के स्तर पर ही अपने लिए लोगों का चुनाव करते हैं। चित्रलेखा नामक पात्र की बातों का जवाब जिस तार्किकता से बीजगुप्त देता है वह उसके पूर्णपुरुष होने का लक्षण भी है। इस तल्खी के बाद उसका बीजगुप्त को अपने प्रेमी के रूप में चुनना इस बात का प्रमाण है कि जब तेज से तेज मिलता है तो कटुता अपने आप खत्म हो जाती है।

पाप और पुण्य को व्याख्या के लिए एक 'योगी' कुमारगिरि और एक 'भोगी' बीजगुप्त का चयन वर्मा जी की शुद्ध भारतीय-मनीषा वाली बुद्धि का चमत्कार है जो 'द्वंद्व' के दर्शन में भरोसा करती है और सारे रास्ते खोले रखती है। लेकिन 'चित्रलेखा' पुस्तक पाप पुण्य की व्याख्या का रास्ता सिर्फ भोग या योग से नहीं तलाशती; उसमें शास्त्र और राजनीति पर शास्त्रार्थ है, हर समय को हमेशा घेरे रहने वाले गलत-सही के प्रश्न हैं और द्वंद्व की वह पराकाष्ठा है जो 'man proposes and God disposes' के मुहावरे को चरितार्थ करती हुई 'योगी' कुमारगिरि को कामुक और कामुक चित्रलेखा को योग के पड़ाव तक ला ढकेलती है। सुंदरी चित्रलेखा जब बीजगुप्त को छोड़ कुमारगिरि से योग दीक्षा लेना चाहती है, उसी समय योगी पथभ्रष्ट हो अपनी कामुकता के प्रदर्शन का अंधा शिकार हो जाता है और जीवन भर कामुकता की फसल बोती-काटती नर्तकी योगी की 'शरण' में साधना चाहने लगती है। यह द्वंद्व संभवतः सृष्टि की शुरुआत से अब तक पुराना नहीं पड़ा। लेकिन चित्रलेखा जैसे सजग लोग, जो इस द्वंद्व की निरर्थकता को जानते हैं- अपना रास्ता अपने-अपने विवेक से चुनते हैं; जैसा कि चित्रलेखा बीजगुप्त को अपनाकर और कुमारगिरि को ठुकराकर करती है।

पाँच : अंततः चित्रलेखा पुस्तक में बच गया प्रेम! बच गयी उसकी उदात्तता! और पाप तथा पुण्य के पचड़े से

निकला सारांश: 'मनुष्य न तो पाप करता है न पुण्य! वह वही करता है जो उसे करना पड़ता है।' क्या यही आज के 'क्षण का दर्शन' यानि 'philosophy of time' नहीं है?

सब कुछ छोड़ 'भिखारी की भांति' रहने के लिए जब दो बिन-ब्याह पति-पत्नी जन-रव में निकल पड़ते हैं तो लगता है कि आज का 'Live in relationship' वाला तर्क जिसे आज के बाजार ने चाहे जितना भी हास्यास्पद और छिछोरा क्यों न बना दिया हो, प्रेम की उत्कटता का ही एक प्रक्षेपण है जिसे समग्रता में समझने की आवश्यकता आधुनिक और उत्तर आधुनिक समाज को है।

आज का स्त्री विमर्श गहराई से देखने पर चित्रलेखा किताब में आज के विश्व-परिवेश का सातवीं शताब्दी के भारतवर्ष का मिला जुला रूप लगेगा। और इस किताब की चित्रलेखा का नाम का पात्र स्त्री-विमर्श का वह पहला पात्र लगेगा जो घर से, फिर अपने ठाट-बाट से और फिर सारे 'जनरव' से, अपने स्वतंत्र-अस्तित्व की खोज करते हुए अपने को काटता है और सिर्फ एक भरोसेमंद व्यक्ति के प्रेम के बूते अपने 'सुख' की तलाश में निकल पड़ता है। कथा का सारांश यह भी है कि बीजगुप्त और चित्रलेखा बिना ब्याह के भी 'पति-पत्नी' हैं और जब अपना सब कुछ छोड़कर भी दोनों निकल पड़ते हैं तब भी विवाह नहीं किया है। आगे भी वे ब्याह करेंगे या नहीं, यह साफ नहीं है। लेकिन यह साफ है कि वे साथ रहेंगे। क्या यह 'Live in relationship' का उदात्त उदाहरण नहीं है?? यह "Live in relationship" का वह भारतीय संस्करण है जिसमें प्रेम सारी चीजों को बचा लेता है। आवश्यकता इस बात की है कि सारी चीजों, समाज, व्यक्ति आदि के संदर्भ में सबको प्रेम की शांत गहराई से समझा जाय, औरत अच्छी औरत और पुरुष अच्छा पुरुष बनकर सारी स्थितियों का एक दूसरे पर विश्वास के साथ सामना करें और आज के जीवन के पाप पुण्य को ठीक से जानें ताकि जर्मन उपन्यासकार नोबेल पुरस्कार विजेता हरमन हेस (Herman Hesse) के विश्वप्रसिद्ध उपन्यास 'सिद्धार्थ' का दर्शन जीवन का अर्थ यानि 'meaning of the meaning' हमारी समझ में आए।

सारांशतः इसीलिए चित्रलेखा प्रेम में जितनी संभव

उदारता, प्रजातांत्रिकता और उदात्तता 'Sublimation' हो सकती है उसका कथात्मक अंकन है। प्रेम के रास्ते सारे विमर्श (यहाँ सूफियों के प्रेम का संदर्भ भी रखकर समझा जाय) आसान हो जाते हैं; वे सारे विमर्श भी जिसका ताना-बाना इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, और दर्शन तक ऐसा फैला है कि इन्हें साहित्य के संदर्भों से जोड़कर उसके विमर्श में उतरने पर सोने में सुगंध आ जाती है; और ज्ञान के ये सारे अनुशासन जहाँ एक होकर साहित्य बनते हैं, वहाँ साहित्य अमरता की शाश्वत कोटि में आकर अलग-अलग ढंग से व्याख्यायित होने का 'disconstruction' खड़ा करता हुआ महाभारत सीरियल का सूत्रधार 'मैं समय हूँ' बन जाता है।

वर्मा जी ने एक फ्रेंच लेखक (संभवतः ज्यां क्रिस्तोफ) की कृति पढ़ने के बाद 'चित्रलेखा' किताब की जो रूपरेखा बनाई थी, उसका लेख-जोखा भारतीयता और ईसाईयत के उदात्त तत्त्वों को ठीक से समझकर ही किया जा सकता है। इसलिए चित्रलेखा एक तरफ पाप और पुण्य के सनातन प्रश्न से टकराती है, वहीं दूसरी तरफ समाज, राजनीति, दर्शन और अध्यात्म के उन पेचीदे तत्त्वों से भी टकराती है तो हमेशा 'समय' नाम के सृष्टि तत्त्व को ज्ञान के अनुशासन से संचालित करते रहे हैं। यह अनायास नहीं है कि गाँधी जी अपने को ईसाइयत से प्रभावित सनातनधर्मी भारतीय कहते थे और तिलक तथा गोखले के पहले टॉलस्टाय को अपना गुरु मान चुके थे। गाँधीवाद की स्नेहिल उदारता प्रेम को जाति-पाति से ऊपर उठाकर ही तो 'हरिजन' और 'वैष्णवजन...' तक जाती है; और उसे अगर चित्रलेखा के संदर्भ में समझना हो तो 'भिखारी' बनकर प्रेम की रक्षा करती है और 'आधे कपड़े वाले फकीर' गाँधी जी के रूप में अपने 'समय' के राजनीतिक वितान को बदल देती है। उसकी गहराई में जाना बहकना होगा।

दूसरी तरफ कुमारगिरि जैसे योगी और बीजगुप्त जैसा 'पूर्ण पुरुष' है। बीजगुप्त के जीवन में किसी चीज, भोग, योग, काम, धन, आदि का कोई निषेध नहीं है, क्योंकि वह ज्ञानी है और समर्थ ज्ञान की यह विशेषता होती है कि वह हर चीज को अपनी स्वतंत्र-इयत्ता के साथ समझने की कोशिश

करता है। दुनिया को धता बताता मस्त रहता है। बीजगुप्त जैसा महाभोगी होते हुए भी हरिश्चंद्र जैसा महादानी हो सकता है, जब वह निर्णय लेता है कि सारी संपत्ति दान कर 'जन-रवै' में 'भिखारी' की भाँति रहेगा। पाप और पुण्य भले चित्रलेखा की थीम अब तक कई को लगते रहे हों, लेकिन मेरा मानना है कि इसका थीम प्रेम के रास्ते जीवन-जगत-पाप-पुण्य-दर्शन-समाज आदि तक पहुँचकर सबसे ऊपर उठ जाना और संसार के लिए उदाहरण बन जाना ही है।

यह किताब इस बात का भी प्रमाण है कि शाश्वत मूल्य कभी पुराने नहीं पड़ते और उनकी व्याख्या अपनी अपनी बौद्धिक सामर्थ्य के अनुसार होती रहती है। उदारता का प्रजातंत्र इसीलिए जब मृत्यु (ईसामसीह का प्रसंग), भय (राम रावण का प्रसंग) या प्रेम जैसे शाश्वत मूल्यों से अपनी खुराक लेता है तो नकारात्मक शक्तियाँ उसके पास आकर भस्मीभूत हो जाती हैं और रह जाती हैं उन मूल्यों की उदारता (librelism) और उनके खुलेपन की सर्वव्यापी स्वीकृति! यहीं 1923 के नोबेल पुरस्कार विजेता भरतीयता से पूरी तरह प्रभावित कवि विलियम बट्लर यीट्स के शब्दों में 'सभ्यता के आगे बढ़ने का क्रम' यानि 'process of the advancement of civilization' होता है। जो दिखे चाहे जैसा भी; संचालित वह शाश्वत मूल्यों से होता है।

इस किताब में आज के कई ऊपर उठाए-खोजे संदर्भ हैं जिनमें लिव इन रिलेशनशिप, व्यक्ति-प्रतिभा (individual talent), व्यक्ति की गरिमा (individualism), अस्तित्ववाद आदि के साथ स्त्री-विमर्श के प्रक्षेपण स्वतंत्रता, प्रेम की उत्कटता आदि के साथ संतुष्ट जीवन का ऐसा लेखा-जोखा भी है; जो हमारे सामने आज के कई अनुशासनों के रास्ते आकर सम्पूर्ण समर्पण का 'वसुधैव कुटुम्बकम्' हो गया है। यह सोने के ढेर पर खड़े ऐसे लोगों की आधुनिक कथा है जो उसी की जंजीर में जकड़े अपनी नियति तलाश रहे हैं और अन्ततः सभी पात्र जब अपनी-अपनी जंजीरे तोड़ देते हैं तो मुक्त अनुभव करते हैं। भले वे भिखारी की भाँति संसार में निकल पड़े हैं, या कहिए संसारी हो गए हैं। (वसुधरा, श्वेतांक आदि)!!

संपर्क : 09775938214

## क्या भवभूति की नाट्य-चित्रवीथी अजंता की गुफाओं की चित्रदीर्घाओं से भी अनुप्रेरित है?

रमेश कुंतल मेघ

यह प्राक् कल्पना (हाइपोथीसिस) सचमुच बेहद मुश्किल है। कई दशकों के बाद अब इस विलक्षण सौंदर्यबोधशास्त्रीय (एस्थेटिक) दशा से हमारी मुठभेड़ हो ही रही है। यह ज्ञान की आवश्यकता तथा महाप्रश्न जो है।

पहली समस्या खंडित मूर्तियों, भग्न वास्तुनिर्माणों एवं कटे-फटे-गले चित्रफलकों के जीर्णोद्धार (रेस्टोरेशन) के साथ-साथ उनकी पुनर्निर्मिति की रही है। इसी की पूरकता अधूरी कलाकृतियों के पूरा बनाने की है। यहाँ बहुकालिक (डायक्रोनिक) विधानों को समकालिक (सिन्क्रोनिक) व्यास रेखा पर लाकर उनके 'समग्र जेस्टाल्ट' गढ़ने की रही है। आज तो कम्प्यूटर इनकी सक्षम त्रिआयामी छवि रचना कर देता है। भारत में इस तरह की विभिन्न प्रकारेण विविध कलावस्तुओं (आर्टिफैक्ट्स) की संख्या एक दो में नहीं, हजारों-लाखों में है। अब यह संग्रहालयविज्ञान (म्यूजियमोलॉजी) का विषय भी बन गया है। फिलहाल हम इससे रू-ब-रू नहीं होंगे।

संप्रति हम एक दूसरी ही जटिल समस्या का मुकाबला करने जा रहे हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र की 'स्थानान्तरण-प्रोद्यौगिकी' (ट्रांसफर टेक्नोलॉजी) को कैसे समसमय-समुन्नत किया जाए? यहाँ हमारा सरोकार बौद्ध अजंता (ई.पू. 200- ई.पू. 650) के वास्तु-शिल्प-चित्र की त्रयी में से भित्तियों में आलेखित चित्रदीर्घाओं को काव्यनाट्य में अंतरित करने, तथा वैष्णव नाटककार श्रीकंठ भवभूति (ई. प. सातवीं शती) के 'उत्तररामचरितम्' नामक काव्य नाटक (के प्रथम अंक) में वर्णित रामचरित के आरंभ से लेकर सीता की अग्निदीक्षा तक सौशब्द वृतांत को चित्रकला में रूपांतरित करने वाला है अर्थात् नयन को वाणी में, और गिरा को नयन में करने वाला है। यह आधुनिक एवं अंतर्भुक्त सौंदर्यबोधशास्त्र के परिमंडल में काव्य और नाटक की, चित्र और काव्यनाटक की, संरचना (स्ट्रक्चर) और संकेत विज्ञान (सेमिओलॉजी) की, भव्य वृतांत (ग्रैंड नेरेटिव) और विनिर्मिति (डिस्कांस्ट्रक्शन) आदि की आधुनिक टेक्नोलॉजी को चुनौती भी है। इतने विषयों और परिभाषाओं का हमने जो हवाला दिया है, वह रास्तों के अन्वेषण की संभावित दिशाएँ हैं। सचमुच बड़ी मुश्किल है!

हमारा यह अध्ययन प्रभाव का कतरई नहीं, बल्कि अनुप्रेरणा का है। कारण कि अजंता की चित्रकला बौद्धकला है और 'उत्तररामचरितम्' नाटक विष्णु के अवतार से संबंधित है। दूसरी ओर दोनों के बीच आठ से दस शताब्दियों की दूरी तीसरी ओर दोनों के माध्यम क्रमशः दृश्य और श्रव्यदृश्य हैं। चौथी ओर इनके सांस्कृतिक प्रतीक, अभिप्राय तथा भू-दृश्य में भी यथेष्ट अंतर है। यद्यपि बाद में बुद्ध को भी विष्णु का अवतार मान लिया गया था, लेकिन बौद्ध करुणा-सिद्धांत तथा भवभूति द्वारा करुण रस को ऐकल महत्त्व देना ही हमें प्रेरणा के बिंदु तक ले जाते हैं। इसके अलावा आंध्र-सातवाहनों से लेकर पल्लवों, चालुक्यों, राष्ट्रकूटों तक दक्षिण और उत्तर में सार्थवाहों का जाल फैला था। पद्मपुर में जन्मे भवभूति दाक्षिणात्य थे। इन कारणों से हम परवर्ती भवभूति पर समानांतरता के न्याय से अनुप्रेरणा प्राप्त करना मान सकते हैं। इसके लिए हमें आगे ही एक नवीन विधा (यॉनर) में भी इतिहास के 'जादुई यथार्थवत्ता' के जैसा प्रयोग करना पड़ रहा है।

अब ई. प. सातवीं शताब्दी है। दाक्षिणापथ में बौद्ध अजंता और बाघ की चित्रादीर्घा, सित्तनवासल में जैन-अजंता की चित्रवीथी तैयार हो चुकी हैं। इल्युरा तथा हाथीगुंफा की शैव शिल्पकृतियाँ अधिष्ठापित हो रही हैं।



वैष्णवों की कोई भी प्रमुख चित्रवीथी नहीं है तथापि रामेश्वरम्, तिरुपति, श्रीरंग में उनके बृहद गगनचुंबी मंदिर चमत्कृत करने को बनने लगे हैं, शनैः शनैः।

तभी कई शताब्दियों के बाद (छायारूपों में) तथागत बुद्ध अपने शिष्यों के साथ अजंता को देखने आए हैं। साथ में सारिपुत्र, मौगल्यायन, आनंद आदि भी हैं। वे अजंता की गुफाओं तथा उनमें बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की, अवलोकितेश्वरों की चित्रगाथाएँ अवलोकित करके बेहद चकित हैं। अब वे गौरांग पद्मपाणि अवलोकितेश्वर तथा साँवले वज्रपाणि अवलोकितेश्वर के सामने खड़े हैं (मानों वे श्याम राम और गोरे लक्ष्मण के जैसे हैं)।

बुद्ध कहते हैं: 'मैंने तो निर्वाण का मार्ग बताया था ताकि आत्मा दुःखपूर्ण संसार में आवागमन के चक्र से मुक्त हो सके। किंतु यहाँ तो वनों और संघारामों में घूमने वाले महायानी भिक्षु-भिक्षुणियों ने कई कथित पूर्वजन्मों में, मेरी कई योनियों की अनेक जातक-कथाएँ चित्रित कर दी हैं। यहाँ नहीं, भविष्य के बोधिसत्त्वों एवं अवलोकितेश्वरों द्वारा धर्मचक्र परिवर्तन करा डाला है। उन्होंने अब यहाँ मुझे 'भगवान' ही बना दिया है। यहाँ तो अवस्ती का चमत्कार भी अंकित है वहाँ थेरी यशोधरा और पुत्र राहुल के सामने मैं हूँ। चलो, चलें।'।

आनंद उन्हें यशोधरा-राहुल के पटल के सामने ठहरा देते हैं। वे अबोधपूर्वास्मृति को साक्षात् करते हुए कहते हैं कि इस दुःखमय संसार तथा जीवन से नारियों को भी तो विमुक्ति मिलनी चाहिए। सो, मैंने नारियों को भी संघ में प्रवेश करा लिया। वे धर्मसंघ में मेरी शरण पा रही हैं। उन्हें संसार-प्रपंच की अग्नि से बचा लिया गया। नारी मुक्ति की दिशा खुल गई है। वे स्वाधीन भिक्षुणियाँ हैं।

सारिपुत्र आगे जोड़ते हैं कि 'हे भगवन!.... राहुल की परंपरा में आगे ऋषिपुत्री शकुंतला के पुत्र भरत हुए जिनके नाम से आर्यावर्त भारत कहलाया। इसी तरह आपसे बहुत पहले अयोध्या के रघुवंशी महाराजा श्रीराम द्वारा पुनः वन में त्यागी गयी महारानी सीता के दो तेजस्वी पुत्र जन्मे थे जिन्होंने दिग्विजय के अश्व को रोककर युद्धजन्य न्रकवातित्व को चुनौती दी थी। कालचक्र स्तब्ध हो गया था।'।

“हाँ, हाँ, धर्म चक्र-प्रवर्तन। यही तो रामराज्य का भी

श्रेय है।' सारिपुत्र मौगल्यायन पूछते हैं- 'इन गुफाओं के भित्तिचित्रों की महायात्रा कैसी हुई, प्रभु ?'

तथागत- 'अहो, सारिपुत्र! पंद्रह बीस शरदों (शताब्दियों) के पश्चात् यह अजंता-उपत्यका सघन वनाच्छादित हो जाएगी, किंतु मैं भविष्य का संदर्श कर रहा हूँ।... ऐसे सुदीर्घ महाकालशयन के पूर्व-दक्षिण के महासिंधुओं और उत्तर के हिमालय पार के चीन देश में तुंगह्वांग में, मंगोल देश के अश्वदान में, गांधार क्षेत्र के बामियान में, यवद्वीप के बर्द्धभूधर (बोरोबुदुर) तक मैं अजंता की धर्मकला की महिमा छा जाएगी। अनेक शिष्य देश देशांतरों में जाएंगे। वे शांतरक्षित, धर्मकीर्ति, पद्मसंभव, कश्यपमातंग, भहारगुरु, महास्थविर होंगे।' आनंद- 'हाँ, प्रभु! एक दक्षिणात्य युवा कवि भी कई बार इनके फेरे लगा रहा है। वह अपना श्रीकंठ और उपनाम 'भवभूति' बताता है। पद्मपुर में जन्मा है। उसने एक नाटक भी लिखा है: 'महावीरचरित' नाम से।'।

गौतम बुद्ध : 'हाँ ५५५ वही भवभूति! मेरी महाकरुणा के सामाजिक उपदेश को वह रस समाधि द्वारा करुण रस के रूप में दिगदिगंत में फैलायेगा। वह वनवासिनी रानी सीता के दो यशोधर पुत्रों लव और कुश के द्वारा अजंता के जैसा काव्यात्मक कायान्तरण भी कर डालेगा। ...वह श्रीराम के उत्तरचरित पर भी नाटक लिखेगा जिसमें ये चित्रदीर्घाएँ अवतारी श्रीराम के योगीश्वर वनवासी जीवन पर चित्रकार आर्य अर्जुन की सहायक होंगी। अजंता के चैत्यों को अयोध्या के श्रीराम के वासगृह में स्थानान्तरित कर देगा, वह विद्रोही! ये गुफाएँ ही आश्रम में बदल जाएँगी।'।

आनंद- 'तब तो वह इस विपुल पृथ्वी में आगत कई शताब्दियों तक उपेक्षित रहकर भी करुणा को आनंद में अभ्युदित करता रहेगा। यह उसका प्रारब्ध होगा।'।

सारिपुत्र मौगल्यायन- 'ऐसा ही हो!!'

तथागत ने तथास्तु कहा।

(समस्त योगमाया अंतर्धान हो जाती है)

(3) अजंता के इतस्वतः अवलोकनों के अनंतर भवभूति ने भोजपत्रों के पुलिन्दों पर जो टीका टिप्पणियाँ लिखी थीं उन्हें वे अपने साथ कान्यकुब्ज नरेश यशोवर्मन (ई. प. आठवीं शती) की सभाओं में ले जाते रहे होंगे। अनेकानेक लोकश्रुतियों द्वारा छनती हुई वे बातें आज तलक भी मिथकीय

निजंधरों के प्रत्याभास में प्रचलित हैं। तदपि वे अनुमान मात्र हैं। ठोस प्रमाण सिद्ध नहीं हैं।

आज हम उन तथाकथित टीका-टिप्पणियों के आधार पर अनुमान लगाते हैं कि नाटककार भवभूति दर्शनशास्त्र के भी अध्येता रहे होंगे। शायद उन्होंने बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति द्वारा प्रणीत सामान्य या जाति की कल्पना के बजाय लोक में व्यवहारी पुरुष की दृष्टि में अनेक एकविध विषयों में अभेद की प्रतीति के सिद्धांत को रामचरित विषयक चित्रावली, पात्र राम सीता लक्ष्मण द्वारा चित्रावली-दर्शन तथा प्रेक्षकों द्वारा साक्षात् रामसीतादि के प्रत्यक्ष को ज्ञानोपाधिपरक अनुकृति माना है। उन्होंने वेदांत के रजत-शुक्ता-रूपक को वास्तविक भ्रांति वाली प्रतीति को भी संशोधित करके स्वीकार किया है। उनको 'कामसूत्र' में यशोधर द्वारा भयस्कृत चित्रकला के सङ्गों तथा 'विष्णु धर्मोत्तर पुराणा' की भी गहरी समझ लगती है।... हम उन तथाकथित टीका-टिप्पणियों से उनके बौद्ध कला दर्शन और उपरांत में 'उत्तर रामचरितम्' में नाट्यपरक चित्रदर्शन, में धारावाहिकता का भी अंदाजा लगाते हैं कि महायान-शाखा में नागदेव-देवियाँ, कुबेर यक्षादि, हारीति जैसे बहुजन के देवताओं को स्वीकार कर लिया गया। उसकी विचारधारा में बोधिसत्व में ही बोधि प्राप्त करने के सब तत्व विद्यमान हैं ('उत्तररामचरितम्' के रामसीतालक्ष्मणादि में ही साक्षात् राम सीतालक्ष्मणादि का नट-रूप 'अभेद')। बोधि प्राप्त करके वे बुद्ध हो जाते हैं। इसके लिए इच्छारहित होना पड़ता है जिससे कि बोधिसत्व में दुखी जन लोकजन समुदाय के प्रति क्षमा-करुणा का भाव तथा निवृत्ति की कामना रहे। इसे वे अपने बुद्धत्व के हित के लिए त्यागना नहीं चाहते। (इसी उपक्रम में अवलोकितेश्वर या पद्म-वज्रपाणि विष्णु जैसे) (पद्म-गदा-चक्रधारी) संस्थापक हो गए।

अजंता में बुद्ध के मानवीय जीवन की बहुत-सी घटनाओं को बेहद महत्व दिया गया है और संग-संग बुद्ध के पिछले जन्मों के पशु, पक्षी एवं अन्य रूपों की गाथाओं को भी बड़ी महत्ता मिली है। अतएव हीनयानियों के नाम रूपातीत बुद्ध यहाँ पद्मपाणि-वज्रपाणि हो गए। वे एक बार स्वर्णमृग की योनि में, एक बार वानरयोनि में भी पैदा हुए

माने गए। एक महाजनक जातक भी है जहाँ मरणासन्न राजकुमारी मिलती है (शायद भवभूति ने मृग एवं वानर के साथ विरह विदग्ध राम का लीलाहीन मानवीय रूप यों भी उभरा होगा।) इस भाँति भवभूति ने 'उत्तररामचरितम्' नाटक के प्रथमांक में विष्णु-अवतार श्रीराम की काव्यनाट्यपरक लघु अजंता की परिकल्पना कर डाली है। आखिर हम साँझी सांस्कृतिक विरासत के खजाने से ही तो चुनते हैं। इसके पहले श्रीकंठ कालिदास से खूब प्रभावित रहे थे क्योंकि दोनों का प्रकृति प्रेम भी प्रगाढ़ है। महाकवि के 'मेघदूत' से प्रभावित होकर पहले तो उन्होंने 'महावीरचरित' में मिथकों की स्वच्छंद व्याख्याएँ करते हुए प्रकारांतर से अपनी मौलिकता के सबूत दिये हैं। इसमें भी राम सीता लक्ष्मण हनुमानादि द्वारा पुष्पक विमान में आरूढ़ होकर आकाश मार्ग से लंका से अयोध्या तक की वापसी की यात्रा का वृत्तांत है। इसमें राम सीता को पृथ्वी के उन विभिन्न स्थलों के (अधोमुखी परिदृश्य (पर्सपेक्टिव) द्वारा) शब्द चित्र रचते हैं जिनसे मार्मिक भावदर्शाएँ अथवा महत्वपूर्ण घटनाएँ जुड़ी हुई हैं। 'मेघदूत' में भी आषाढ़ के प्रथम दिवस वाले मेघ ने आकाशमार्ग से रामगिरि से हिमालय की अलकापुरी तक की यात्राएँ की हैं। भवभूति ने भी साम्यरूपकता से भूचित्रों का भव्य आत्मकथात्मक वृत्तांत राम सीता-संवादों में दृष्टिगोचर कराया है। इस प्रसंग में घटना की अपेक्षा संवाद की प्रमुखता है। इसीलिए यह खंड एक शानदार भव्य वृत्तांत (ग्रैंड नैरेटिव) है। 'उत्तररामचरितम्' में भी चित्रधुरी पर उनके भव्य वृत्तांतों का सारांशी निदर्शन (इलस्ट्रेशन) हुआ है। सनद रहे कि कालिदास और भवभूति के बीच लगभग चार शताब्दियों का फर्क है।

4. आखिरकार जब दक्षिणापथ में शैव और जैन संप्रदायों का प्रभुत्व था तब आठवीं शताब्दी में भवभूति ने दो बार रामवृत्तांतों को क्यों लिखा? क्यों उन्होंने लंका से अयोध्या तक की यात्रा को काव्यकला (महावीरचरित) तथा चित्रकला (उत्तररामचरितम्) में सहक्रमिकता दी?

कुछ अन्य पारिस्थितिक प्रमाणों का प्राक्कल्प (हाइपोथीसिस) किया जा सकता है। दक्षिणापथिक श्री भवभूति पर बौद्ध दार्शनिकों का महाकरुणा-परक प्रभाव

तो था ही, नाटक 'महावीरचरितम्' में जो द्विअर्थक भ्रांति है वह जैन-समानांतरता को भी परिलक्षित करती है। और दक्षिणापथ में बौद्ध एवं जैन तथा शैव मतों का शताब्दियों तक प्रचंड आमना-सामना होता रहा था जो सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों था।

इसके अलावा भी अजंता की गुफाएँ पूर्णरूपेण बौद्ध हैं और उनमें भित्तिचित्रों की प्रमुखता है। वे इस्वी सदी के आसपास से शुरू होकर वाकाटकों-गुप्तों (ई.प. 7वीं शती) के युग से गढ़ी जाती हुई ई.प. 7-8 वीं शती में परिपूर्ण हुई। उनमें शाक्य राजकुमार सिद्धार्थ से लेकर तथागत तक तथा बुद्ध से लेकर बोधिसत्त्वों अवलोकितेश्वरों तक के अंतर्भुक्त जातकवृत्त हैं। नाटककार भवभूति ने भी अपने दोनों नाटकों में श्रीराम के अयोध्या से लेकर लंका में सीता की अग्निपरीक्षा तक फिर वहाँ से पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या लौटने पर राजा राम के घटनाचक्र लिये हैं। इसलिए यह अनुमिति गलत नहीं है कि परिपूर्ण हुई अजंता की दिगंतव्यापी कीर्तिगाथा का समय तथा भवभूति का समय, दोनों परस्परच्छादित हैं।

इसी लड़ी में इल्युरा शिल्प-प्रधान है और उसकी बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन-गुफाओं के समूह सौहार्द्रपूर्ण सह-अस्तित्व का प्रमाण हैं। वहाँ कैलाश मंदिर में शिवगाथा के अलावा ब्राह्मणधर्म की जो सोलह गुफाएँ खोदी गईं वे भी ई.प. 7वीं शती की अर्थात् चालुक्यों के समय (ई.प. 520-752-783) की हैं। देवगिरि की शैलमालाओं के पगतल इल्युरा-श्रेणी, सत्पुड़ा तथा सह्याद्रि के पगतल में अजंता घाटी और भवभूति के दोनों नाटकादि एक ही कालचक्र की साधना के एकीकृत प्रभामंडल बनाते हैं। अतएव यह निष्कर्ष सिद्ध भी होता है कि भवभूति की नाट्य चित्रवीथी अजंता की गुफाओं की चित्रदीर्घाओं से जरूरतन अनुप्रेरित हुई है क्योंकि संपूर्ण संस्कृत-साहित्य में ऐसा कोई दूजा सहस्रदीप नहीं है।

पहला कारण रामकथा में संघर्ष और अथाह करुणा भी है। दूसरे यह दक्षिण और उत्तर भारत के बीच दोनों ओर से संयोजक है। तीसरे अगमड़े भवभूति को उभारते वैष्णव सौंदर्यबोध शास्त्र की मौलिक उद्भावना की चुनौती का पुनश्च सामना करना पड़ा जिससे तब तक कतई नहीं जूझा जा सका था। चौथी वजह तब की ऐतिहासिक विनिमिति

है जो बेहद उलझी हुई है। वाकाटकों (ई.प. 250-550) एवं गुप्तों को विन्ध्य देहरी पर समकालीन साझेदारी रही थी। वत्सगुल्मी शाखा के वाकाटक हरिसेन के समय (ई.प. 465-490) में अजंता की सभी सुकीर्त गुफाएँ खोदी तथा चित्रांकित की गई थीं। वाकाटक-सत्ता की समाप्ति के पश्चात् ई.प. 510 के लगभग विष्णुकुंडिन प्रभावशाली हो गए। वे मानो वाकाटकों के उत्तराधिकारी जैसे थे। समानांतरता में (ई.प. 520 के लगभग) महिष्मती में कलचुरियों की नई शक्ति का अभ्युदय हुआ। वे पाशुपत थे तथा शिव की लकुलीश-रूप में पूजा करते थे। वे पल्लवों की तरह उदार था और विष्णु के भी आराधक थे। इसके बाद बादामी के पश्चिमी चालुक्यों का छठी शताब्दी के मध्य से आठवीं शताब्दी के मध्य तक 'दकन' पर अधिपत्य रहा। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा पुलकेशिन द्वितीय था जिसने हर्षवर्धन की सत्ता से टक्कर ली थी और वेंगी के पल्लवों को जीता था।... इन सबके बाद (ई.प. 750 के लगभग) राष्ट्रकूट प्रभावशाली हो गए। इस तरह परमभागवतों के बाद वैष्णवधर्म साधना विकसित और संस्थापित हो चली थी। भवभूति का परिवेश यही था। उनके बाद (ई.प. दसवीं शताब्दी के आसपास) आचार्यों (विशेषतः रामानुज) ने वैष्णवधर्म को राष्ट्र समावेशी प्रकल्प दे दिया। अस्तु!

इसका मतलब यह हुआ कि कवि द्वारा नाट्य (थियेटर) तथा नाटक (ड्रामा) की संरचना का सामंजस्य किया गया। रंगमंच के 'सेटों' पर तो श्रीराम के वासगृह की दीवारों और उन पर ताड़कावध से लेकर सीतादेवी की अग्निशुद्धि तक की अन्य पात्रों समेत चित्रकथा (पूर्वकथा) चित्रित है। और रंगशीर्ष में परवर्ती अंकों में (नट रूप) में वे ही चित्रलिखित पात्र होकर उत्तरकथा में मौजूद हैं। एक में ही चित्र-पात्र-नट के तिहरेपन का ऐसा अंतर्विलयन करने के लिए संदर्भित बीती हुई घटनाओं तथा मार्मिक भावदशाओं को संवादों एवं संकेतों द्वारा सामने उपस्थित प्रेक्षकों के लिए (सूच्य एवं आहार्य द्वारा) प्राण संचारित (ऐनिमेटेड) फिल्म जैसा बनाया गया है। इस उपक्रम में नटपात्र ही साक्षात् पात्र होकर दर्शकों के अनुकार्य भी निभाने लगते हैं। अतः दोहरा दिग्दर्शन है। एक ओर रंगभूमि

पर (मत्तवारणी समेत) रामसीतादि अपने ही चरितपटल के पूर्व खंड को देख रहे हैं तथा दूसरी ओर सामने उपस्थित सामाजिक समूह कई रामकथा पटों की प्रत्याह्वान पर अनुमिति के और नटादि का स्वयं रामादि में अन्तरण के विचित्र साधारणीकरण की प्रेक्षा कर रहा है। इस स्थिति में स्वपराण्य संबंध का निरसन भी नहीं हुआ है। आश्चर्य तो यह है कि नाटक के इस अंकपर्ण में कहीं भी चित्र गोचर नहीं है, बस उनका गत्यात्मक बिंब-विधान है। साथ-साथ टिप्पणी-प्रतिक्रियाओं द्वारा एक विपुल वैभवशाली अजस्र-समृद्ध स्मृत रूप विधान भी है।

इस तरह परोक्ष चित्रकार आर्य अर्जुन के माध्यम से भवभूति ने रामचरित की वैष्णव की चित्रवीथी का बढ़िया 'ब्लूप्रिंट' तैयार किया है। बस, इसी अनुमान से हम अजंता की गुफाओं (सं. 9, 10, 19, 26, 29) की चित्रदीर्घाओं से संभावित अपुप्रेरणा के अनुबंग को ले रहे हैं। सनद रहे कि अजंता की चित्रकला तथा 'उत्तररामचरितम्' के प्रथमांक की चित्रकाव्यकला के बीच में परस्पर 'सादृश्य' अथवा 'प्रमाण' अथवा 'योजना' नहीं है। लेकिन साम्यरूपकता (एनालॉजी) का संदर्भ तकरीबन परिलक्षित किया जा सकता है। इस गाँठ को हम आगे चलकर खोलेंगे। नेपथ्यग्रह एवं रंगपीठ के चित्रकार आर्य अर्जुन द्वारा रामचरितपटल का चित्रांकन, तथा (बाद में) समानांतर लवकुश द्वारा रामचरित के गाथा गायन में इसकी कुंजी मिल सकती है।

इसका मतलब है कि संरचना (स्ट्रक्चर) तथा सौंदर्यबोध (ऐस्थेटिक्स) के संयुक्त आयामों पर यह खुलासा हो सकता है। हम इशारतन बता दें कि सौंदर्यबोध शास्त्र के परिवृत्त में चित्रशिल्प के 'षडंगों' तथा श्रीशंकु-सम्मत काव्यनाटक के 'चित्रतुरग-न्याय' को अवकूटित (डि-कोड) करके ही अभिलिखित की प्राप्ति की संभावना है। प्रथमांक के अंशपर्ण में हमें वृत्तांत एवं चित्रण एवं वर्णन को मिश्रित संरचनाओं में अनेक पताका-प्रकरी, संकेत, कूट, सूचक, चिह्न-चक्रचिह्न, बिंब, स्मृति, कथादर्शन, मिथक, तथा पारिभाषिक आदि की लड़ीवार प्रस्तुतियाँ मौजूद हैं। अतएव आधुनिक तकनीकी शब्दावली में यहाँ 'एनिमेशन' एवं 'फीचर फिल्म' की गतिकी (डायनेमिक्स) का मेल-सा हो गया है। पहले कोई चित्र 'स्थिर' (स्टिल) है। फिर

वह 'गाइड' लक्ष्मण द्वारा किरणनाभि (फोकस) में आता है। फिर वह गतिपरक ऊर्जा में भावों-घटनाओं की स्मृति तथा अभिव्यक्ति की -द्विपर्ण विरुद्धता' (बाइनरी अपोजीशन) में घटित/अनुकार्य हो उठता है। यहाँ सूच्य दृश्य तथा प्रत्यक्ष की चमत्कार-धर्मी अन्योन्याश्रित कान्त मैत्री भी है। वही सूच्य चित्रों की समकालिकता को बहुकालिकता में बदल देती है।

5. यदि 'महावीरचरित' में पुष्पक विमान द्वारा लंका से आयोध्या में वापसी का काव्यात्मक वृत्तांत है तो 'उत्तररामचरितम्' के प्रथम अंक में पूर्वार्धिका अर्थात् मिथिला अयोध्या से आगे वनगमन और लंका विजय तक का चित्रकथामय वृत्तांत है। पहले नाटक में अग्निपरीक्षा के बाद से शुरुआत होती है और दूसरे में सीतादेवी की अग्निशुद्धि तक की चित्रकथा है। बाद में गर्भवती सीता को पुनः लोकापवाद की अग्निपरीक्षा देने को वनवास भोगना पड़ता है। लगता है कि 'अग्निशुद्धि' के अभिप्राय का आतंककारी सन्नाटा भवभूति तथा श्रीराम, दोनों को प्रशांत रहने नहीं दे रहा है। अतः दोनों का आत्मसंघर्ष जारी है। इसमें प्रचंड आत्मकरुणा का प्रलय मच रहा है। राम को गुप्तचर दुर्मुख लोकापवाद की अनहोनी से खबरदार कर देता है। किंतु इससे गर्भवती सीता तथा लक्ष्मण अनजाने हैं। अतः चित्रवीथी-दर्शन के बाद जब सीता में निश्छलता से वनभ्रमण की इच्छा जागती है तो राजा राम प्रेमी पति राम पर विजयी होते हैं। इसी ओट से सीता देवी को पुनः भ्रमण के बहाने वनवास दे देते हैं। अतः चित्रवीथी पत्नी देवी सीता के वनवास की समाप्ति अधूरी रह जाती है। अधूरी चित्रवीथी को पूर्ण करने का कार्य नाटककार भवभूति 'उत्तररामचरितम्' के अगले अंकों द्वारा करते हैं। तदपि केंद्रीय बिंदु है, अग्नि परीक्षा!

अथातो-चित्रवीथी

(क) आरंभ में मिथिला में राम विवाह के कुछ रस्मों के चित्र हैं- पूजन, कंगन धारण, मूर्ति महोत्सव के शांत संस्कार, चारों बंधुओं के मंगल।

(ख) अयोध्या में दिवंगत पिता की स्मृति, माताएँ, सीता-सौंदर्य, भागीरथी की सिलसिलेवार मिथकें।

(ग) फाँदे गए वृत्तांत- मंथरा कैकयी का मात्र निदर्शन

है। इसी तरह विंध्याटवी में विराध-वृत्तांत भी शूर्पणखा-चित्रवली भी।

(घ) चित्रकूट और वन में: भरद्वाज आश्रम, श्याम नामक वटवृक्ष से जुड़ी मधुर यादें, अनेक रोमांटिक यादों का चेतना-प्रवाह, गोदावरी की गुफाओं में जनस्थानादि, प्रख्रवण नामक पर्वत। तपोवन। वानप्रस्थों के आवास (अजंता की यादें?)

(ङ) पंचवटी: बेहद मधुर रोमांटिक यादें; यहीं तक राम का चित्रदर्शन; यहीं पर सीता का हरण।

अथाह दुख-वेदना-व्यथा-करुणा राम का शोक और विरह और रुदन।

(च) जटायु-चित्रकथा : मिथकों की कई पृष्ठभूमिकाओं सहित

(छ) कुंजवान पर्वत : मतंग ऋषि का आश्रम; पंपा-सरोवर की रमणीयता; मल्लिकाक्ष नामक हंसों के मधुर गान; रामाश्रु की आर्द्रता।

(ज) हनुमान-प्रसंगकथा : पूजनीय देवता की कुछ मिथकों के संदर्भ

(झ) माल्यवान् पर्वत चित्रावली : मेघदूतों के साहचर्य; अब लौटे हुए सीता-विरह से विचलित राम।

(ञ) लंकावासी राक्षसों के अनगिनत अति उत्कृष्ट कार्यों से आश्चर्योत्पादक उत्तरोत्तर रामचरित का चित्रांकन; गर्भवती देवी सीता की भगवती गंगा में स्नान करने की इच्छा (और इस व्याज से राम द्वारा सीता को पुनः वनवास)। अर्थात् अग्निशुद्धि वाले कथन के समापन से प्रारंभ हुआ और सीता द्वारा चित्रदर्शन से उत्पन्न पवित्र गंगा में स्नान की दोहदमय लालसा से बढ़कर रंगमंच में आगे शुरू होता है कथादेश।

इस चित्रवीथी में प्रकृति आश्रय है, आलंबन है तथा उद्दीपन है। यहाँ प्रकृति और नारी की कालिदासी कांतमैत्री भी है। कुछ वृक्ष विशेष हैं: श्याम नामक वटवृद्धा (चित्रकूट चित्र), इंगुदी वृक्ष (शृंगवेरपुर-चित्र), कुसुमित कदंब वृक्षमाला (कुंजवान् पर्वत), सुरभित पुष्पों वाला अर्जुन (माल्यवान् पर्वत)

तीन-चार पर्वत विशेष हैं: विंध्याचल वन, प्रख्रवण पर्वत, कुंजवान् पर्वत, माल्यवान् पर्वत।

दो-तीन की रमणीय एवं दिव्य शोभा है: पंचवटी, अजंता विहारों की तरह आश्रम, पंपा सरोवर के भू-चित्र।

सो, भवभूति ने जिस चित्रवीथी का प्रकल्प आर्य अर्जुन के माध्यम से रचा है उसमें वनदेवियाँ हैं, नदी देवियाँ हैं, जटायु तथा हनुमान जैसे दिव्य पात्र हैं, उनमें स्वयं राम, सीता, लक्ष्मण क्रियमाण हैं तथा इन सबको आच्छादित करती त्रिपुरसुंदरी प्रकृति है जो कभी लास्य तो कभी तांडव में निमग्न है। यहाँ प्रकृति का 'मानवीकरण' एवं 'दैवीकरण' एक साथ हुआ है, चित्रवीथी के नेपथ्य से। राजाराम का त्यागयोग और सीता की अंतर्वेदना बहुजनहिताय-बहुजन सुखाय घटती है।

लक्ष्मण आद्योपांत संदर्शक (गाईड) के अनुकार्य को निभाते हैं। वे महाराजा श्रीराम के वासगृह की भित्तियों पर (चित्रकार आर्य अर्जुन द्वारा अंकित) रामचरित के अभिलेख को दिखाने राम तथा सीता को लिवा लाते हैं, किंवा इन्हें देखने का अनुरोध करते हैं।

अब मधुमती भूमिका तैयार होती है जब राम देखने से पहले पूछते हैं कि (क्या) दुःखित मन वाली सीता को (इस समय मनोविनोद की अपेक्षा है?.... अतः पहले यह बताओ कि (इसमें) कितनी अवधि के चित्र रचे गए हैं?' लक्ष्मण बताते हैं कि 'वे भौजाई की अग्निशुद्धि तक के हैं।'

अब राम की दूसरी शंका है कि 'पवित्र सीता को अग्निशुद्धि की क्या अपेक्षा है? जबकि वह खुद यज्ञक्षेत्र से जन्मी हैं?'

अतः चित्रदर्शन के पहले राम सीता को आश्वस्त करते हैं कि 'हे सीते! प्रसन्न हो जाओ और (अग्निशुद्धि विषयक) प्रवाद तो आजीवन रहेगा।' वे तर्क देते हैं कि 'यज्ञ की अग्नि से उत्पन्न (सीता) को भी तीर्थजल की क्या अपेक्षा है?' अब सीता को रामचरित्र की निर्मलता की ढाल मिल गई है। इसलिए उसे ऐसे प्रवाद-अपवाद की परवाह नहीं रही। इसलिए ऐसी निस्संग मनोदशा में ही चित्रकला की आशंसा का श्रीगणेश होता है। यह तथ्य तारांकित किया जाना चाहिए जब निस्संग तथा निर्विकृत दशा का क्षणबिंदु झटिति-प्रत्यय द्वारा सहसा कौंध उठता है तभी यथार्थ समय ही कालातीत महाकाल हो जाता है। तभी सौंदर्यबोध दर्शन की भूमा उन्मीलित होती है। तब दुःख और अपवाद

उदात्तीकृत होकर आनंद में पर्यवसित हो जाते हैं। यह भवभूति की जीवन दृष्टि भी है।

दूसरे, नाटक में चित्रवीथी की परिवेश भूमि स्वयंमेव अलौकिक है। यद्यपि भवभूति ने राम को ब्रह्म नहीं दिखाया है और न ही सीता और लक्ष्मण को अंशावतार बताया है, तथापि ऋषि, ऋषि-पत्नियाँ, सती नारियाँ, तथा महावीर हनुमान की सन्निधि इसे दिव्य सौंदर्यबोध की उपच्छाया से झिलमिला देती है। रंगशाला के प्रेक्षक सामाजिकों के समूहों के पक्ष से यह विस्मय स्थायी की अद्भुत भरत भूमिका जैसी है।

तीसरे चित्र के कथानक चक्र में जो खंड नहीं लिये गए हैं, या जिनको फाँद लिया गया है, या जिनका अमहत्त्वपूर्ण मात्र रेखांकन है, वे सब भी कला के सामाज-सौंदर्यबोधात्मक अनुचिंतन (रिफ्लेक्शन) की दशा दिशा निर्णीत कर रहे हैं। पहला उद्धाटन तो यह है कि राक्षस-पक्ष लगभग बहिष्कृत हुआ है। दूसरा कि शामिल हुए चित्रित पाठ मानवीय करुणा तथा प्रबल परोपकार के द्योतक हैं। तीसरी बात यह है कि लाड़ली प्रकृति पात्रों का स्वाभाविकीकरण तथा पात्रादि प्रकृति का मानविकीकरण कर रहे हैं। ये सब भवभूति की चित्रांशसा की प्रतिभा एवं एवं मौलिकता के सिद्ध प्रमाण हैं।

चौथी खूबी यह है कि चित्रों में केंद्राभिसार करके पात्र चित्रकला के तथा नाट्य कला के षडंगों तथा कार्यावस्थाओं को उद्घाटित करने के साथ-साथ केंद्रापसरण करके अपने विभावानुभवसंचारी के संयोग से अपनी रसदशाओं का भी उन्मीलन करते हैं। दोनों ही सह प्रक्रियाएँ संकेतविज्ञानिक (सेमिओलॉजिकल) तथा संवादकला (डायलॉजिज्म) द्वारा संपन्न होती हैं। यथा प्रसंग हम चित्रशिल्प के षडंगों के माध्यम से कुछ उदाहरण देंगे (क्योंकि आधार चित्रवीथी है)।

अंतिम पाँचवी विलक्षणता रामायण के एक वैश्वव अभिप्राय से हैं: छद्मपशु के ढाँचे में छिपकर नायिका का अपहरण। पंचवटी के बीहड़ सघनकान्तर में मारीच स्वर्ण-हरिण का छद्मरूप धर करके सीता-हरण करने का कारक (एजेंट) अथवा उत्प्रेरक (कैटेलाइजर) बनता है। इसी भाँति प्राचीन ग्रीक युद्ध-कौशल में काठ के बने विशालकाय ट्रोजन अश्व में आक्रमणकारी सेना छुपकर हैलियम शहर

को भस्मीभूत करके अनिद्यसुंदरी नायिका हैलेन का अपहरण कर लाती है।

अब हम चित्रशिल्प के षडंग में भवभूति की चित्रवीथी की शोभा-रमणीयता का अपहरण करेंगे।

चित्रशिल्प के षडंग:- १) रूपभेद के अंगत विभिन्न प्रकार के आकार-प्रकार, प्राकृतिक दृश्य, स्थापत्य, चतुर्दिक विश्व की सभी वस्तुओं के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के नतीजों में रूप-ग्रहण की शक्ति शामिल है।

. जब लक्ष्मण प्रचण्ड परशुराम का चित्र दिखाते हैं तो सीता काँप जाती है। जब वे आगे बताने को तत्पर होते हैं तो राम दूसरे प्राकृतिक स्थल दिखाने का आदेश देते हैं। सीता, चित्र द्वारा अभिव्यंजित, राम की विनम्रता के प्रभाव की शोभा बखानती है।

. लक्ष्मण प्रस्त्रवण नामक पर्वत के चित्र का निर्वचन करते हैं कि यह घने पेड़ों से व्याप्त है। यहाँ स्निग्ध और नील वर्ण वाले निकटवर्ती वन से गोदावरी आलिंगन है। इसकी गगुफाओं से युक्त निरंतर बरसने वाले मेघों से सारा भू-दृश्य नीलिमा से संपन्न हो गया है (वर्णिका भंग भी)।

. पर्वत की रमणीयता बखानती है कि यहाँ कुसुमित कदंब के वृक्षों में मोर तांडव नृत्य कर रहे हैं और पेड़ों नीचे राम वियोग में रो रहे हैं। वह नाम पूछती है तो लक्ष्मण बताते हैं कि यह माल्यवान पर्वत है जहाँ पर नीला, चिकना और नया मेघ (यस्मिन्नील : स्निग्ध: अयति शिखरं नूतन स्योतवाहः) शिखर पर आश्रय लेता है।

2. प्रमाण के वृत्त में अनुपात, मनुष्य के अंगों के आपसी संबंध भी शामिल हैं।

. मिथिला में अंकित राम की देह खिले हुए कमल की तरह श्याम वर्ण, स्निग्ध (चिकनी), मसृण (कोमल) सुशोभन, मांसल (दीप्तिपूर्ण) तथा पुष्ट मांसल है। सीता उनके मुखमंडल को मुग्धकारी, साम्य तथा सुंदर बताती है।

. अयोध्या आने पर नववधु सीता प्रतनु और विरल है। वह अपने कपोलों तक फैले हुए मनोहर कुंतलों से तथा कुसुमों की तरह दाँतों से मुग्ध अवलोकन वाले मुख को वह शिशु वयवाली, अत्यंत ललित, चंद्रआभा के सदृश अकृत्रिम विलासों से संपन्न, प्रीतिजनक अंगों से पति श्री राम तथा अपनी सासुओं का भी कुतूहल पैदा करती है।

. जब लक्ष्मण पूजनीय हनुमान की छवि दिखाते हैं तो राम उस महाबाहु को माता अंजना का भी आनंदवर्धक बताते हैं।

. सीता पक्षिराज जटायु को तात कहती है जो चरित्र एवं विक्रम का उदाहरण हैं (लक्ष्मण)। उन्हें सत्पात्र कहते हैं।

3. भाव-लावण्य में मनकेंद्र में आ जाता है जहाँ विभिन्न मनःस्थितियों के परिणाम से विभिन्न भाव अभिव्यंजित होते हैं। इसके अंतर्गत भावाभिव्यक्ति को सूक्ष्म गहराई तथा चरमोत्कर्ष तक पहुँचाना लावण्य होता है।

. चित्रकूट प्रवास में जब सीता राम से श्याम नामक वटवृक्ष से जुड़ी एक रोमांटिक याद कुरेदती है तब राम भी उस जगह को नहीं भूले हैं। वे स्पृहापूर्वक कहते हैं कि तुम (यहाँ पर) मार्ग में चलने के खेद (परिश्रम) से आलस्ययुक्त, ललित, मुग्ध आलिंगनों से परिमर्दित मृदुल कमलपृष्ठों के सदृश अपने दुर्बल अंगों को मेरे वक्षस्थल पर धरकर निद्रा-निमग्न हो गई थीं।

. राम सीता को सुस्वादवाली सरस गोदावरी के कूल-किनारों की याद दिलाते हुए कहते हैं कि यहीं अनुराग की आसक्ति से कपोल सटाकर, कुछ धीरे-धीरे क्रम के बिना कहते हुए और एक-एक बाहु को गाढ़ आलिंगन में लगाते हुए, हम दोनों की (बीते हुए प्रहरों का भी पता न लगकर) रात ही बीत गई थी।

. सीता हरण पर लक्ष्मण आर्त होकर कहते हैं, “पापी राक्षसों ने स्वर्ण-हरण की छद्मविधि से ऐसा (हरण) किया जो कि प्रतिकार लेने पर भी अभी तक दुःख देता है।” इस पर दुःखी सीता की टिप्पणी; ‘यथा तथा जैसा भी कुछ हो (वह यदि) दुर्जन है तो दुःख पैदा करता है।’

4. योजना में विषय वस्तु को वातावरण से बिखरी घटनाओं व प्रसंगों को कथानक में अनुस्यूत कर दिया जाता है; जैसे यदि नदी तो उसका परिवेश; यदि पर्वत तो उसका पर्यावरण।

. सीता के वियोग में रोते हुए राम के साहचर्य पत्थर भी रुदन करते हैं तथा वज्र का हृदय भी विदीर्ण (फट) हो जाता है।.. लक्ष्मण राम के आँसुओं का उल्लेख करते हैं कि ‘आपका आँसू प्रवाहों से फैलता हुआ, चूर्ण-चूर्ण बिंदुओं से युक्त टूटी हुई मोतियों की माला की तरह जमीन पर

गिरता है। बहुत काल तक हृदय को चूर-चूर कर देने वाला अतिशयित यह आँसू रोके जाने पर भी अधर तथा नासापुट का स्फुरण होने से दूसरों में अनुमित होता है।

. मिथिला में विवाहमंडप के अगले चित्र के विषय में सीता कहती हैं कि अब के शांत-संस्कार किये हुए विवाह-दीक्षित आप चारों भाई हैं।... तो उसी स्थान में मैं, तथा उस समय में ‘मैं’ हूँ: ऐसा लग रहा है।... राम को सीता के कंगन पहने हाथ दिखाई देते हैं।... लक्ष्मण पहचनवाते हैं कि (चित्र में) ये राम हैं। यह आर्या माण्डवी (भरतपत्नी) हैं और ये वधु श्रुतकीर्ति (शत्रुघ्न पत्नी) हैं।... सीता ठिठोली में पूछ बैठती हैं: ‘यह अपरा या अन्या कौन है?’ पत्नी उर्मिला को इंगित होने पर लक्ष्मण को लज्जा तथा मंद हँसी आ जाती है। (ये प्रसंग ज्यादातर समूह-चित्रणवाले हैं)

5. सादृश्य में यथावत् ‘भ्रांतियों की चित्रक्रीड़ा है। इससे हम ‘साहचर्य’ और ‘रूपक’ भी शामिल कर सकते हैं। चित्र और मंच के रामादि की भ्रांतियों की ललित लीला इस अंश में सर्वांगीण परिव्याप्त हैं। राम सीता के चित्रांकन हैं जिन्हें स्वयं (नट) राम सीता देखकर स्मृत रूपविधान प्रदर्शित करते हैं। मानों ये स्थिर चित्र सहसा टिप्पणियों एवं संवादों से गतिशील प्राण संचालित संरूपों (एनिमेशन) में कायांतरित (मेटामर्फोज) हो जाते हैं। यहाँ अभिलषित न्यायदर्शन का ‘चित्रतुरग रूपक’ भी सक्रिय हो उठता है। यह अनुकृति नहीं, बल्कि समानांतर चलने वाला एक नया सृजन है। यह सत्य का एक रूप भी है।

अ- ‘अंग-प्रत्यंग सब कुछ वैसे के वैसे’

आ- उसमें लावण्य भी हो; एवं

इ- यह भाव-सादृश्य भी है निर्विघ्न ध्यान द्वारा सिद्ध होता है।

सारा अभिज्ञान ही सादृश्य की घेरेबंदी में आ सकता है।

. श्रृंगवेरपुर में इंगुदी का पेड़ देखते ही राम को भाव-सादृश्य का प्रतिभास होता है कि वहाँ निषादराज (गुह) में भेंट हुई थी।

. संन्यासी वेश में वनगमन के चित्रफलक पर लक्ष्मण टिप्पणी करते हैं कि पुत्र को राजलक्ष्मी देकर इक्ष्वाकुवंश के बूढ़े राजाओं ने जो वनवास का व्रत लिया था, उस पवित्रता को आर्य श्रीराम ने बाल्यावास्था में ही ले लिया।

. जब सीता प्रसन्न पुण्य सलिला भगवती भागीरथी के चित्र को देखती हैं तो राम उन्हें रघुकुल की देवी कहकर नमस्कार करते हैं।... वे अम्बे गंगा को वधु सीता के-अरुंधती की भाँति- कल्याण की चिंता करने वाली होने की कामना करते हैं।

. राम सीता को याद दिलाते हैं; 'हे सुंदर अंगों वाली! गोदावरी के दो किनारों में हम दोनों एक-एक बाहु को (तरी की तरह) गाढ़ आलिंगन में बाँधते थे।

. दुखानल मन में परिपक्व होता हुआ हृदय के मर्मस्थल के व्रण (फोड़े) की तरह दुःख होता है।

6. वर्णिका-भंग में रंगों तथा लोचदार कलमकारी की अन्य सामग्रियों को ठीक से प्रयोग करने की तरकीबें हैं। ये तो संपूर्ण चित्रवीथी की विधात्री हैं।

. मतंग ऋषि के आश्रम तथा श्रमणा तामक सिद्ध शबर तपस्विनी के तपोवन से युक्त कुंजवान पर्वत में पंपा सरोवर भी है जो कमलों से भरा हुआ तालाब है; जहाँ आर्यपुत्र (राम) अमर्ष तथा धीरत्व से विच्छिन्न होकर प्रभुक्त कंठ से फफक-फफक कर रोये थे। यह परम रमणीय स्थल भी है मद से मधुर शब्द करने वाले मल्लिकाक्ष नामक हंस-विशेषों के पंखों से शोभित एवं कंपित बड़े-बड़े मेरुदंडों (मृणालों) वाले कमलों से युक्त पंपा-सरोवर के विभागों का विरही राम ने आँसुओं के निकलने व गिरने के बीच में (इसका) धुंधुकारी संदर्शन किया है।

. इस नानाविध चित्रदर्शन से सीता में दोहदाय लालसा उत्पन्न होती है।

. राम को सीता का वही विरह फिर वैसे ही लौट आया सा लग रहा है। ध्यान हटाने के लिए लक्ष्मण अनुरोध करते हैं कि आर्या (सीता) थक गई हैं। अतः विश्राम करें। राम राजधर्म के पालन हेतु पुनः वियोगी होने की प्रक्रिया में सीता को वन में भेजने को सहमत हो जाते हैं।

हम यह पाते हैं कि अर्धकथानक में चित्रप्रखंडों के प्रासंगिक प्रदर्शन का भी लक्ष्य है। उनके बीच में यथास्थान त्रासद विभ्रान्तियाँ (ट्रेजिक रिलीफ) भी हैं। उनमें 'अकस्मात् तत्त्व' प्रसंगों को मोड़ दे देते हैं और चित्रवीथी एक पगडंडीवाहिक कथागाथा या वृत्तांत भी बन जाती है। इस चित्रवीथी के संदर्शक या 'गाइड' लक्ष्मण हैं। चित्र के पाठ

(टैक्स्ट) चालू हैं और उण-पठ उभर-उभर कर आ रहे हैं जिससे विभिन्न पात्रों की मनोदशाएँ भाव एवं लावण्य से मंडित हो उठती हैं। इससे समानुभूति (इम्पैथी) तथा सहानुभूति (सिम्पैथी) के बीच आवेशगुच्छों का बखूबी समतोलन (साइना एस्थीसिस) हुआ है।

6. अंततोगत्वा चित्रसूत्र में से भरत के रस सूत्र की व्याख्या के सामरस्य की बारी है। अतः हम श्रीशंकुक (ई. प. आठवीं शती की सवाई) के चित्रतुरग न्याय को आधार बनाते हैं (क्योंकि प्रसंग भी केवल चित्रवीथी का है)। दूसरी वजह यह भी है कि श्रीशंकुक और राजानक (ई. प. 10-11वीं शताब्दी) की तरह भवभूति भी नितान्त मौलिक हैं। संधान-बंधान-उठान में तो वे कहीं कहीं कालिदास से भी आगे निकल जाते हैं। उन्होंने करुण रस और त्रासद बोध की ऐकाकी, ऐकांतिक, एकनिष्ठ स्थापना की है, अभिनव गुप्त की तरह! हमने श्रीशंकुक तथा भवभूति को जो अश्विनी बनाया है उसकी एक वजह यह भी है कि कल्हण की 'राजतरंगिणी' में भवभूति का उल्लेख हुआ है। जब काश्मीर सम्राट ललितादित्य ने कान्यकुब्ज नरेश यशोवर्मन को पराजित किया था, तब शायद श्रीकंठ भवभूति उसी क्षेत्र के अंतेवासी थे। तो, श्रीकंठ और श्रीशंकुक साथ-साथ!

नाट्यचक्र में सादृश्य (सिमिलिच्यूड) एवं साम्यरूपकता (एनालॉजी) की पहेली से सौंदर्यबोध शास्त्र तथा दर्शनशास्त्र जूझते रहे हैं।

हाँ, तो फिर, बड़ी मुश्किल पेश आ रही है!

'उत्तररामचरितम्' के प्रथमांक के चित्रवीथी के संदर्भ में प्रथमदृष्टया चित्रतुरग-न्याय की दोहरी व्याप्ति है। पहले चित्र (के राम सीतादि) और तुरग (रंगमंच के रामसीतादि)

इसके बाद रंगमंच रूपी चित्र (रामलक्ष्मणादि नट) तथा तुरग (वे नट ही वास्तविक रामलक्ष्मणादि)। इस तरह दोनों स्तर की परस्पर व्याप्ति (आवर लाफिंग) हो जाती है। यहाँ साधारणीकरण भी धुँधला हो जाता है तथा स्वपरान्य संबंध भी नाकामयाब हो जाते हैं।

अच्छा! दार्शनिक निर्वचन किया जाए चित्र (नाट्य) तुरग (नट) न्याय (अनुमिति/प्रतीति) अर्थात् चित्रतुरग न्याय! अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने श्रीशंकुक के उक्त



न्याय तथा अनुकरण का विशेष विरोध किया। उन्होंने कहा कि उक्त न्याय में चित्र में अश्व का प्रतिभास होता है, अभिव्यक्ति नहीं।

प्रतिभास सामान्य प्रतीति मात्र है जबकि रस विलक्षण प्रतीति है। इसी तरह नाट्य अनुकार्य का अनुकरण नहीं, अनुव्यवसाय है। अनुव्यवसाय का अर्थ है प्रत्यक्ष का मान और वेदांत की दृष्टि से सुख दुःखात्मक भाव अथवा बोध का निस्संग प्रत्यक्ष। इस तरह यह 'ज्ञान का ज्ञान' (अभिज्ञान) हुआ।

जब नट नये नामरूप तथा आंगिक-आहार्य रूप में आता है तब उसकी नट-बुद्धि जाती रहती है। अर्थात् वह (आरोपित) अनुकार्य के रूप में प्रस्तुत होता है। भट्टतौत अनुमिति के बजाय 'प्रत्याभास' का प्रत्यय लागू करते हैं।

प्रेमस्वरूप गुप्त के अध्ययन के अनुसार श्री शंकुक की व्याख्या पर बौद्ध न्यायिक धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' का विशेष प्रभाव है। श्रीशंकुक का तर्क है कि मणि एवं प्रदीप की प्रभा दूर से समान लगती है। इसलिए मणि बुद्धि से प्रदीप की ओर जाने वाले व्यक्ति को उपर्युक्त मिथ्या ज्ञान भी तृप्ति को देता ही है, भले ही वह क्षणिक क्यों न हो। इसलिए चित्रदर्शक वास्तविक अश्व तथा रंग और रेखा कर लेता है। इसलिए (धर्मकीर्ति के अनुसार भी) चित्र-विज्ञान गत् रंग-रेखा-पदार्थ की अनुकृति वास्तव में ज्ञानोपाधि है। अनुकार्य अपने अनुकृत स्वरूप में अनन्य हो जाता है। तब उन दोनों अर्थात् रंग-रेखा एवं अनुकार्य-अनुकृति का पृथक्तः दर्शन अशक्य हो जाता है। और अनुकार्य की प्रतीति तो सहृदय ही करता है। चित्र में (अश्व की) प्रतीति (सम्यक्, मिथ्या, संशय एवं सादृश्य के प्रकरणों की अपेक्षा) विलक्षण होती है। इसी भाँति से सहृदय को, नट द्वारा उपस्थित, रससूत्र के भाव से लेकर स्थायीभाव तक की रस रूप में अनुमिति

होती है।

श्रीशंकुक नाट्य के प्रेक्षक को व्यवहारवादी पुरुष मानते हैं। इसलिए उनका सरोकार सहृदयानुभूति पर कम एवं रंगशाला पर अधिक टिकता है।

भवभूति के संदर्भित नाट्यांश की संरचना में राम तत्त्वचिंतक भी हैं जो वास्तविक एवं प्रतीति में भेद करते हैं। वे व्यवहारी सहृदय भी हैं जो चित्र एवं स्वयं में अभेद प्रतीति भी करते हैं।

[नाटक-नाट्य में चार प्रकार की प्रतीतियाँ हो सकती हैं:- एक, तात्त्विक (यह राम ही हैं/ यही राम हैं।), दो, भ्रांति (लगता है कि नट ही राम है); तीन, सादृश्य (राम और नट समान नामरूप पदार्थ वाले हैं); तथा चार संदिग्ध (नट कि राम? राम की नट? राम हैं कि नहीं हैं- यह तय नहीं हुआ)]

कलाजगत की प्रतीतियाँ उसी समय के लिए (फार दी टाइम बीइंग) होती हैं जहाँ हमारी व्यावहारिक बुद्धि स्थगित हो जाती है। कला में ऐसी प्रतीति भी होती है।

इसलिए चित्रवीथी की कला उपर्युक्त चतुर्प्रतीतियों के अलावा 'चित्रतुरगन्याय' द्वारा भी होती है। हम अपने ज्ञान का ही ज्ञान अथवा अभिज्ञान करते हैं। अर्थात् अनुभूति की अनुभूति होती है। अर्थात् अपनी ही वासना का हम (तथा रामादि) चर्वण करते हैं, जैसे कि 'उत्तररामचरितम्' में राम चित्र हैं, कृतकार्य नट हैं तथा उपस्थित वास्तविक पात्र हैं एवम् सहृदय सामाजिक भी हैं। अभीष्टांत।

अंततः हम अपनी ऊपरली बेहद मुश्किल पूर्वानुमानित (प्रि-सपोज्ड) प्रस्तावना का तमाम शुद्ध उर्फ संपूर्ण समाप्ति अल्बर्ट आइंस्टाइन की एक सुक्ति से करने की इजाजत माँगते हैं- 'जिसने कभी कोई गलती ही नहीं की, उसने किसी नवीन का प्रयास भी कभी नहीं किया।'

#### संपर्क:

फ्लैट सं. 3 (भूतल) स्वात्तिक विहार, फेज-III, मनसा देवी कामप्लेक्स,  
पंचकूला- 134109 (हरियाणा), मो. 09780774224

## कृष्ण भावुक

### ऊधमसिंह कहाँ है!

गया पैदाइशी शहर तुम्हारा नवाजा सरकार द्वारा  
 इस नाम से 'शहीद ऊधमसिंह वाला' !  
 कौन-सा है, कहाँ है ? नहीं जानते चाहे लोग,  
 जानते पर यह हैं जरूर कि मरने पर माता-पिता के  
 पाई शिक्षा आरम्भिक खालसा अनाथाश्रम, अमृतसर में  
 और जा बसा जो उस शहर 'सुनाम'  
 बदला सरकार ने जिसका नाम बराए नाम !  
 जानता नहीं है 'वर्ल्ड बुक ऑफ रिकार्ड्स'  
 संसार में साम्प्रदायिक सौहार्द का अपनाया  
 तुम्हारा नाम 'राम मुहम्मद सिंह आज़ाद' !  
 नाम अजीब था तो व्यक्तित्व और भी अजूबा !  
 13 अप्रैल 1919 की बैसाखी के अवसर पर  
 बाग जलियाँवाला के निहत्थों पर  
 खौला खून जैसा तुम्हारा गोलियाँ चलाने पर  
 नहीं मिलता एक भी उदाहरण  
 विश्व-इतिहास के पृष्ठों पर कभी दुबारा !  
 रह गया था 13 मार्च सन् 1940 को एक ही महीना  
 उस हत्याकांड के साल इक्कीस पूरे होने में !  
 कैक्स्टन हाल लन्दन का खचाखच  
 भरा गोरे चेहरों से !  
 ऊधम ! तुमने भी बनाया भेस एक अंग्रेज का  
 तमाशा दिखाने को अहले-कर्म का !  
 दागी थी गोली सर माइकेल ओडवायर के सीने पे  
 हत्याकाण्ड का दिया था आदेश जिसने,  
 जैसे ही एक की छाती से फूटा था फव्वारा,  
 वैसे ही दूसरे दिन 'एकला चलो रे' की आँखों में पला

सपना वह आखिर हुआ पूरा !  
 खड़े उसी शेर ने वहीं बोली,  
 पंजाबी माँ-बोली, निकली मुँह से जैसी गोली-  
 "ओ लन्दनवासियों ! फड़ ल्यो मैंनूँ,  
 पुकाराँ मैं खड़ा,  
 लै ल्या मैं बदला सैंकड़ेयाँ मासूमँ दा !"  
 आज भी उस गरीब, परन्तु अजीबो-गरीब  
 के मकान की झड़ती-कुरलाती मिट्टी  
 करती हम हिन्दियों को सलाम !  
 याद दिलाती मशहूर शाइर का यह व्यंग्यपूर्ण शेर-  
 "उग रहा है दरो-दीवार से सब्जा 'गालिब'  
 हम बियाबाँ में हैं और घर में बहार छाई है !"  
 और ऊधम ! घर तुम्हारे की छत पर भी देखा,  
 उद्धम मचाती छाई है घास हर जगह,  
 रंग है जिसका तिरंगे की पट्टी-सा हरा,  
 आजादी के रिसते हमारे जख्मों की तरह !  
 'जयहिंद' के वक्ताओं ! इतना तो बतलाओ !  
 50 गज़ा-प्लाट के उस बोसीदा खण्डहर-घर को,  
 गुलामी से भी बदतर जीते हुए जिंदगी,  
 हम खाना बरबादों को, तथाकथित 'आज़ादों' को,  
 कि इन जख्मों के भरने तक  
 बढ़ तो नहीं जायेंगे कहीं  
 हमारे ये जंगली नाखून भी !  
 और बताओ तो पता आज  
 कहाँ हैं, नाज़ जिन्हें है हिन्द पर  
 वे कहाँ हैं, कहाँ हैं, कहाँ हैं ?

संपर्क : कोठी नं. 201-ए, गली नं. 18-के, गुरुनानक नगर, पटियाला-147003 (पंजाब), मो. 985165210

## कविता

वे लोग  
जो कविता लिख नहीं सकते  
पर कविता की  
आलोचना करते हैं  
उस कमजोर की तरह  
जो खुद कुछ कर नहीं सकता  
पर दूसरों की हर बात में  
कमी ढूंढता रहता है

उनका कहना है  
अब कविता लिखी नहीं जाती  
कविता खत्म हो गयी है  
या धीरे-धीरे मर जायेगी  
पर वे खुद जिंदा रहना चाहते हैं  
कविता को मरते हुए देखने के लिए  
जब कविता नहीं रहेगी  
तब शायद वे खुश होंगे  
खुशी किस बात की  
कविता के मरने की  
या खुद उनके जिंदा रहने की  
कविता बची रही नहीं मरी तो  
वे बहुत दिनों तक  
जिंदा रहना चाहेंगे  
कविता को मरते हुए देखने के लिए  
पर मैं तो  
लम्बी उम्र की दुआ माँगूंगा  
उनके लिए भी  
और कविता के लिए भी

उन्हें नहीं मालूम  
कविता दिल से लिखी जाती है  
और जब तक  
शरीर में दिल है  
कविता लिखी जाती रहेगी।

## काली प्रसाद जायसवाल

### धुआँ आँखों को

यूँ ही जब तब  
आँखें भर आती है  
लोग पूछने लगते हैं  
आप को क्या हुआ है  
आँख से पानी बह रहा है  
अब पूछने वालों से  
कहूँ भी तो क्या कहूँ  
आँख-मुँह, हाथ-पैर  
सब तो सलामत है  
लेकिन अंदर कुछ  
जल तो रहा है  
जिसकी गंध  
औरों को नहीं लगती

साथी के बिछड़ने का गम  
अपनों के बीच  
परायापन  
और परायों के बीच  
स्नेह की दो बूंदें तलाशता  
यह मन  
सब कुछ भीतर ही भीतर  
सुलगाता है  
और धुआँ आँखों से  
पानी बनके निकलता है।

### वे

वे  
जो सींचते हैं धरती को  
अपने लहू से  
पर रोज मरते हैं भूख से  
वे जो पहाड़ों की सैर नहीं करते  
पर अपने कंधे पर ढोते हैं पहाड़  
वे  
जिनके बच्चे रटते हैं पहाड़ा  
पर कभी नहीं जोड़ पायेंगे  
लाखों-करोड़ों का हिसाब  
वे  
पूछना चाहते हैं  
क्यों उनकी अंधेरी गलियों को  
एक दिया भी मयस्सर नहीं  
और चौराहे  
रोशनी से जगमगाते हैं

ऐसे लोगों के प्रश्न  
संसद में नहीं पूछे जाते  
क्योंकि, वे नहीं जानते  
अपने वोट का मूल्य  
जिस दिन वे जान जायेंगे  
उस दिन संसद में प्रश्न  
सिर्फ उनके ही पूछे जायेंगे।

### संपर्क :

22, सरकार लेन, कोलकाता-700007, मो. 9831321257

## अशोक अंजुम

(1)

ग़ज़ल

झिलमिल-झिलमिल जादू-टोना पारा-पारा आँख में है  
बाहर कैसे धूप खिलेगी जो अँधियारा आँख में है  
यहाँ-वहाँ हर ओर जहाँ में दिलकश खूब नज़ारे हैं  
कहाँ जगह है किसी और को कोई प्यारा आँख में है  
एक समन्दर मन के अंदर उनके भी और मेरे भी  
मंज़िल नहीं असंभव यारो अगर किनारा आँख में है  
परवत-परवत, नदिया-नदिया, उड़ते पंछी, खिलते फूल  
बाहर कहाँ ढूँढ़ते हो तुम हर इक नजारा आँख में है  
चैन कहाँ है, भटक रहे हैं कभी इधर तो कभी उधर  
पाँव नहीं थमते हैं 'अंजुम' इक बंजारा आँख में है

(2)

कि होने दीजिए होता है जो नुकसान थोड़ा-सा  
बचा रह जाय अन्दर में अगर इंसान थोड़ा-सा  
सरल रस्तों से सस्ती मंजिलें ही हाथ आती हैं  
सफ़र मुश्किल भरा बेहतर रहे आसान थोड़ा-सा  
लचक थोड़ी अगर रखता तो मुमकिन था कि बच जाता  
तेरे जीवन में आया था फ़क़त तूफ़ान थोड़ा-सा  
बचा रखना अँधेरों में बहुत ही काम आएँगे  
तेरा अखलाक थोड़ा-सा तेरा ईमान थोड़ा-सा  
ये भागमभाग कैसी है सुबह से रात तक अंजुम  
अगर फुरसत मिले खुद को कभी पहचान थोड़ा-सा

(3)

ये बच्चा क्या ही बच्चा है खुदा का नूर पाया है  
जो गुल्लक तोड़कर अपनी दवाई माँ की लाया है  
ग़लत करने चले जब भी अंदर कोई बोला  
सदा जिसने भी ये सुन ली क़दम पीछे हटाया है  
मिले हैं खूब व्यौपारी, ईमानों के वो सौदागर  
मेरी ग़ुरबत ने मुझको हर क़दम पे आजमाया है  
अँधेरों ने दिए न्यौते हमें अक्सर बुलन्दी से  
नफ़ा-नुकसान कब देखा उजालों से निभाया है  
मुसाफ़िर वो कभी मंज़िल तलक पहुँचे बहुत मुश्किल  
ज़रा-सी धूप से जिनका इरादा डगमगाया है  
उसूलों की तरफ़दारी में गुजरी है उमर सारी  
हवाओं ने तो की कोशिश दिया बुझने न पाया है  
कोई गाता है छुप-छुप के कोई खुलकर सुनाता है  
मुहब्बत गीत वो है जिसको सबने गुनगुनाया है  
परिन्दे उड़ गये आकाश में ऊँचे, बहुत ऊँचे  
शिकारी आज फिर जंगल से खाली लौट आया है  
सफ़र में धूप कितनी हो मगर रहती है ठंडक-सी  
सफ़र में साथ मेरे माँ के आशीषों का साया है

संपर्क :

स्ट्रीट-2, चंद्र विहार कॉलोनी (नगला डालचंद)

क्वार्सी बायपास, अलीगढ़- 202001 (उ.प्र.), मो. 09258779744

(1)

जो थे दमदार, बेदम हो रहे हैं,  
अचानक हौसले कम हो रहे हैं।  
हमेशा तेज गति से चलने वाले,  
सफर के बीच मद्धम हो रहे हैं।  
चुनावों की मुनादी पिट गई है  
समारोहों के मौसम हो रहे हैं!  
जो कर पाए नहीं प्रतिवाद... खुलकर,  
वो मित्रों की 'चुड़ंगम' हो रहे हैं।  
बदल कर दी गई हैं भूमिकाएँ  
जो थे 'बेताल' 'विक्रम' हो रहे हैं!  
जो समझौते की दावत ले के आए,  
उन्हीं पर मार्ग कायम हो रहे हैं।  
धरम की नीति-शिक्षाओं को ले कर,  
नई पीढ़ी में मति-भ्रम हो रहे हैं।

(2)

मुख्य-धारा में रहने की कीमत मिली,  
वो जहाँ भी गए, उनको इज्जत मिली!  
चाह कर भी, विमुख न हो पाई कभी,  
जिन्दगी भर जो मुझसे असहमत मिली।  
'हों 'किचिन' में या मँजने के स्थान पर,  
बरतनों में झगड़ने की आदत मिली।  
मैं तो इससे अधिक कुछ न कर पाऊँगा,  
एक दिन की अगर बादशाहत मिली!  
माँ, पिता, पुत्र, पत्नी से मित्रों तलक,  
कुछ न कुछ सबको उनसे शिकायत मिली।  
करती रहती है सच-झूठ के पौंसले,  
सबके अंतस में ऐसी अदालत मिली।  
हम ही जीवन को मुश्किल बनाते रहे,  
जिन्दगी तो बहुत खूबसूरत मिली!

ग़ाज़ल

(3)

ज़हीर कुरेशी

सफल लोगों की बानी सुन रहे हैं,  
सफलता की कहानी सुन रहे हैं!  
वो लंबी कर रहे हैं बात अपनी,  
हम उनकी लनतरानी सुन रहे हैं।  
प्रजा की मुश्किलों को नित नियम से  
महल में राजा-रानी सुन रहे हैं!  
है बिल्ली सामने तो चुप हैं चूहे,  
महाज्ञानी को ज्ञानी सुन रहे हैं।  
कई घंटों से बारिश चल रही है,  
जिसे छप्पर व छानी सुन रहे हैं।  
अधिक सच बोलते ही हैं विपक्षी,  
हम उनकी सच-बयानी सुन रहे हैं!  
हमारे देश में माता-पिता से,  
युवा, रिश्तों के मानी सुन रहे हैं।

(4)

हिम के पर्वत पिघलना नहीं चाहते,  
लोग घर से निकलना नहीं चाहते!  
घर की चौखट को कर भी लिया पार...तो,  
वक्त की चाल चलना नहीं चाहते।  
उनकी मुस्कान लाखों की है...इसलिए,  
पूल के बाद फलना नहीं चाहते।  
खूब लालच रहा लाभ का, किन्तु, वो  
जिन्दा मक्खी निगलना नहीं चाहते!  
शीश-महलों के अंदर फिसलने के बाद,  
झोंपड़ी में फिसलना नहीं चाहते।  
वो भी सूरज-सा उग कर हुए खुश, मगर,  
वो ही सूरज-सा ढलना नहीं चाहते।  
अपनी जिद और जीवट दिखाते हुए,  
लोग किस्मत बदलना नहीं चाहते!

संपर्क: 108, त्रिलोचन टावर, संगम सिनेमा के सामने, गुरुबक्श की तलैया,

पो. ऑ. जीपीओ, भोपाल- 462001 (म.प्र.), मो. 9425790565

डॉ. नलिन

राजल

(1)

सूर्य कब का कर भ्रमण खोया  
यह नगर अब तक नहीं सोया  
वह रहा हंसता अभावों में  
आज सबबुद्ध पा बहुत रोया  
चाह थी कोई बँटा ले कुछ  
किन्तु बोझा आप ही ढोया  
जाग आया जो रहा सोता  
जागकर कोई रहा सोया  
बात तो है एक ही सुन लो  
पा लिया कुछ और कुछ खोया  
आपसे ही घर बना है घर  
प्रेम का था बीज क्या बोया  
रह गया आँचल नलिन मैला  
मैल मल मलकर बहुत धोया।

(2)

पूल हैं तो तितलियाँ हैं  
नित नदी से लहरियाँ हैं  
देखते कांटे रहे यदि  
सिसकियाँ ही सिसकियाँ हैं  
जा रहा वह कर्म पथ पर  
सामने तो भित्तियाँ हैं  
हंस रहे हैं किन्तु उनकी  
सब उजागर करनियाँ हैं  
जो रहीं भरती बुल्लोंचें  
अब कहाँ वे हिरनियाँ हैं  
रक्त बहता है गली में  
बन्द होती खिड़कियाँ हैं  
है बुझा-सा मन नलिन का  
पर कहीं चिंगारियाँ हैं

संपर्क: 4 ई 6, तलमंडी, कोटा- 324005, राजस्थान, मो. 94139 87457

ग़ज़ल

(1)

कब कहा आज, कल चाहिए  
जिसमें जी लूँ वो पल चाहिए  
तुमने पौधा लगाया अभी  
और अभी तुमको फल चाहिए  
सड़ चुका है सरोवर का जल  
उनको खिलता कमल चाहिए  
पान अमृत का जब कर लिया  
कर रहा है गरल चाहिए  
दिल की मिट्टी करो खूब नम  
गर ग़ज़ल की फसल चाहिए

(2)

वो जो सबसे भिन्न है  
वो ही सबसे खिन्न है  
अंश है जो हर वही  
वैसे कह दूँ भिन्न है  
उनके हाथों जो बना  
उनके हाथों छिन्न है  
सच, सियासत आज की  
तक-धिना-धिन-धिन्न है  
कथ्य भी कुछ है उदास  
शिल्प भी कुछ खिन्न है

(3)

तेरा अहसास पत्थर हो गया है  
सुना है कि तू भी हिटलर हो गया है  
लिखा हर ईंट पर है नाम जिसका  
वो कैसे घर से बेघर हो गया है  
कहीं तो आग पानी हो गयी है  
कहीं तो फूल पत्थर हो गया है  
भटकता था जो आवारा-सा कल तक  
समय का वो सिकंदर हो गया है  
दिये हैं आज को दुख-दर्द तो क्या  
हमारा कल तो बेहतर हो गया है

(4)

हमको जैसे ग़म मिले हैं  
दूसरों को कम मिले हैं  
तुम जिन्हें कहते हो सूरज  
चाँद से मद्धम मिले हैं  
किस भरम में जी रहे हो  
किसको दो आलम मिले हैं  
रंग और खुशबू से खाली  
हमको सब मौसम मिले हैं  
तुम नहीं तुम, हम नहीं हम  
इस तरह क्यों हम मिले हैं  
ज़िन्दगी के इम्तिहाँ में  
हमको नम्बर कम मिले हैं

(5)

किस-किसको समझाऊँगा  
मैं पागल हो जाऊँगा  
मैं न सफाई दूँगा कोई  
ज़हर भले पी जाऊँगा  
जितना मुझमें डूबोगे  
उतना मैं गहराऊँगा  
अन्धों की बस्ती में किसे  
आईना दिखलाऊँगा  
ठीक रहेगा हाँ इतना  
इतना दुख सह पाऊँगा  
तल्लू हकीकत कहता हूँ  
वैसे उनको भाऊँगा।

(6)

क्या मिलें इस शहर में किसी से  
कोई मिलता नहीं सादगी से  
इस सदी ने दिये ज़ख्म इतने  
बदगुमां हूँ मैं अगली सदी से  
सीख पाये कहाँ कुछ अभी तक  
पेड़-बादल-हवा-चाँदनी से  
घर में दीवाली में मेरा जला यूँ  
डर-सा लगने लगा रोशनी से  
कितने जीवन सुलगने लगे हैं  
ज़िन्दगी जब ज़िन्दगी से  
हम बयाँ कर न पायेंगे उसको  
जो मिला है हमें शायरी से

संपर्क: के.3/10, माँ शीतला भवन, गायघाट, वाराणसी-221001, मो. 8935065229

### मेरी रचना प्रक्रिया

मेरी रचना प्रक्रिया क्या है, यह प्रश्न वर्षों पहले किसी ने मुझसे पूछा तो मैं चुप रह गई। उत्तर न बन पड़ने पर एक छोटी कविता उत्तर बन, पृष्ठ पर उतरी:

तुम्हें ही होगा पता/ क्या है कला/ कृति/ रचना धर्मिता/ मेरे पास तो/ खुला आँचल बस विश्वास में/ कि अंजुरी से  
सृष्टि की/ कोई शब्द फूल/ अब गिरा/ अब गिरा।

यह कविता, जो संभवतः 1975 में लिखी गई, के पश्चात इन चालीसेक वर्षों में अपनी तीन हजार से अधिक कविताओं में डूबते-छटपटाते, मैंने जाना कि कविता में 'क्या' और 'कैसे' का उत्तर स्वयं कविता है। इसीलिए कविता को लिख लेने के बाद मेरे लिए आवश्यक है कि मैं उसे भूल जाऊँ, भूल जाऊँ कि ये मेरी कविता है। कुछ समय के अंतराल से उसे अकस्मात् ऐसे पढ़ूँ कि जैसे किसी अन्य की रचना हो। एक सजग संवेदनशील पर निर्मम पाठक सी मैं वे स्थल देख पाऊँ जिसमें कविता ने झोल खाया व उन रन्ध्रों को भी जिन्हें उन्हें पाटना या भरना आवश्यक हो। अक्सर यह भी हुआ है कि कविता लिखते ही, यदि संभव हुआ तो मैंने अपनी नई लिखी कविता किसी कवि या कविता मर्मज्ञ को सुनाई, और सुनाने में स्वयं ही उसका कान लगाकर सुना। इस सुनने में कविता के दोष या उपलब्धि पकड़ में आ गए। और इस तरह, बहुत सी कमजोर कविताओं को सहेजते जाने के लोभ से बची, और उन्हें पाठक पर भी नहीं थोपा। वह और बात कि आज के स्वभू समय में, जिसे सुना सकें, ऐसा उदारमना मित्र, ऐसा श्रोता-पाठक दुर्लभ है।

एक लम्बे अरसे तक मैंने हर नामवर और अनाम कवि को बहुत आदर से पढ़ा- बिना किसी पूर्वाग्रह के। मेरे लिए हर लिखने वाला मात्र कवि था जो मुझे कुछ सिखा सकता था, अपनी अच्छी और बुरी दोनों तरह की कविताओं से। मैंने कभी जानने का प्रयत्न नहीं किया कि कवि किस दल का सदस्य है या किस 'मेनिफेस्टो' का समर्थक-उद्घोषक।

मेरे विनम्र पाठक होने ने मुझे कविता के शिल्प के प्रति पूर्णतः सचेत रखा- इतना कि मेरी कविता पर कोई बाहरी दबाव आने नहीं दिया। मेरी कविता की ऊर्जा, उसका उन्मेष नितांत उसका था ना कि जल्दी से बढ़ स्वयं को जतलाने का कोई लोभ। कविता ने मुझे सिखाया कि कवि के 'सहने' और 'कहने' के बीच की दूरी ही पाठक को कविता से जोड़ती है- उसे कविता का सहभागी, सहरचयिता बनाती है, क्योंकि उन कविताओं में जिनमें 'सहना' अधिक हुआ, कविता का कैन्वस, उसका फलक सिमटा- कभी कभी तो इतना कि पाठक उसके बाहर ही रह गया। किंतु ऐसी कविता यदि सध गई तो उसकी बेधकता, उसकी निजता ने पाठक को रोमांचित किया, कविता को 'कोटेबल' कर उसे दोहराये जाने का अवसर दिया। इसके विपरीत जब भी कविता में 'कहना' अधिक हुआ तो कविता वक्तव्य हुई, खीज या आक्रोश से उपजी होकर बड़बोली - प्रोजेक (prosaic) हुई। ऐसी कविताओं में कविता ही तिरोहित होती प्रतीत हुई। भले वे मुख्यधारा के निकट थी या फिर अपनायी हुई फैशनेबल मुद्राओं में से निकली कविताएँ थी। मैं अपनी जिन भी कविताओं में 'सहने' और 'कहने' की बीच की दूरी को नियंत्रित कर सकी, वे कविताएँ मेरी शिक्षा, मेरे होने का अर्थ व संदर्भ हुईं। ऐसी कविताओं का एक एक शब्द, शब्दफूल हो मेरे अनलिखे पृष्ठों पर झरता रहा। इन कविताओं को लिखने के लिए धीरे-धीरे रात का गहन सन्नाटा मेरी आदत हो गया। ऐसी रातों के अनमने दिन कितने थे, कहना कठिन होगा।

इन कविताओं के अतिरिक्त कुछ लंबी कविताएँ जो ना मेरी सहने की थी, न जिनका कहा मेरा कहना ही था- माधवी, गान्धर्व पर्व, क्षमा और रंगरति यदि लिखी न जाती तो मैं कभी जान नहीं पाती (या मान पाती) कि कुछ रचनाएँ आपकी जातीय स्मृति की देन होती हैं- आपके collective unconscious of the race की उपज। इन कविताओं ने मुझसे ऐसे ऐतिहासिक नारी पात्रों में परकाया प्रवेश करवाया, जिन्होंने समय की धूल से धूमिल, धूसरित होते हुए भी अपने अनुचरित प्रश्नों को फिर से मुखर किया कुछ इस तरह कि लिखने वाला मात्र उनका आशुलिपिक, स्टेनो भर होकर रह गया। इन



## सरगम के सुर साधे

कविताओं ने बतलाया कि वे लिखीं नहीं जा सकती, वे स्वयं को लिखवाती हैं। इनकी तीव्रता अनिर्वच और असह्य दोनों थे। ऐसी कविताएँ अपनी भाषा, अपना प्रस्थान बिंदु, अपना मर्म, अपने उपालम्भ-आरोप, अपना सामयिक संदर्भ स्वयं प्रेषित करती हैं। और स्वयं को लिखवा ले जाने के एवज में लेखक को चौंधिया देती हैं कि लम्बे अरसे तक वह कुछ लिख ही न पाए।

अंत में कवि की रचना-प्रक्रिया क्या है, इस पर भी निर्भर करता है, कि कविता से उसके संबंध, उसकी अपेक्षाएँ क्या हैं। अपने तक सीमित रह कर कहूँगी कि कविता मेरे लिए एक व्यसन जैसी है- जैसे व्यसनी को तलब होती है, हुड़क लगती है वैसे ही मुझे भी। किंतु यह व्यसन शराब, ताश, मक्कारी, चालबाजी, टीवी या कम्प्यूटर पर घंटों बैठने सा नहीं। ना ही उनकी तरह मुझे कुछ लेता है... न पैसा, न स्वास्थ्य, न समय, न चरित्र। इस व्यसन से मुझे मिलता ही मिलता है। इसमें होने के पल मुझे बूढ़ों की यातनाओं, स्त्रियों के अपमान-शोषण, बच्चों के प्रति क्रूरता से अवगत करा मुझे एक विरल वेदना से द्रवित करते हैं। यही पल मुझे दिल्ली में बैठे-बैठे जलाशयों की निरंतरता, थार की चुप्पी और पक्षियों की बेबाक प्राण-शक्ति से रूबरू करते हैं। ज्योत्सना मिलन के शब्द उधार लूँ तो ऐसे पल एक 'तिगड़ी' बनाते हैं जिनमें मैं कविता और संपूर्ण सचराचर साथ-साथ होते हैं। मेरा यह व्यसन मुझे जो संपूर्णता देता है वह कुछ अन्य दे ही नहीं सकता... न अपार धन, न ख्याति, न सत्ता। मैं इन पलों में होने को एक प्रिया के से उन्माद और उत्कंठा से भरी खोजती हूँ... साँस रोके। इसी से बनता है रचना से मेरा सहज सा रिश्ता, इसी में निहित है मेरी रचना प्रक्रिया। यह प्रक्रिया अर्चना में झुके मनुष्य की एकाग्रता भर है। एक प्रार्थना, एक विकल अनुनय है कविता में ही कविता से:

मीन को जल/पक्षी को दाना/तरुवर को रंग/मरुत को गाना/मुझमें कविता,/कविता होकर../ आना/ आना/ आना/

## बिना तुम्हारे

तुम जब भी आती थीं  
मैं उठ तत्पर तुमको आह्वाने  
कलम और कागज भाग-भाग लाती थी  
तुम आती भी तो ऐसे थीं  
जैसे मई मास की आंधी  
बिना किसी संकेत सूचना  
जी की खिड़की और दरवाज़ों पर  
दस्तक देतीं- जल्दी-जल्दी  
सब कुछ पर पल में छा जातीं- फिर वैसे ही चल देतीं  
और मैं घंटों  
ताकती, कभी तोलती  
कभी सुधारती रह जाती थी नई कविताओं की पंक्ति  
अब तुम आती हो कभी-कभार  
भूली-भटकी सी, मैं भी  
करवट लेटे या मुँह ढाँपे रह जाती हूँ  
संदेह भरी। फिर भी उठकर  
देखा करती हूँ- सच क्या आई हो  
रुको तनिक सा- और तुम

तिनक-मिनक कर जाती ही दिखती हो  
इतना कुछ तो समय ले गया, कविता  
अब क्या तुम भी जाओगी  
यह साठ बरस से ऊपर का  
सबसे निश्छल  
सबसे अर्थवान  
संबंध हमारा  
क्या रह जायेगा यह भी  
खूँटी पर टँगे रह गये कपड़ों सा,  
मेज़ पर छोड़ी पुस्तक सा,  
अलमारी में रखी  
घुन खाती पाती सा-  
बोलो फिर कैसे जीना होगा  
खाली कमरों के  
खाली-खाली घर में,  
बिना तुम्हारे बहरे दिन और  
लम्बी-लम्बी विचलित गूंगी रातों की  
रड़क घड़ियों में।

## गीली पत्रांत में

जानती हो आजकल आलू, टमाटर  
पेठा, करेला और तरह-तरह की फलियाँ  
बिनारने में बहुत कुशल हो चली हूँ मैं  
पहले धोती हूँ उन्हें सावधानी से  
फिर साफ महीन कपड़े से पोंछती हूँ  
कि उन पर रह न जाये  
कोई दवाई छिड़की- तुम्हें तो मालूम है  
क्या-क्या रहता है समाचार पत्र में  
कैसी-कैसी खबरें डरावनी कीटनाशक  
छिड़काव का, सब्जियों पे-  
तुम आती हो और मुझे व्यस्त जान  
चुपके से लौट भी जाती हो  
चाहती हूँ उठ कर लोक लूँ तुम्हें  
पर हाथों में सब्जी के छिलके  
कपड़ों पर सलवटें, माथे पर चिड़चिड़ाहट थकान की,  
ऐसे तो कभी नहीं करती थी  
मैं अगवानी तुम्हारी-  
सोचती हूँ दोपहर में बुला लूँगी तुम्हें  
मना मनू कर अपने शयन कक्ष में  
ढेर सी बातें करेंगे- तुम ले जाओगी मुझे  
फिर वापिस अपने शब्द लोक में,

किंतु दोपहरी में सेवक  
रख जाता है दालें, मसाले धूप में सुखाने  
उन्हें देखना भी जरूरी होता है  
भादों के इस उमसाये महीनों में। मिर्च तक में, जानती हो  
हो जाती है फफूंदी-  
शाम को बनानी होती है फेहरिस्त  
अगले दिन की खरीद फरोख्त की  
रात में गिन कर रखनी होती है  
रेज़गारी और बाकी की राशि-  
आजकल बिना खुले पैसों के  
लौटा देते हैं दुकानदार या  
फेरीवाले- कहते हैं पैसे लाओ खुले  
अब देखो न सखी, मैं क्या थी  
और क्या हो रही हूँ, दिन पे दिन  
रो लूँ या लम्बी साँसे लूँ  
नहीं जानती-  
जानती हूँ केवल इतना, कविता  
कि तुमसे यह अपनी दूरी, पैनी कील सी  
चुभा करती है गहरी मेरे वक्ष में  
लगता है मेरा वजूद अब कुछ भी नहीं  
केवल आटा सने दो हाथों के  
हर पल, गीली परांत में...।

### संपर्क :

सी-132, सर्वोदय इन्क्लेव, नई दिल्ली- 110017, मो. 9810698985

हमेशा की तरह उसके आ पहुँचने की सूचना अविजित को ईमेल से मिली। सुबह-सुबह देवाधि देव कम्पू देव के सामने सिर झुकाते ही स्क्रीन पर उसका संदेश झिलमिला गया— “पहुँच गया। सत्ताईस तक पहुँगा।”

“सत्ताईस! तो इस बार थोड़ी लम्बी छुट्टी लेकर आया है।” अविजित ने मन-ही-मन अंदाज लगाया। आते ही थोक के भाव में ईमेल पर नीरज सारे दोस्तों को सूचना दे देता था। हाँ, इस बार परेश से उसकी मुलाकात नहीं हो पायेगी। उससे क्या अब किसी से भी परेश मुलाकात नहीं कर सकता। घर-दफ़्तर, सोते-जागते, जाड़ा-गर्मी हर समय हर जगह काम के ही बारे में सोचने वाले परेश का काम तमाम कर गया बिना पूर्व सूचना आधम का दिल का दौरा।

दिन भर सेलफोन पर एक के बाद एक दोस्त उससे हुई बात के बारे में बताता गया। शाम को यह पाकर कि बात करने में वही पीछे रह गया है। उसके नाम के बजाय ‘प्रवासी’ नाम से दर्ज नीरज का लैंडलाइन नंबर अविजित के सेलफोन पर दब गया।

फ़ोन नीरज की माँ ने उठाया था। ‘पैरीपैना’ के जवाब में असीसते हुए उन्होंने बताया कि नीरज तो बाथरूम में नहाने घुसा हुआ है। दो मिनट बाद ही फोन आया—

‘कच्छप कुमार! अब जाकर मेरे ईमेल तक पहुँच पाया क्या?’ इस बार नीरज की आवाज में हल्का सा कम्पन साफ सुनाई दिया।

“नहीं, प्रवासी पाजी। सोचा, शाम को तेरे से फुर्सत में बात करूँगा।”

“तुझे फुर्सत ही फुर्सत है भाई। कभी जिंदगी में हड़बड़ी दिखाई नहीं चाहे....” और ठहाका लगाकर नीरज बोलता ही चला गया।

ठहाकों पर टँके हुए उसके वाक्यों को सुनते-सुनते अविजित सोचे जा रहा था कि परेश की मौत को नीरज बिल्कुल ही भुला बैठा है क्या।

“हाँ, तो बहुत फोनिया लिया बबुआ कच्छप से। अब कल सुबह दस बजे बिल्कुल तैयार रहना। जानता हूँ, तेरी छुट्टी होगी।”

“कहीं चलना है?” अप्रत्याशित रूप से अपनी ओर उछाल दिये गये उसके प्रोग्राम से थोड़ा चौंककर अविजित बोल पड़ा।

“हाँ, चलना है। यह करम दिलिहर प्रवासी तेरे साथ अपने उस दोस्त के घर जायेगा जिसे अब सिर्फ अपनी यादों में देखा जा सकता है।”

नीरज की आवाज में लरज गया दुःख अभी अविजित की क्षण भर की चुप्पी में प्रतिबिम्बित हो ही रहा था किताब खत्म करते हुए दूसरा वाक्य आया— “मिलते हैं कल, कच्छप! ओके....”

मनोरंजक और अक्सर व्यक्ति-विशेष की विशिष्ट प्रकृति को साकार कर देने वाले नाम रख डालने में नीरज का कोई सानी नहीं था। छात्र जीवन में तो वह दिन में दस के हिसाब से आते-जाते दिख रहे लोगों के नाम रखता फिरता था। केमिस्ट्री पढ़ाने वाले अध्यापक का नाम

उसने 'सल्फर' रखा था और एक बार तो उनकी क्लास खाली रहने पर प्रधानाचार्य के राउंड लगाते हुए पूछ पड़ने पर एक बोका छात्र मुँह फाड़कर बता भी बैठा—“आज सल्फर नहीं आये हैं।”

उसके बाद कक्षा में फूट पड़ने वाले ठहाके और नतीजे में पूरी कक्षा की सिलसिलेवार फजीहत आज भी अविजित के गालों को मुस्कराहट की मुद्रा में सिकोड़कर रख देते हैं।

“बोलो, नवाब निखटू।”

अविजित के मुँह से नीरज का रखा हुआ नाम निकलते ही फोन में राशिद की हँसी खनखना गयी।

“ठाकुर ठसक सिंह पर सोंत शरीफ ला रहे हैं। तभी सारे लोगों के साथ बैठने का प्लान बना है। अभी तो कल तुम उसके साथ अनुपमा भाभी से मिलने जा रहे हो न!”

“हाँ। क्या तुम....”

राशिद ने अविजित की बात काटकर स्पष्ट किया—“नहीं, नहीं मैं साथ नहीं चल रहा। आलिया के स्कूल में फंक्शन है। तुम हो आओ।”

नीरज अब हिंदुस्तान में ही नौकरी करता था तो बैठकबाजी सूर्य प्रताप के घर पर ही हुआ करती थी। सीधे उसके खेतों से आयी दिव्य स्वाद वाली पालक की साग, घी चुपड़ी मोटी-मोटी रोटियाँ, मेवे से सजा हुआ गाजर का हलवा इत्यादि जब अक्सर बैठक के समापन पर होने वाले भोज में सूर्य प्रताप के नौकर और खाने का आग्रह कर कर खिलाते तो लौटते हुए पैरों के लिए ज़रूरत से ज्यादा भरे पेट का भार उठाना मुश्किल लगने लगता। एक दिन तृप्ति की रौ में सूर्य प्रताप को लज़ीज खाने के लिए 'शुक्रिया' कहते जा रहे राशिद को बीच में ही रोककर नीरज ने सूर्य प्रताप का भी नामकरण कर ही दिया था—“भाई जान उर्फ नवाब निखटू” इस बात पर गौर करें कि ये साहब आपकी तरह नाम के नवाब नहीं हैं। ठसक से रहने, ठसक से चलने और ठसक से खिलाने वाले ठाकुर ठसक सिंह हैं। बोलो, ठाकुर ठसक सिंह की जय....”

मजे की बात यह थी कि सारे दोस्तों में सिर्फ सूर्यप्रताप को अपने लिए नीरज का रखा हुआ नाम पसंद आया था। और नीरज के यहाँ रहते हुए किसी भी दोस्त ने जवाब में उसका कोई नाम नहीं रखा था। 'प्रवासी' नाम तो उसके

विदेश चले जाने के बाद बातों-बातों में अविजित के मुँह से निकला था और तब से उसके साथ चिपक गया था।

पर अविजित ने एक-दो बार नोट किया था कि 'प्रवासी' पुकारने पर उसकी पेशानी पर हल्की सी सिकुड़ने ज़रूर झलककर तुरंत गायब हो जाती हैं।

अविजित की पत्नी और बच्चों से बातें करने, चाय-पकौड़ा उदरस्थ करने और ड्राइंग रूम के बदले हुए हुलिये पर दो-चार मजेदार टिप्पणियाँ जड़ने के बाद नीरज झटके से उठकर खड़ा हो गया और बोला—“चल!”

“अरे, बैठ न। अभी....”

“नहीं, चल।” वह जैसे यहाँ और समय न बिताकर परेश के घर पहुँचने की जल्दी में था। गाड़ी चलाते हुए अविजित से नीरज ने रास्ते भर कोई बात नहीं की। एक बार सामने वाले वाहन के अचानक ब्रेक लगा देने से मजबूर होकर लगाये गये ब्रेक के झटके से थोड़ा चौंकते हुए उसने अविजित को मुँह घुमाकर देखा ज़रूर।

और परेश की पत्नी से सामना होते ही नीरज के मुँह से पहला वाक्य निकला—

“भाभी। विदेश में रहने की इससे बड़ी सजा क्या हो सकती है कि अपना दोस्त दिल पर इतना इतना बोझ लादे रहा और मुझे खबर तक नहीं थी।”

परेश की पत्नी एक क्षण उसके चेहरे पर नजरें टिकाकर आहिस्ता से बोली—

“किसे थी खबर?”

बातों-बातों में नीरज घर की स्थिति का अंदाज लेता रहा। परेश हम सबमें अपनी बचत का ढंग से निवेश करने में अक्ल था इसलिए कोई आर्थिक परेशानी नहीं थी।

“उसकी फोटो कहाँ है?” अचानक ही नीरज इतना बोला तो परेश की पत्नी ने उसे शयन कक्ष में टँगी बड़ी सी फोटो के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया। अपनी दोढ़ी सीने पर टिकाये हुए वह न जाने क्या-क्या बुदबुदाता रहा। अपेक्षा से अधिक ही देर उसे वहाँ खड़ा देखकर परेश की पत्नी भी किंचित आश्चर्य में थी। वापसी में अविजित गाड़ी चलाता रहा और नीरज बिलकुल चुपचाप बैठा रहा। पर गंतव्य पर पहुँचकर उसके मुँह से जैसे बहुत देर से रोककर रखा गया वाक्य उच्छ्वास के साथ निकला—“कैसे चुपचाप

चला गया अपना दोस्त!”

सूर्यप्रताप के आते ही सारे दोस्त इकट्ठे हुए। राशिद और अविजित और बातें करते जाने के साथ साथ बीच-बीच में नीरज के विदेश-प्रवास से संबंधित जिज्ञासाएं भी उसकी ओर उछालते जा रहे थे। काम, कंपनी, मौसम, कार्य-संस्कृति, बेरोजगारी की दर, औद्योगिक विकास की दर इत्यादि से संबंधित कुछ जिज्ञासाओं का तो वह उत्तर देता पर कुछ के मामले में बात दूसरी तरफ मोड़ देता। लंच के समय में गोफ्लेवर की आइसक्रीम खाते-खाते नीरज सूर्यप्रताप की ओर मुड़कर बोला-

“तुम्हारा आम वाला बाग अब भी मौजूद है?”

“हाँ, है। पर अभी तो आमों का सीजन नहीं है।”

“मालूम है, मालूम है। अचानक याद आ गया वो जमाना जब हम उस बाग में खाटों पर बैठकर बाल्टी-बाल्टी चुसुआ आम खा जाया करते थे।”

सूर्यप्रताप हल्के से हँसकर बोला- “अब वो बात कहाँ। नयी पीढ़ी तो चूसकर खाये जाने वाले आम की बात समझेगी ही नहीं। सारे गूदेवाले कलमी आम चम्मच से खाते हैं। वैसे भी मेरे गाँव में अब मेरा बाग एक अजूबा ही समझा जाता है। सारे बाग-तालाब धीरे-धीरे शहर को वहाँ तक फैलाने में लगे बिल्डर लीलते जा रहे हैं।”

“चाँदी हो गई, भाई। गाँव वाले ज़मीन बिल्डरों को बेचकर करोड़पति बनते जा रहे हैं। है न?”

राशिद ने सूर्यप्रताप से कहा।

“अपना-अपना नज़रिया है, भाई।” सूर्यप्रताप ने स्वर में हल्का सा दुख घोलते हुए कहा।

“क्यों? तुम अपने गाँव के विकास से खुश नहीं हो?”

नीरज के प्रश्न पर सूर्यप्रताप ने थोड़ा ठहरकर जवाब दिया- “कहा न कि अपना-अपना है। बहुत सी बातों से बहुत सारे लोग खुश हैं पर वो बातें मुझे परेशान करती हैं। जिन बातों से मैं खुश होता हूँ उनमें किसी और को शायद खुश होने वाली कोई बात ही न लगे।”

राशिद ने ताली बजाकर कहा- “वाऽह! उम्र बढ़ने के साथ ठाकुर ठसक सिंह फिलासफी भी बतियाने लगे।”

राशिद की बात पर नीरज को छोड़कर सब हँस पड़े।

अविजित ने नीरज की चुप्पी नोट की तो उससे पूछा- “प्यारे प्रवासी! तुम खुश हो कि नहीं?”

“अ-क्या? नीरज जैसे किसी गंभीर सोच से उखड़ गया और फिर बात समझकर हाथ हवा में लहराते हुए बोला- “कोई बतायें हमें कि हम बतायें क्या?”

“वाह मान गये जनाब को। शायरी में जवाब देने लगे और वह भी गालिब की।”

राशिद के इतना कहते ही कविता की दो प्रसंगानुकूल पंक्तियाँ अविजित ने सुनाई तो दो सूर्यप्रताप ने।

ट्रे उठाकर जाता हुआ सूर्यप्रताप का मुँह लगा नौकर दरवाजे पर ही ठिठक गया और मुड़कर सूर्यप्रताप से बोला- “पहिले इस घर में बहुत सायरी होती थी। बड़का बाबू से मिलने मार सायर लोग आते थे।”

“सायर नहीं, शायर। राशिद ने उसे टोका।

“वैसे, तब लोगों के पास समय भी बहुत हुआ करता था कविता-कहानी सुनने के लिए।” अविजित ने इतना कहकर सूर्यप्रताप की ओर देखा।

“ऐसी बात नहीं है। बाबूजी बहुत व्यस्त वकील थे।” सूर्यप्रताप बोला।

“जिस चीज में आदमी की रुचि हो उसके लिए समय निकल ही आता है। सही है कि नहीं?”

नीरज ने इतना कहकर एक ही नजर में सारे दोस्तों के चेहरे नाप लिये।

“सही है।” कहकर राशिद ने शरारत से पुतलियाँ नचाई और सिर झुकाकर सलाम करते हुए बोला-

गौर फरमायें नवाब निखटू की शानदार शायरी पर-

“सुबह-सवेरे दफ्तर जायें

मातहतों से मगज़ चटवायें

बॉस से झाड़ खायें

शाम को जब घर आयें

तो बीवी कहे ‘आये निखटू’

उसकी तुकबंदी पर जब हँसी थमी तो सूर्यप्रताप ने कहा- “आगे से ऐसी बेसिर पैर की चीज़ कविता के नाम पर सुनाई तो दफ्तर में तुम्हारी नेमप्लेट पर ‘निखटू’ लिखवा दूँगा।” फिर हँसी के फव्वारे उठे।

बातों-कहकहों का सिलसिला थोड़ा मद्धम हुआ तो

नीरज एक क्षण पर आहिस्ता से उठा और दोनों हाथ उठाते हुए बोला- “मेरा एक सुझाव है।”

“भाई, सुझाव ही देना। खड़े होकर प्रवचन मत झाड़ने लगना।” राशिद हँसकर बोला।

“नहीं, सुझाव ही दे रहा हूँ। गौर करना-नकरना।” नीरज मुस्कराया।

“दे डालो भी जल्दी अपना सुझाव।” अविजित ने चेहरे पर से मक्खियाँ हटाने के अंदाज में हाथ लहराया।

नीरज ने सारे दोस्तों के चेहरों पर एक-एक कर नज़र टिकाते-हटाते हुए जोर से कहा-“सालों बाद हम इकट्ठे बैठे बोल-बतिया रहे हैं। कल इतवार है और तुम सब की छुट्टी होगी ही। जहाँ तक मुझे याद है सूर्यप्रताप का गाँव यहाँ से पैंतालीस-पचास किलोमीटर होगा। मेरा सुझाव है कि कल हम सारे दोस्त सुबह-सुबह तैयार होकर वहाँ पहुँचे और दिन भर इसके बगीचे में बैठकर खायें, पियें, हँसे और..... और , कविताएँ सुने, सुनायें।”

एक क्षण को जैसे सारे दोस्त चुप्पी साधे बैठे रहे। फिर अविजित की आवाज गूँजी-

“वाऽह क्या आइडिया है!”

सूर्यप्रताप मुस्कराया- “कोई मुश्किल नहीं है। अभी बोल देता हूँ सारे इंतजाम करने को। बस, सारे लोग तय कर लो प्रोग्राम।”

“तय है, तय है। बीबी-बच्चों की कड़कड़ से एक दिन तो निजात मिलेगी। अमराई में बहे पुरवाई और बैठकर हम बतियायें हवा-हवाई...”

राशिद ने अपनी समझ से लतीफा छोड़ा तो सूर्यप्रताप ने झिड़का- “भाई, अभी से मत शुरू हो जा। वैसे, ऐसी कविता मेरे बागों के पेड़ों ने सुन ली तो झल्लाकर तेरी खोपड़ी पर टहनी फेंककर चपत लगा देंगे।”

“खोपड़ी भी कुछ बदलाव महसूस कर लेगी। भाभी जान की मुलायम चपत के बजाय टहनी की टनाटन चपत!”

नीरज ने हँसकर कहा।

तभी अविजित ने थोड़ी गंभीर मुद्रा बनाकर कहा- “एक ही दिक्कत है। सोमवार को बोर्डमीटिंग है। कल रात को थोड़ी....”

“नहीं चलेगा, नहीं चलेगा। कोई बहाना नहीं चलेगा।

अर्ज किया है...”

सूर्यप्रताप ने राशिद को टोका- “अरे, निखटू। अब जो कुछ अर्ज करना है मेरे बाग में ही करना।” फिर वह अविजित की ओर मुड़ा- “कल रात तक वापस आ जायेंगे। सारा इंतजाम पक्का करवा दूँगा। बस डेढ़ घंटे जाने के, डेढ़ घंटे आने के और पाँच-छह घंटे बाग में बिता लेंगे।”

राशिद अब गंभीर होकर बोला- “यार! सात समंदर पार कर आया है ये। दफ्तर के काम-शाम कहाँ भागे जा रहे हैं। एक दिन की ही बात है।”

थोड़ा सोचकर अविजित ने कहा- “ठीक है, पर रात आठ बजे तक वापस आ जायेंगे भले भोर में ही निकल लो।”

“डन!”

“डन!”

और प्रोग्राम तय हो गया।

..... . ....

बाग में आम के ही पेड़ नहीं थे, बबूल और नीम के भी कई पेड़ नज़र आये। नीरज घूम-घूमकर हर वृक्ष का निरीक्षण करता जा रहा था और कोई न कोई टिप्पणी भी जड़ देता था। राशिद उसके पीछे-पीछे था पर सूर्यप्रताप तथा अविजित आम के पेड़ के नीचे चारपाइयाँ इत्यादि बिछवाने में लगे थे।

“वाऽह! क्या पेड़ है! पेड़ क्या सारे पेड़ों का परदादा है।” एक पुराने और बड़े से पीपल के पेड़ को अचानक बाग में पाकर नीरज अभिभूत सा उसके नीचे खड़ा हो गया।

मन्द-मन्द हवा चल रही थी और उसके धक्के से ठुमके लगाते हुए पीपल के पत्तों पर उसकी नज़रें गड़ सी गयीं। थोड़ी देर बाद वह राशिद की ओर मुँह घुमाकर बोल पड़ा- “भाई, यह पेड़ न सिर्फ कविता रच रहा है बल्कि उस पर मस्त हुआ सागा-नाच भी रहा है।”

“क्या बात है! पेड़ के बारे में ऐसा आज तक न किसी ने सोचा होगा, न कहा होगा।” राशिद इस बार हँसा नहीं। दो क्षण चुपचाप खड़ा सा नीरज पलटा और तेज-तेज कदमों से सूर्यप्रताप की ओर बढ़ा।

“वहीं कविता सुनी-सुनाई जायेगी.... वहाँ।” सूर्यप्रताप के

पास पहुँचकर नीरज ने पीपल के पेड़ की ओर इशारा किया।

“ये लो... सारा इंतजाम करवा लिया तो...”

सूर्यप्रताप की बात काटकर नीरज झटके से बोला-

“भाई, वह पेड़ ही कवि है। वहीं ठीक रहेगा।”

सूर्यप्रताप ने पहले उसको थोड़े कौतुक से देखा, फिर अविजित की ओर एक मुस्कान फेंकी।

“कोई बात नहीं, मैं करवा देता हूँ उधर सब कुछ।”

जिम्मेदारी लेकर अविजित सूर्यप्रताप के आदमियों से सारा सामान उधर पहुँचाने में लग गया।

सूर्यप्रताप वहीं नीरज से बतियाते हुए खड़ा रहा और पीपल के नीचे अविजित को राशिद की मदद मिल गयी।

बीच-बीच में प्रचुर खाद्य सामग्री आती जा रही थी, अविजित का कविता-पाठ कुछ लंबा ही खिंच रहा था। दरअसल, वह अपनी नहीं बल्कि नामचीन कवियों की याद रह गयी कविताएँ रुक-रुककर सुनाये जा रहा था।

“हो गया... हो गया। सुभान अल्लाह! अब बाकी लोगों को भी चांस दिया जाये।” राशिद से न रहा गया तो टोक बैठा।

चिढ़कर अविजित बोला- “आप ही चांस ले लें शायरे आज्ञम निखटू मुरादाबादी।”

“मुरादाबादी नहीं, वहाँ तो मेरी ननिहाल है। मैं बरेली का हूँ।”

“चल सुनादे अपनी तुकबंदी, निखटू बरेलवी।” सूर्यप्रताप बोला।

“अर्ज किया है....”

“इरशाद!” सूर्यप्रताप लगभग डाँटने के अंदाज़ में कहा।

राशिद ने सलाम के अंदाज़ में हाथ माथे से लगाया और कहा-

“मैं तो अपनी ही शायरी सुनाऊँगा, पसंद आये चाहे न आये।”

“सुनाओ, सुनाओ।” नीरज ने उसका हौसला बढ़ाया।

गला खँखारकर राशिद शुरू हो गया-

“उस शहर में मैं हूँ

पर मेरा दिल नहीं है....”

“अरे वाह...”

“छुपे रुस्तम निकले, भाई”

सूर्यप्रताप और अविजित ने लहककर दाद दी पर इन पंक्तियों को सुनते ही नीरज का चेहरा ज्यादा ही गंभीर दिखने लगा।

राशिद ने जब अपनी कविताओं का पाठ समाप्त किया तो बाकायदा तालियाँ बजीं और फिर सवाल खड़ा हो गया कि सूर्यप्रताप और नीरज में से कौन पहले कविता कहे। अविजित के इस रार पर नम्बर पहले नीरज का लगा।

नीरज प्रवास की पृष्ठभूमि पर कविताएँ सुना रहा था और दोस्त लोग रुचि ले-लेकर सुन रहे थे। एक मोड़ पर तो राशिद ने कह दिया- “यहाँ तो कभी तुम्हारे मुँह से कुछ सुना नहीं। सारी शायरी वहाँ जाकर ही शुरू हुई लगती है।”

मुस्कराकर नीरज ने सुनाना जारी रखा और बीच में कहा भी- “कविता का कोई ठिकाना नहीं। खुद नहीं पता होता कि कब अंदर पक गयी।”

“पक गयी! अमाँ, क्या जुमला उछाल मारा! वाऽह!” राशिद ने प्रशंसा में कहा।

“बात तो वजनदार है।” सूर्यप्रताप ने तसदीक की।

“पर एक....” कहते-कहते नीरज रुक गया।

“क्या?” राशिद बोला।

“छोड़ो, जाने दो।”

“कहो तो, बात क्या है।” सूर्यप्रताप ने नीरज को गौर से देखकर कहा।

“मेरी एक कविता ऐसी है जिसे सुना पाना बहुत मुश्किल है।”

“अच्छा!” सूर्यप्रताप ने इतना कहकर अविजित की ओर देखा तो अविजित बोल पड़ा- “सुनाने में क्या मुश्किल, भाई।”

नीरज चुप रहा।

“कोशिश करके देखो। आधी बात से तो कुछ समझ में नहीं आयेगा।” अविजित ने जोर दिया। नीरज दोस्तों के चेहरों पर नज़रें घुमाता रहा। फिर जैसे पूरी ताकत समेटते हुए कहना शुरू किया-

“बाहर सड़क पर

गिर रही है बर्फ़...”

और इतना ही कहकर एकदम से चुप हो गया। उसका चेहरा विवर्ण सा होने लगा।

थोड़ी चुप्पी के बाद सूर्यप्रताप की आवाज़ फूटी- “छोड़ दो अगर कोई मुश्किल है इसमें।”

अविजित ने नीरज के चेहरे पर गौर कर सूर्यप्रताप की बात का समर्थन किया-

“हाँ, रहने दो।

राशिद कुछ असमंजस में पड़ा सा नीरज से पूछ बैठा- “भाईजान, कोई बात है क्या?”

नीरज ने बेबसी से उसकी ओर देखा। इस पर सूर्यप्रताप ने घड़ी देखी और समापन भाव से कहा- “रहने दो।”

इस सबके बीच सूर्यप्रताप के कविता-पाठ का नम्बर ही नहीं आ पाया। गाँव के कुछ लोग उसे ढूँढ़ते हुए आ पहुँचे और किसी दोस्त ने उससे आगे कुछ कहा भी नहीं।

हाँ, एक बात जरूर वापस लौट रहे हर दोस्त के दिमाग में उठ रही थी कि प्रोग्राम बनाने वाला और कविता-पाठ को लेकर खिला-खिला सा रहा नीरज लौटने के सफर में इस कदर चुप-चुप क्यों है?

नीरज ने वापस विदेश लौटने के दिन के पहले वाली रात को अविजित ने अपने घर पर सबको खाने पर बुलाया। परेश की पत्नी भी आई। बल्कि दोस्तों ने बाग में कविता-पाठ का किस्सा उसे सुनाया तो परेश की पत्नी का खासा मनोरंजन भी हुआ। सूर्यप्रताप ने नीरज का हाथ दबाकर सिर्फ उसको सुनाने के लिए बहुत धीरे से कहा- “गमखोर गधे। बाँटने से गम कम हो जाता है।”

नीरज के होंठों पर बस एक क्षीण सी मुस्कराहट झलकी।

राशिद उनकी ओर झुककर बोला- “तुम लोग क्या खुसुर-फुसुर कर रहे हो?”

“कुछ नहीं।”

“कुछ तो कह रहे थे।”

“हाँ तो सुनो। मैं कह रहा था कि शायरे आजम निखटू

बरेलवी अमेरिका के मुशायरे में न्यौते जाने वाले हैं।” इतना कहकर सूर्यप्रताप जबरदस्ती की एक हँसी खींच बैठा।

पर नीरज के चेहरे पर बेचारगी पसर आयी।

अविजित ने एयरपोर्ट तक छोड़ आने के लिए कहा तो नीरज बोला- “जरूरत क्या है?”

“ऐसे ही मन कर गया।”

और एयरपोर्ट का प्रवेश द्वार तक छोड़कर विदा लेते हुए अविजित ने नीरज का हाथ दबाकर कहा- “सुनाना मुश्किल हो तो कविता ईमेल भी की जा सकती है।”

उसकी बात पर किंचित आश्चर्य का भाव लाते हुए नीरज ने वापस उसका हाथ दबा दिया।

करीब पंद्रह दिन बाद अविजित के ईमेल पर नीरज का मेल अवतरित हुआ। खोलकर पढ़ने लगा तो अविजित को अहसास हुआ कि कविता भेजी गयी है।

“बाहर सड़क पर

गिर रही है बर्फ़

अंदर संबंधों पर

जम रही है बर्फ़

टनों के हिसाब से

जम रही है बर्फ़

छह सालों से लगातार

जम रही है बर्फ़

बर्फ़, बर्फ़, बर्फ़

सब कुछ...”

पढ़ते-पढ़ते अविजित सोचे जा रहा था कि इस कविता का सूत्र कहाँ है, कुछ अजीब सी लग रही इस कविता में कौन सी ऐसी बात छुपी है कि नीरज यहाँ दोस्तों को सुनाते-सुनाते अटक गया था।

पाँच-छह मिनट बाद अविजित की स्मृति से एक तथ्य उछलकर आँखों के सामने कौंध सा गया।

छह साल पहले ही तो नीरज ने अपनी कनाडियन सहकर्मी से शादी की थी!

#### संपर्क:

590, डी.डी.ए, फ्लैट्स, पॉकेट-1, सेक्टर-22  
द्वारका, नई दिल्ली-110077 मो. 09968334756



## कहानी कभी नहीं मरती सुशांत सुप्रिय

उसके लिए जो नहीं होते हुए भी स्मृति में दस्तक-सा, धूप में ऊष्मा-सा, अहसास में स्पर्श-सा हर पल है—अपने नहींपन में भी अपने होने का स्थान लेता हुआ।

वे खुद भी एक कहानी थे। एक लम्बी कहानी। और उनके भीतर मौजूद थीं... अनगिनत कहानियाँ। क्या वे किस्से-कहानियों की खेती करते हैं... हम सारे बच्चे अक्सर हैरान होकर यह सोचते।

छब्बे पा जी के पास अद्भुत कहानियों का खजाना था। हालांकि वे हम बच्चों के पिता की उम्र के थे लेकिन गली में सभी उन्हें 'पा' जी (भैया) ही कहते थे। प्याज की परतों की तरह उनकी हर कहानी के भीतर कई कहानियाँ छिपी होतीं। अविश्वसनीय कथाएँ। उनसे कहानियाँ सुनते-सुनते हम बच्चे किसी और ही ग्रह-नक्षत्र पर चले जाते। अवाक् और मंत्रमुग्ध होकर हम उनकी कहानियों की दुनिया में गुम हो जाते। उनके शब्दों के जादू में खो जाते। परियाँ, जिन्न, भूत-प्रेत, देवी-देवता, राक्षस-चुड़ैल... उनके कहने पर ये सब हमारी आँखों के सामने प्रकट होते या गायब हो जाते। छब्बे पा जी की एक आवाज पर असंभव संभव हो जाता। मौसम करवट बदल लेता। दिशाएँ झूम उठतीं। प्रकृति मेहरबान हो जाती। बुराई घुटने टेक देती। शंकाएँ भाप बनकर उड़ जातीं। छब्बे पा जी की कहानियाँ पंचतंत्र से महाभारत तक, रामायण से अलिफ-लैला तक फैली होतीं। हीर-राँझा, मिर्जा साहिबाँ, सस्सी पुन्नू, सोहनी महिवाल, पूरन भगत, राजा रसालू, दुल्ला भट्टी, जीऊणा मौड़ और कैमा मलकी के किस्से उन्हें ऐसे कंठस्थ थे जैसे बच्चे को दो का पहाड़ा रटा होता है। लेकिन इससे भी ज्यादा रोचक वे कहानियाँ होतीं जिनके स्रोत हम बड़े होने के बाद भी नहीं जान पाये। क्या वे अद्भुत कहानियाँ उन्होंने खुद गढ़ी थीं?

कभी-कभी छब्बे पा जी कुछ दिनों के लिए अपने गाँव चले जाते। उनका गाँव अमृतसर शहर से पन्द्रह-बीस किलोमीटर दूर था। तब मुझे उनकी कमी बहुत शिद्दत से खलती, क्योंकि तब मैं उनकी अद्भुत कहानियाँ सुनने से वंचित रह जाता। तब मैं कल्पना करता कि काश, कहानियाँ पेड़ों पर फलों की तरह उगतीं। यदि ऐसा होता तो हम सब बच्चे उन्हें पेड़ों से तोड़-तोड़ कर उनका खूब स्वाद लेते। किसी पेड़ पर एक तरह की कहानी तो किसी दूसरे पेड़ पर दूसरी तरह की कहानी। कहीं संतरा-कहानी तो कहीं अमरूद-कहानी।

कई बार छब्बे पा जी छुट्टी वाले दिन भी शहर में किसी काम से निकल जाते और रात तक घर नहीं लौटते। ऐसे में हम बच्चे सारा दिन उनकी राह देखते रहते। जब वे नहीं लौटते तो मैं सोचने लगता कि वे क्या कर रहे होंगे। जरूर वे सुबह-सुबह दरबार साहब (स्वर्ण मंदिर) गए होंगे। वहाँ गुरु ग्रंथ साहब के आगे माथा टेक कर उन्होंने गुरुबाणी सुनी होगी। उन्होंने सरोवर के पवित्र जल में स्नान किया होगा। और दरबार साहब की परिक्रमा की होगी। उन्होंने अकाल तख्त के आगे भी माथा टेका होगा और पास कहीं बैठकर उन्होंने कड़ाह प्रसाद का हलवा खाया

होगा।

फिर दरबार साहब से बाहर आकर उन्होंने किसी ढाबे में बैठकर छोले भटूरे का नाश्ता किया होगा। किसी दुकान से उन्होंने पापड़-वड़ियाँ खरीदी होंगी। कटरा जैमल सिंह से कुछ कपड़े खरीदें होंगे। हाल गेट में डी.ए.वी. कॉलेज के पीछे वाली गली में ज्ञान सिंह हलवाई की दुकान पर लस्सी पी होगी और गजरेला (गाजर का हलवा) खाया होगा। वहीं सड़क के किनारे खड़े किसी रेहड़ीवाले से बढ़िया गजक ली होगी। फिर उन्होंने क्रिस्टल चौक से सॉफ्टी खाई होगी। लौटते हुए शायद वे पुतलीघर चौक पर उतरे होंगे। वहाँ सब्जी मंडी से उन्होंने सब्जियाँ ली होंगी। लेकिन इतना सारा सामन लेकर वे गुरुनानक देव यूनिवर्सिटी की लाइब्रेरी तो यकीनन नहीं जा पाए होंगे। तब तो उन्हें थोड़ी देर में घर लौट आना चाहिए... मैं सोचता।

...कभी-कभी ऐसा भी होता कि छब्बे पा जी उदास लग रहे होते। जब वे उदास होते तो कई दिनों तक उदास ही रहते। हम बच्चे सोचने लग जाते कि उनकी उदासी का क्या कारण होगा। आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो समझ में आता है कि पुराने जमाने में लोगों के पास हँसी का खजाना था। जितना चाहे हँस लो, वह भरा हुआ खजाना कभी खत्म नहीं होता था। हुआ यह होगा कि लक्कड़दादा-फक्कड़दादा-पड़दादा-दादा-बाप आदि से होता हुआ जब वह खजाना छब्बे पा जी के पास पहुँचा होगा तो वह लगभग खाली हो गया होगा। उसमें हँसी की शायद ही कोई दमड़ी बची होगी। हो-न-हो, छब्बे पा जी उसी पूरे खानदान के बेचारे वारिस होंगे जिनके खाली हो चुके खजाने में अब केवल उदासी की अठन्नी बची होगी। लेकिन उस प्राचीन खानदान के अगले वारिस छब्बे पा जी के बेटे के पास क्या बचेगा? उनके बेटे सुरिंदर के खजाने में तो वह उदासी की अठन्नी भी नहीं होगी।

अक्सर छब्बे पा जी गली में मंजी (खाट) डाल कर बैठ जाते। कभी हम बच्चे उनके साथ गली में बंटे (कंचे) खेलते, कभी छोटे-छोटे पत्थरों में डोर बांधकर एक-दूसरे से 'आ गुलाबो काँटियाँ' खेल रहे होते, कभी वे हमें शतरंज खेलना सिखा रहे होते तो कभी हम उनके कोठे (छत) पर चढ़ कर उनकी कयादत में पतंग उड़ा रहे होते।

जब छब्बे पा' जी की पतंग किसी दूसरी पतंग को काट देती तो हम सारे बच्चे 'आई बो, बो काटा' की आवाज चारों दिशाओं में फैला देते। छब्बे पा' जी बड़े कुशल पतंगबाज थे। उनकी माँझा डोर और पतंग उड़ाने की कलाकारी की चर्चा दूर-दूर तक थी। दूसरे पतंग उड़ाने वाले उनकी पतंग से पेंच लड़ाने से घबराते थे। लेकिन हम सारे बच्चे उन्हें आकाश में उड़ती बाकी सारी पतंगें काट देने के लिए उकसाते रहते थे।

हम छह सात लड़के थे। मैं, करमजीत, बिट्टू, शाणे, बंटी, लवली और टीटू। कभी-कभी हमारा एक और दोस्त तोते भी हमारे साथ हो लेता। छब्बे पा' जी का बेटा सुरिंदर और बेटा सिमरन हालांकि हमसे उम्र में कुछ साल बड़े थे लेकिन वे भी खेल-कूद में हमारे साथ ही रहते। छब्बे पा' जी जब आस-पास उड़ती सारी पतंगें काट देते और हम बच्चे दूसरे पतंग उड़ाने वालों की भी कटी पतंगें और काफी डोर लूट लेते तब जाकर हमें चैन मिलता। फिर थोड़ी देर छब्बे पा' जी हमें पतंग उड़ाना सिखाते और पेंच लड़ाने की बारीकियाँ बताते। यह शिक्षा पतंग उड़ाने के 'क्रैश कोर्स' जैसी होती। इसमें पिन्न लिपेटना, अक्खाँदार, कन्नी डालना, ढील देना हाथ मारना, हवा लगनी जैसे वाक्यांशों का खुल कर प्रयोग किया जाता।

जब हम थक जाते उसी समय चाई जी (छब्बे पा' जी की माता जी) हम सबके लिए गजक, रेवड़ियाँ और मूँगफली कोठे पर ले आतीं। साथ में छब्बे पा' जी के लिए अदरक और इलायची डाल कर बनाई गई दूध-पत्ती होती। हम सब बच्चे चाई जी को 'पैरीं पैन्ना हँ जी' (चरण-स्पर्श) कहते और उनसे 'जींदे रहो' का आशीर्वाद भी लेते।

फिर हम सब हाथ धोकर छब्बे पा' जा के पीछे पड़ जाते।

“पा' जी, कहाणी सुनाओ।”

हम बच्चों को छब्बे पा' जी से कहानी सुनने की लत लग गई थी। यह एक तड़प, एक धुन, एक जुनून की तरह थी।

“लै राजे, नेकी और पूछ-पूछ। आ जाओ भई, सारे बच्चों। “छब्बे पा' जी की आवाज सुनते ही बीच समन्दर में भटकता जहाज कैसे किनारे आ कर लंगर डाल देता।

छब्बे पा' जी को इतनी कहानियाँ कैसे आती हैं...

अक्सर हम बच्चे हैरान होकर यह सोचते। दाढ़ी मूँछों के बीच मुस्कराते उनके सफेद दांत मुझे आज भी याद हैं। वे हमेशा नीली पगड़ी पहनते थे।

‘पुत्तर, नीला रंग आकाश का होता है। नीला रंग समन्दर का होता है। बड़ा शांत रंग होता है यह। पर इस रंग में अथाह गहराई होती है। समझे?’ वे कहते। इसलिए उनके घर के पर्दों का रंग भी नीला था।

जरूर छब्बे पा’ जी को ये सारी कहानियाँ चाई जी सुनाती होंगी— अक्सर हम बच्चे आपस में एक-दूसरे से कहते। चाई जी को देखना, उनसे बातें करना टाइम मशीन में बैठकर प्राचीनकाल में चले जाने जैसा था। पीछे मुड़कर देखने पर अब तो मुझे यही लगता है। उनकी एक-एक झुर्री में जैसे सैकड़ों साल बंद पड़े थे। उनके मुँह से निकला एक-एक शब्द एक आदिम गूँज के लिए होता। लेकिन उनकी गोद में बैठकर बड़ा सुकून मिलता था।

दूसरी ओर छब्बे पा’ जी का बेटा सुरिंदर था। उससे बात करना टाइम मशीन में बैठकर सुदूर भविष्य में निकल जाने जैसा था। पीछे मुड़कर देखने पर अब मुझे यही लगता है। सुरिंदर हमेशा हेलीज कॉमेट, कॉमेट शूमाकर, बिग बैंग, ब्लैक-होल, रेडियो-टेलिस्कोप, रेड स्टार, लाइट-इयर्स आदि की बातें किया करता था। वह गुरुनानक देव यूनिवर्सिटी, अमृतसर से एस्ट्रो-फ़िज़िक्स में एम.एस.सी. करना चाहता था। उसका सपना ‘नासा’ (NASA) जाकर अंतरिक्ष यात्राएँ करने का था। लेकिन उस समय उसकी बातें हम बच्चों को कम ही समझ आती थी। हमारे लिए इतना ही बहुत था कि सुरिंदर छब्बे पा’ जी का बेटा था। हालाँकि कभी-कभी उसके टेलिस्कोप से मैं भी रात में आकाश के तारे देख लिया करता था।

छब्बे पा’ जी की बेटी सिमरन तब अठारह बरस की थी। वह तीखे नैन-नक्श, गेंहुआ रंग और भरी-पूरी गोलाइयों वाली सोहणी मुटियार (सुंदर युवती) थी। मुझे उसके साथ रहना, उससे बातें करना अच्छा लगता था। तब मैं तेरह साल का हो गया था और साथ उठते-बैठते या खेलते कूदते जब भी मेरी नाक में उसकी युवा देह-गंध पड़ती तो मेरे भीतर एक नशा-सा छा जाता। तब मेरा मन हमेशा सिमरन के आस पास रहने का करता।

कभी-कभी छब्बे पा’ जी कुछ दिनों के लिए अमृतसर से पन्द्रह-बीस किलोमीटर दूर अपने पुश्तैनी पिंड (गाँव) ‘चढ़दी कलाँ’ चले जाते। एक बार स्कूल की छुट्टियों में जिद करके मैं भी उनके साथ चला गया। मेरे पिता छब्बे पा’ जी के मित्र थे। लिहाजा छब्बे पा’ जी के भरोसा दिलाने पर उन्होंने मुझे छब्बे पा’ जी के साथ उनके गाँव जाने की इजाजत दे दी।

“आप फिकर ना करो जी। इसे कुछ नहीं होगा। ये मेरे पुत्तर जैसा है। सुरिंदर और सिमरन भी हैं ना साथ। हम सब इसका खयाल रखेंगे।” छब्बे पा’ जी ने पिता जी की चेहरे पर चिंता की लकीरें देख कर हँसते हुए कहा था।

गाँव में एक अपनापन होता है, एक जानी-पहचानी कशिश होती है शहर के अजनबीपन से बिल्कुल अलग होती है। आज जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ तो यही लगता है।

जितने दिन मैं छब्बे पा’ जी के गाँव रहा, हम ट्यूब-वेल पर ही नहाते और खेतों में ही दोपहर की रोटी खाते। तब मैं पहली बार ट्रैक्टर पर चढ़ा था। लुंगी और कुर्ते में छब्बे पा’ जी उस उम्र में भी बेहद आकर्षक लगते थे। जब वे अपनी बाँह मोड़ते थे तो उनके बाजू में मछलियाँ बनती थीं। वे लम्बे, तगड़े जाट सिख थे। उनके चौड़े कंधों पर बैठ कर सरसों के खेतों में घूमना मुझे आज भी याद है।

“पुत्तर, रज्ज के खाया-पिया कर। सेहत बणा।” खाने-पीने के मामले में वे पक्के अम्बरसरिए (अमृतसर के) थे। चाई भी हमारे साथ आई थीं। उस दिन उन्होंने जो मक्की की रोटी और सरसों का साग खिलाया था उतना स्वादिष्ट खाना मैंने कभी नहीं खाया था। लगता था जैसे उनके हाथों में जादू हो। उसी दिन सिमरन ने मुझे अकेले में ‘पिच्छे-पिच्छे आंदा मेरी चाल वेहंदा आई, धीरे वालेया वेखदा आई वे, मेरालौंग गवाचा’ गीत सुनाया था। हम दोनों टहलते हुए खेतों की ओर निकल गये थे। सिमरन ने फुलकारी वाला गुलाबी सूट पहना हुआ था। तभी तेज हवा के एक झोंके से उसकी चुन्नी उड़ गई थी। मैंने तेजी से दौड़कर चुन्नी पकड़ ली थी। जब मैंने सिमरन को उसकी चुन्नी लौटाई थी तो उसने प्यार से मेरा माथा चूम लिया था।

‘आप बहुत सोहणे (सुंदर) हो।’ मैंने शर्म से लाल

होते हुए भी यह कह दिया था।

‘चल, झूटे।’ सिमरन ने बनावटी गुस्से से कहा था हालाँकि उसकी आँखें खुशी से झूम रही थीं और वह खुलकर हँस रही थी। उस दिन सिमरन मुझे बहुत अच्छी लगी थी। मैं उसकी उन्मुक्त खनकती हुई हँसी का दीवाना था।

उसी शाम छब्बे पा’ जी ने मुझे, सुरिंदर और सिमरन को एक ऐसी मार्मिक कहानी सुनायी थी जो आज भी मेरी आँखें नम कर देती हैं।

“पुत्तर, आज मैं तुम सब को एक सच्ची कहाणी सुनाता हूँ। १९७१ की भारत-पाक जंग हमने जीती थी। पर अपने फौजियों की कुबार्नियों के बाद। छब्बे पा’ जी ने कहानी शुरू की।

“जंग समाप्त होने के बाद भी हमारे दर्जनों फौजी लापता थे। उनके घरवाले उन्हें शिहत से ढूँढ़ रहे थे। दो-ढाई महीने बाद ऐसे ही एक फौजी ने अपने घरवालों को फोन किया। फोन पर उसने बताया कि वह जंग में घायल हो गया था, लेकिन उसके एक साथी फौजी ने अपनी जान पर खेलकर उसे बचा लिया। इस दौरान उसका फौजी साथी बुरी तरह घायल हो गया। उसके फौजी साथी के दोनों हाथ और एक टाँग को काटना पड़ा तब कहीं जाकर उसकी जान बच पाई। फोन पर फौजी ने अपने घरवालों को आगे बताया कि उसका फौजी साथी अब अपाहिज हो गया था।

उस फौजी ने अपने घरवालों से आगे पूछा कि क्या उसका अपाहिज दोस्त अब उसके घर पर रह सकता है? उस अपाहिज का अब कोई नहीं। इसलिए फौजी ने अपने घरवालों से गुजारिश की कि वे अपाहिज साथी को अपना लें। हम सब ध्यान से छब्बे पा’ जी की कहानी सुन रहे थे।

लेकिन उस फौजी के घरवालों ने उसे अपने अपाहिज साथी को अपने साथ घर लाने से मना कर दिया। वे उसके अपाहिज साथी का बोझ उठाने को तैयार नहीं थे। यह सुन कर उस फौजी ने फोन बंद कर दिया।”

“फिर क्या हुआ पा’जी? मैंने पूछा।

‘पुत्तर, इसके बाद उस फौजी के घरवालों को उसका कोई अता-पता नहीं लगा। उसने फिर कभी अपने घरवालों को फोन नहीं किया।’ छब्बे पा’ जी ने

उदास आवाज में कहा।

“ऐसा क्यों पा’ जी?” मैंने फिर पूछा।

“ऐसा इसलिए पुत्तर क्योंकि दरअसल उसके अपाहिज फौजी साथी की कहानी झूठी थी। असल में वह फौजी जंग में खुद ही अपाहिज हो गया था। अपने घर फोन करके दरअसल वह यह जानना चाहता था कि कहीं उसके घरवाले अब उसे बोझ तो नहीं समझेंगे। अपने घरवालों का इम्तिहान लेने के लिए उस फौजी ने उन्हें अपने अपाहिज दोस्त की झूठी कहानी सुनाई थी। घरवालों की बात सुनकर उस फौजी का दिल टूट गया। वह कभी अपने घरवालों से नहीं मिला।” छब्बे पा’ जी की आवाज में जैसे अथाह दर्द था।

कहानी सुनकर हमारी आँखें भी नम हो गयी थीं।

“आपको यह कहानी कैसे पता पा’ जी?” मुझसे रहा नहीं गया तो मैंने पूछ ही लिया।

मुझे यह कहानी इसलिए पता है पुत्तर क्योंकि यह मेरे जिगरी यार की कहाणी है।” यह कहते-कहते छब्बे पा’ जी की आँखों में भी आँसू आ गए थे...

पीछे मुड़कर देखने पर यह सब किसी बीते हुए युग की बात लगती है। एक प्राचीन कथा। एक पूर्व-जन्म।

.....

सावधान, आगे कहानी में कुछ अंधे मोड़ हैं

“दशकों पहले एक बचपन था

बचपन उल्लसित किलकता हुआ

एक मासूम उपस्थिति

सूरज चाँद और सितारों के नीचे

बचपन चिड़िया का पंख था

बचपन उड़ती-कटती पतंगे थीं

बचपन चाई जी की गोद थी

बचपन छब्बे पा’ जी की कहानियाँ थीं....”

—अपनी डायरी का अंश

...धीरे-धीरे मैं बड़ा हो रहा था। न जाने कब मेरे समय में कई नुकीले काँटे उग आये थे। मुझे लगने लगा जैसे समय ने मुझे धोखा दिया है। मेरी मासूमियत को छला है। यह बोध ही मेरे बड़े हो जाने की शुरुआत थी। दरअसल पंजाब में आतंकवाद का डरावना दौर शुरू हो गया था।

फिर घरवालों ने वहाँ के बिगड़ते माहौल को देखकर

मुझे आगे की पढ़ाई करने के लिए दिल्ली भेज दिया।

“रब राखा, पुत्र।” जाते समय छब्बे पा’ जी ने मुझे सीने से लगाकर कहा था। हम दोनों का गला रुंध गया था। पलकें भींग गई थीं।

...धीरे-धीरे मेरा अमृतसर आना कम होता चला गया था। आतंकवाद अपने चरम पर था। धर्मांध आतंकवादी हिंदुओं को बसों से उतारकर गोलियों से भून देते थे। दूसरी ओर सुरक्षा बलों की गोलियों से कई निर्दोष सिख युवक भी मारे जा रहे थे। चारों ओर दहशत का माहौल था। दर्दनाक वारदातें हो रही थीं। पंजाब के दरियाओं में आग लग गई थी। ऐसे माहौल में जान के लाले पड़े हुए थे।

पिताजी ने अपने अमृतसर का मकान कम किराए पर ही चढ़ा दिया और हमारा सारा परिवार दिल्ली आ गया।

फिर पता चला कि छब्बे पा’ जी जून, 1984 में ऑपरेशन ब्लू-स्टार के समय बड़े पैमाने पर चलाए गए फौजी अभियान की चपेट में आ गये थे। उनके गाँव में किसी से उनकी व्यक्तिगत दुश्मनी थी। उसका रिश्तेदार पुलिस में था। उसकी झूठी निशानदेही पर छब्बे पा’ जी को ‘ए’ कैटेगरी का खतरनाक आतंकवादी बताकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और बाद में जोधपुर जेल में बंद कर दिया गया। उन्होंने लाख दुहाई दी कि वाहे गुरु की सौंह (कसम), वे सच बोल रहे थे। उन्होंने अपने बच्चों की कसम खाई कि उनका आतंकवादियों से कोई लेना-देना नहीं था, लेकिन उनकी एक नहीं सुनी गई। कई साल वे जोधपुर जेल में सड़ते रहे। फिर 1994-1995 में खराब सेहत की वजह से बड़ी मुश्किल से वे रिहा हो पाये।

इस बीच सिमरन के मामा और दूसरे रिश्तेदारों ने जबर्दस्ती उसकी शादी एक अधेड़ उद्योगपति से कर दी। लेकिन वह बेमेल शादी जल्दी ही टूट गई। जब छब्बे पा’ जी जेल से रिहा होकर घर पहुँचे तब तक तीन साल की लंबी कानूनी लड़ाई के बाद सिमरन का तलाक हो चुका था। उनके बेटे सुरिंदर का एक-डेढ़ साल से किसी को कोई अता-पता नहीं था।

उन्हीं दिनों एक रात मैंने एक सपना देखा। सपने में एक दृश्य- अतीत में हँस रहे छब्बे पा’ जी वर्तमान में रो रहे हैं। लेकिन ऐसे जैसे वैक्यूम में कोई रोता है। उनके

आँसू तो दिख रहे हैं पर रुदन सुनाई नहीं दे रहा है।

सपने में दूसरा दृश्य- भविष्य की आकाशगंगा के किसी सुदूर नक्षत्र से लौटा उनका बेटा सुरिंदर अपने पिता को वर्तमान में रोता हुआ पाकर उन्हें उनके हँसते अतीत में ढूँढ़ रहा है। वह उन्हें अतीत से भविष्य में ले जाने आया है पर उनका रोता हुआ वर्तमान बीच में बाधा बन रहा है। सुरिंदर छब्बे पा’ जी को जिस भविष्य की ओर ले जाना चाहता है उसका रास्ता अमेरिका से होकर जाता है। लेकिन छब्बे पा’ जी डालर की गंध से अपरिचित हैं। उन्हें अंग्रेजी नहीं आती और उनके मोबाईल का रिंगटोन ‘सतनाम वाहे गुरु’ है। दूसरी ओर उनके बेटे सुरिंदर के मोबाईल का कॉलर ट्यून माइकल जैक्शन का धड़ाम-धड़ूम रॉक संगीत बजता है जो छब्बे पा’ जी के पल्ले नहीं पड़ता। सुरिंदर अब भी कोई अजनबी ज़बान बोलने लगा है। बाप-बेटा एक-दूसरे को नहीं समझ पा रहे.... यही मेरा सपना टूट गया।

छब्बे पा’ जी की रिहाई के बाद जब मैं उनसे मिलने अमृतसर गया तो उन्हें देखकर मैं डर गया। वे शरीर से अलग हो गई परछाई से लग रहे थे। किसी ढही हुई इमारत-से।

“पा’ जी, कोई कहानी सुनाओ।” उनका कांपता हाथ अपने हाथों में लेकर मैंने कहा।

“मेरी सारी कहाणियाँ मर गई हैं, पुत्र। भीतर कहाणियों का समंदर अब सूख गया है।” थरथराती हुई आवाज़ में वे बोले।

“नहीं पा’ जी। कहानियाँ कभी नहीं मरतीं। कहानियों की अमरबेल सदा हरी रहती है।” मेरे मुँह से खुद-ब-खुद निकल आया।

“पुत्र, मेरे बाद मेरी सिमरन का क्या होगा?” उनकी आँखों में अंधेरा भरा था।

“वाहे गुरु पर भरोसा रखो पा’जी। सब सही हो जायेगा। उनके काँपते हुए हाथों को अपनी हथेलियों में स्थिर करते हुए मैंने कहा।

सिमरन बगल में बैठी हुई थी। उसकी आँखों में आँसुओं के मोती चमक रहे थे।

“जब दुख मेरे पास बैठा होता है

मुझे अपनी परछाई भी  
नज़र नहीं आती  
केवल एक सलेटी अहसास होता है  
शिराओं में इस्पात के  
भर जाने का  
केवल एक पीली गंध होती है  
भीतर कुछ सड़ जाने की  
और पुतलियाँ भारी हो जाती हैं  
न जाने किन दृश्यों के बोझ से...''  
- उस रात मैंने अपनी डायरी में लिखा था।  
अब छब्बे पा' जी नहीं रहे।

उनके दो भाई पहले ही अमेरिका जा कर बस चुके थे।  
वहाँ जाकर वे डॉलर के हो कर रह गए थे और अपने  
मुल्क और रिश्तेदारों को भूल गए थे। उनकी इकलौती  
बहन शादी के बाद पति के साथ आस्ट्रेलिया चली गयी  
थी। बेटा सुरिंदर अमेरिका जाना चाहता था। बाद में पता  
चला कि वह एजेंटों के चंगुल में फँस गया था। अवैध रूप  
से यूरोप में प्रवेश करने के जुर्म में वह इटली की किसी

जेल में बंद था। बहुत मुश्किल से इटली के भारतीय  
दूतावास की मदद से वह रिहा हो पाया। चाई जी भी पूरी  
हो चुकी हैं। वे छब्बे पा' जी के गुजर जाने का गम नहीं  
सह पाई।

मेरी शादी हो चुकी है। मेरे दो बच्चे हैं। बेटा बारह  
साल का है और बेटी सात साल की। अब मैं छब्बे पा' जी  
से सुनी हुई तमाम कहानियाँ अपने बच्चों को सुनाता हूँ।  
मैंने छब्बे पा'जी से कहा था- कहानियाँ कभी नहीं मरतीं।  
छब्बे पा'जी आज भी मेरे भीतर जीवित हैं। हर रविवार मैं,  
मेरी पत्नी और मेरे दोनों बच्चे हम सब इलाके के एक  
अनाथालय में जाते हैं। यहाँ मैं अनाथ बच्चों को भी छब्बे  
पा'जी से सुनी हुई कहानियाँ सुनाता हूँ और उन बच्चों को  
हँसता-खिलखिलाता हुआ पाता हूँ। मेरी सुनाई कहानियाँ  
सुनकर मेरे बच्चे भी खुलकर हँसते हैं। मैं उनकी वही  
निष्कपट और मासूम हँसी बचाए रखने की जद्दोजहद में  
जुटा हूँ। इस प्रयास में मेरी पत्नी और उनकी माँ सिमरन  
भी मेरे साथ है। जी हाँ, मैंने सिमरन से शादी कर ली।  
छब्बे पा'जी भी यही चाहते थे।

#### संपर्क :

ए-5001, गौड़ ग्रीन सिटी, वैभव खंड, इंदिरापुरम,  
गाज़ियाबाद-201014 (उ.प्र.), मो. 8512070086  
Email: sushant1968@gmail.com

## नहीं उठेगा जनाजा मेरा

### विद्या लाल

उसने 'अधिकार' के दरवाजे पर दस्तक दी थी।

शेखर! दरवाजा खोलते ही कल्याणी एक बार चौंक गयी थी। फिर एक तरफ होकर उसने उसे रास्ता दे दिया था। शेखर तो भौचक्का उसे देखता ही रह गया था। फिर अकचकाकर धीरे-धीरे चलता हुआ सीधे सोफे पर जाकर बैठ गया था। थोड़ी देर तक नीरवता फैली रही।

'हमारा बेटा....।'

'हमारा बेटा?'

'नहीं, मतलब आपका बेटा...'( वो हकला गया था। 'वो तो अब आप के .... साथ नहीं.... रहता न?'

'तो ?' कल्याणी ने सहज भाव से पूछ लिया था।

'मेरा मतलब... आपने शादी भी नहीं की और बेटा भी अलग....?'

'तो?' वहाँ न कोई अचरज था ना ही उद्वेग।

'मतलब, उम्र हो रही है... सबको एक दिन जाना होता है। आपने प्यार किया। बच्चे की माँ बनी। मैं कायर निकला... शादी नहीं की....छोड़कर चला गया। लेकिन प्यार करना, नौकरी करना... बच्चे को अकेले पालना... ये सब आप कर सकती थी पर अंतिम समय के लिए तो समाज के नियम हैं... मैं अपनी जिम्मेदारी निभाना चाहता हूँ। उसने रुक रुक कर सारी बातें कह दी हैं। अब उसके चेहरे पर इत्मीनान है। 'ओ... तो ये बात है। जिम्मेदारी निभाने आया है।

'मैं चाय लेकर आती हूँ।' कल्याण कमरे से बाहर चली गयी तो थोड़ा सहज हुआ। उसे लगा अब सब ठीक हो जायेगा। उसने सोफे की टेक लेकर सिर टिकाए और आँखें मूंद लीं। 62-63 की उम्र में भी निगाहों को थाम लेने में समर्थ इस चेहरे में 40 साल पहले उसके होश गुमा दिये थे और आज भी कल्याणी का कांतिमय चेहरा और गरिमा से भरे व्यक्तित्व का आकर्षण खींच रहा है। और मिताली ? 57 की है कल्याणी से पाँच-छह साल छोटी पर भरी पूरी गृहस्थी में रहकर, गाड़ी, बंगले, बच्चों के बीच होकर भी निस्तेज चेहरा। ओह! उसे अचानक ही फिल्म अदाकारा हेमामालिनी की याद आयी। उसने एक साक्षात्कार में पढ़ा था- मैं धरम जी की पत्नी बनी। वो अपनी पत्नी और बच्चों के साथ अपने घर में रहते रहे और मैं अलग अपने घर में। ये मेरी खुशनसीबी है मैं अलग रहकर अपने निर्णय ले सकी। अपने नृत्य

कार्यक्रम करती रही। अगर धरम जी के साथ रहती तो जो खुशगवार, खुदमुख्तार जिंदगी मैंने जी है, वो नहीं जी पाती। इतना खुश नहीं रह पाती। बेटियों के फिल्म में आने के निर्णय को धरम जी ने अस्वीकार कर दिया तो मैं अपनी बेटियों के साथ खड़ी रही। अपना निर्णय ले पायी। सच, कल्याणी के इस स्वस्थ-स्निग्ध चेहरे और अलग व्यक्तित्व का राज तो यही है। वो अपने निर्णय ले पायी। अपनी मर्जी से... तभी तो वो आज भी शांत, सहज और स्वाभाविक जिंदगी जी रही है और वो ? वो सोचता था, कल्याणी टूट गयी होगी। बिखर गयी होगी। बिन ब्याही माँ बनना आसान नहीं रहा होगा। उसने जिम्मेदारी लेने, शादी करने से साफ इन्कार कर दिया तो कल्याणी ने दो टूक कहा था- 'शेखर ! तुम्हें क्या करना है, तुम जानो। मेरा बच्चा दुनिया में आयेगा। मैं माँ हूँ, बस।' शेखर इतना तो जान चुका था कि कल्याणी औरों से अलग है। इतनी कम उम्र में भी उसकी समझ अलग थी। वह गलत बातों के खिलाफ थी। कोई लाग-लपेट नहीं। एकदम साफ समझ थी कल्याणी की। सबकी भले की पैरोकार ? वो भला अपने ही बच्चे से नाइंसाफी कैसे कर सकती थी। पर ये कितना मुश्किल था। बिन ब्याही माँ बनने का दंश किस तरह झेला कल्याणी ने ये देखने के लिए वो रुका ही कहाँ था ? उसके शहर में शेखर की कोचिंग खत्म हो चुकी थी। अब वो अपने शहर जाकर नौकरी के आवेदन दे सकता था। कल्याणी के लिए रुकता भी कैसे ? खूबसूरती कल्याणी पर खत्म तो नहीं होती थी और खूबसूरत चेहरा उसे आकर्षित कर लेता था। आज वो बदल गया है, ऐसा भी नहीं। उसके लिए माँ ने मिताली जैसी पत्नी तलाशी थी पर उसकी फितरत तो मर्दों वाली थी। मर्द। मर्द तो ऐसे होते हैं। आशिक मिजाज, फिदा तबियत। जहाँ देखी अच्छी सूरत... तभी हाँ, तभी तो शादी के बाद हँसती खिलखिलाती नॉक-झोंक, गिले-शिकवे करने वाली मिताली... दो साल में दो बच्चों और...वह गृहस्थी में रम गई। हाँ, रम गई ही तो दिखती थी। घर-बार, बच्चों की देखभाल कर नाते-रिश्तेदारी निभाती, व्रत-त्यौहार के नियम निभाती, हँसती बोलती ही दिखती रही पर जब शेखर को समझ आयी तो जाना उसके मर्दाना व्यवहार, मर्दाने नियम, ताने-उलाहने और अवहेलना से

बचने के लिए मिताली ने ये घरेलू आवरण ओढ़ लिये और इनके नीचे उसकी चमक गुमती चली गयी। वो काम करने वाली मशीन, हाउस वाइफ बन गई। ना शेखर को कभी किसी बात के लिए मना किया और ना फिदा रही। जब दुल्हन बन कर आयी तो सौ जान से फिदा थी।

हमेशा पास रहना, बातें करना। अलग रहना तो सख्त नापसंद था। चिपकू चिपकू, साथ-साथ, आस-पास जैसे 'फैविकोल' और वह झिड़क देता। कायदे से रहो, लैला-मजनू वाले नखरे मुझे पसंद नहीं। वे धीरे-धीरे उसके साँचे में ढलने लगी। फिर झिड़कियों की जरूरत ही न रही। उसे फरमाईशी परसी थाली, साफ-सलीकेदार, संवरा हुआ घर, बच्चों की पढ़ाई-लिखाई, जरूरतों से छुट्टी, नातेदारी में अपने घर की सुख-समृद्धि के चर्चे उसे गर्व से भर देते थे। मिताली को सलीके, बच्चों की कामयाबी, दफ्तर में होने वाली तरक्की, दोस्तों की महफिलें, उनके साथ रौनक बाजार में लगने वाले फेरे...सुख चैन...खुशियाँ...। फिर एक दिन हैरत से देखा मिताली उसी के घर में उसी के छत के नीचे, उसी के पास होकर कितनी दूर चली गयी थी। कब, कहाँ, कैसे क्या छूटा ? क्यों टूटा ? पूछा तो हँस के टाल दिया। मैं ठीक हूँ। सब कुछ तो है हमारे पास। क्या कमी है, भला ? क्या बताएँ ? और एक दिन दफ्तर में कल्याणी के शहर से...आया एक दोस्त राहुल जिसकी एक फाइल इन्फोकन उसके पास पड़ी थी और शेखर को कल्याणी की याद आ गयी।

'और बताओ राहुल, कल्याणी की क्या खबर है ?' शेखर से नहीं रहा गया था। सब कुछ जान लेने की चाहत में उसने पूछ लिया।

'कल्याणी ? अरे यार ! वो तो गजब थी। हमारे शहर में उसके जैसी हिम्मती और हरदिल अजीज फिर कोई दूसरी नहीं हुई। एक दिन सुना वह अपना बच्चा पाल रही है। अनब्याही माँ। माँ बाप भी क्या करते ? खुद मुख्तार तो कहते भी क्या ? शादी भी नहीं की फिर। बेटा तो अब बैंक में है, ग्वालियर में पोस्टिंग है उसकी। नौकरी हो गयी तो माँ से मुँह फेर। जरूरत ही नहीं रह गई। शादी भी वहीं अपनी मर्जी से कर ली। वह तो अब रिटायर भी हो गयी है।'... राहुल ने पूरी राम कहानी सुना दी थी।



‘शादी नहीं की!’ अच्छी भली तो थी दिखने में? फिर इतनी कम उम्र में सरकारी नौकरी भी हो गयी थी। कमी क्या थी?’ ऐसा कैसे? वह उलझ गया था।

‘दिमाग ही दूसरा पाया था!’ जिसे प्यार किया उसी से शादी भी करना चाहा होगा। उसका प्यार तो सच्चा था न? बच्चे को खोना नहीं चाहती होगी तभी तो माँ बनी वह लड़का तो झूठा था तभी तो दुम दबाकर भाग गया। कल्याणी का भरोसा ही नहीं रह गया होगा। तभी तो उसे दोबारा....’

‘पता तो चला होगा, कौन था वो?’ उसे सब्र करना मुश्किल था। उसने तुरंत पूछ लिया था। ये चीजें भला छिपती हैं? वो भी जब बच्चे का जन्म भी हो गया? वह अचम्भे में था। कल्याणी ने ये क्या किया?’

‘नहीं यार! कैसे पता चलता? उसे कभी किसी ने किसी के साथ देखा ही नहीं। किन्नी मतलब कल्याणी की तब भी एक थी और आज भी वो शुरु से शालीन और मर्यादित जो थी। उसने अपने आप को ऐसे संभाला जैसे कुछ अलग, कुछ अनचाहा हुआ ही नहीं। बिल्कुल उन लड़कियों की तरह जो शादी के कुछ महीनों बाद पति को ... देती हैं और माँ बनने के बाद खुद को और बच्चे को संभालती चाहे मायके में या फिर ससुराल में। ठीक उसी हिम्मत और जज्बा के साथ किन्नी ने जिंदगी को जिया पर एक फर्क तो था यार इस लड़की में! उसे किसी ने रोते, झींकते नहीं देखा। वो एक संस्था से जुड़ गयी। स्कूल, बच्चा और संस्था। इंसान व्यस्त हो तो समय का पता ही कब चलता है। उन्हीं दिनों मुहल्ले की एक लड़की को उसके ससुराल वालों ने दहेज की खातिर घर से निकाल दिया था जबकि लड़की रजनी उन दिनों गर्भ से थी। रजनी के घरवालों ने कल्याणी से बात की। मुश्किल घड़ी में ऐसी संस्थाएँ मददगार होती हैं न? धरना, प्रदर्शन, समझाइश से भरे जद्दोजहद के बावजूद आखिर रजनी की मुश्किल हल हो गयी। ससुराल वालों को संस्था के दबाव के चलते झुकना ही पड़ा। उन्होंने माफी मांग ली और रजनी को घर ले गये। मोहल्ले में इस तरह की ये पहली घटना थी। कल्याणी को मोहल्ले वालों ने सिर माथे पर ले....लिया। फिर तो वो उम्मीद का दूसरा नाम हो गयी। कोई भी समस्या होती मुहल्ले में किसी की हो, वो कल्याणी के

पास तुरंत पहुँचती और हल भी होती। सिलसिला शुरू हो गया। रजनी की किन्नी ‘दी’ अब पूरे मुहल्ले की थी और उसका बेटा आकाश बिन बाप का ताना भी भला अब कौन देता? पर माँ, नाना-नानी, मामा-मामी और पूरे मुहल्ले का प्यार और दुलार भी तो व्यर्थ ही था। धूर्त बाप का धूर्त बेटा। जैसे परछाई। जब तक जरूरत थी, जुड़ा रहा। गायब। किन्नी की जगह कोई दूसरी लड़की होती तो दुनिया में आ ही नहीं पाता नालायक...। अब तो उसकी अपनी संस्था ‘अधिकार’ हो गया। ठीक उसी के स्कूल के सामने वो पीली कोठी थी न, उसी में, लेकिन अंतिम समय में? उस समय किन्नी के पास कौन होता, माता-पिता तो रहे नहीं। भाई-भतीजे, शहरवाले ‘अधिकार’ के लोग, बस।’ एक गहरी सांस ली थी राहुल ने और कॉफी का प्याला परे सरका दिया था।

पराजित सा वो, बस राहुल को देखता रह गया था। लग गयी थी उसे। कॉफी के प्याले में भांप बची थी, न ताप।

‘तुम यकीन नहीं करोगे, रजनी के समय जो उठा था ‘किन्नी दी’, ‘किन्नी दी’। कल्याणी की ओर धमक-छमक.... आज एक मिसाल है। पर उस ‘कीन्नी दी’ की निगाहें क्या किसी की तलाश नहीं करेंगी? उस अंतिम पल में? वो जो एक दिन में गहरे उतरकर गुम हो गया? और वो जो अपनी ही जिस्म का हिस्सा...? खैर छोड़ तू अपनी बता? तेरे तो मजे ही मजे हैं। अफसरी ठाठ के चंदोवे तले...’ देर नहीं की थी शेखर ने। दूसरी कॉफी मंगवायी थी और राहुल की फाइल निबटा दी थी।

राहुल चला गया था। पीछे एक तूफान छोड़ गया था। बातें कानों में लावा उलेड़ती रहती। अंतिम समय में... ओह!

‘अरे! दुखी होने की कोई बात नहीं है। बहुत सरल रहती है किन्नी। उसे फुर्सत ही कहाँ दुखी होने की। स्कूल से अभी-अभी रिटायर हुई है पर उसे ‘अधिकार’ से रिटायर थोड़े न होना है। किन्नी दी का जाप करने वाले उसे थोड़े ही अकेला छोड़ने वाले। दूसरों की जरूरत बन जाने वालों को जो खुशी मिलती है, वो हमारे जैसों को कहाँ। कभी समय मिले तो जाकर देखना। कैसी बिंदास

जीती है अपनी रौ में व अपनी जिंदगी काट कितने लोगों को दी है उसने नई जिंदगी? उस कायर कपटी के शादी न करने और आकाश के मुँह मोड़ लेने के बाद भी वे अकेली नहीं।'

कितना सच कहा था राहुल ने और अगर उस दिन राहुल अपने काम से उसके दफ्तर नहीं आया होता? वो कैसे जान पाता कि जिंदगी ऐसे भी जी जाती है। किन्नी के साथ। वो तो बस हसीन चेहरों के पीछे... अचानक खटका हुआ था। उसने खोली तो देखा, सामने मेज पर प्याली में भाँप उठाती कॉफी थी और साइड में नमकीनों वाली प्लेट।

'आप नहीं लेंगी?' उसे, कितनी कोशिश करनी पड़ी थी। नहीं, मैं पी चुकी हूँ।

वो बस कल्याणी को देख रहा था। चुप किंकर्तव्यविमूढ़। उसके धोखा खाने के बाद भी आकाश से चोट खाकर भी उसका जीवन मिटा नहीं। अपने गति से चल रहा है। वो दूसरों के जीवन में उम्मीद जगा रही है। कितनों का सहारा है। उसे सहारे की जरूरत नहीं पर अंतिम समय में ...

'मैं अपनी जिम्मेदारी...'

'नहीं। जरूरत नहीं।' 'ये क्या.... कह रही है। ये तो जरूरी है.... रिवाज.... वह फिर हकला रहा है।' 'मेरा जनाजा नहीं उठेगा।' कुछ नहीं। किसी की जरूरत नहीं। शेखर अवाक् है। क्या बोले....क्या पूछे पर उसका पूरा वजूद सवाल बन चुका था।

'मैंने अपना शरीर मेडिकल कॉलेज को दान कर दिया है। वो देख लेंगे।'

वो धीरे-धीरे चलता हुआ खुले दरवाजे से बाहर चला आया है। कॉफी से उठती भाँप पीछे छूट गयी है और उसके साथ छूट गयी है कुछ अनकही बातें और अनजिए पल, दिन, महीने, साल..... इस शहर में अपना उसका कोई नहीं....कुछ नहीं। वह भाग रहा है तेज...तेज पर अकेला है। उसके साथ शोर करती पुराने गीत की पंक्तियाँ भी साथ-साथ उसी तेजी से दौड़ती चली आ रही है-

'नहीं उठेगा जनाजा मेरा  
नहीं इजाजत न देंगे कांधा...'

#### संपर्क :

अशोक नगर, रोड नं. 1, पटना-20

बांग्ला कविता

बांग्ला भाषा के अन्यतम विशिष्ट कवि-संपादक साठ के दशक से कविता यात्रा शुरू। 1978 में कविताओं का प्रथम संकलन 'मुक्तांचले वृष्टि' प्रकाशित सत्तर के दशक में 'अक्षर' पत्रिका का संपादन। बांग्ला की अनेक लघु पत्रिकाओं में कविताओं का प्रकाशन। ये कविताएँ उनके दूसरे काव्य संग्रह 'निर्वाचित कविता- सुनील कुमार' से महेश जायसवाल द्वारा अनूदित हैं।

कवि

अमूमन आसानी से  
नहीं मरता है कवि  
जीवन के उत्थान में, पतन में  
सतत् संघर्षरत  
वह देखता है बहुत  
सीखता है अनेक  
सत्यवादी वह  
हृदयपिंड बेहद दुरुस्त  
रक्तचाप स्वस्था स्वाभाविक

मुग्धता

इतनी धूप  
इतनी मरीचिका  
आकाश दिखाई ही नहीं देता  
इतना नीला! इतनी लहरें!  
तोड़ती तटरेखा  
समुद्र को पहचान ही नहीं पाता  
इतना रूप  
इतना अंधकार  
तुम्हें देखा ही नहीं जाता।

बेनेहशील

तुम्हारा ही संचित भंडार  
लूटकर ध्वस्त करती  
प्रतिदिन तुम्हारी संतति  
तनिक भी कृपणता  
नहीं तुममें फिर भी  
सौंप देते हो उन्हें ही  
फिर सारा संसार  
कितने स्नेहशील हो तुम!

तकनीक

कुछ भी नहीं है खोता  
सब कुछ अंकित होता  
बटन दबाओ  
सुनते जाओ  
अपना गला पुराना  
मीठा हँसना गाना  
बटन दबाओ  
गुम गई राजकुमारी सी  
छवि बन वापस आओ।

### वे हैं

मैं हूँ  
वे हैं  
वे थे  
मैं नहीं था  
मैं नहीं रहूँगा  
वे रहेंगे  
अर्थात् रहना न रहना एक जैसा  
फिर भी वे रहेंगे  
कि तुम हो  
तुम सब हो  
तुम सब रहोगे  
और प्रकारांतर से इसी तरह  
सिर्फ इसी प्रकार  
वे थे  
वे हैं  
वे रहेंगे।

### तुम्हारे पास

कुछ कहे बगैर  
सब कुछ कह दिया जाता है  
न देखकर कुछ भी  
तुम्हारा सब देख लिया जाता है  
कुछ दिये बगैर  
तुमसे सब पा लिया जाता है  
गुप्त नहीं रहता मेरा कुछ भी तुमसे  
फिर भी, जान नहीं पाता मैं कुछ भी तुम्हारा।

### अनजानी पृथ्वी

हूँ इस पृथ्वी पर  
छिहत्तर साल से  
बहुत देखा है  
अनथक घूमा हूँ  
अथाह सीखा है  
छूट गया है फिर भी  
बहुत कुछ जानना  
दुनिया को सचमुच  
पहचान नहीं पाया हूँ  
हे ईश्वर!  
कैसी अनजान जगह  
ले आए मुझे।

### विकल्प

नहीं बनती कविता  
इस तरह अब  
अनुपस्थिति सोच की शृंखला  
सब कुछ बिखरा धुंधला  
स्थान काल-पात्र संपर्कहीन  
अनगिन चेहरों की भीड़  
कहाँ से आ रही है  
जानता नहीं, पहचानता नहीं  
वे क्या  
मेरी कविता का विकल्प  
बन सकते हैं?

### संपर्क :

44/2 मौलाना अबुल कलाम आजाद रोड,  
हावड़ा- 711101, मो. 9836621014

## ‘पानी भीतर फूल’ : ‘अ-भाय’ में ‘भाय’ का दिव्य अंश

डॉ. मीरा सिन्हा

प्राक्तन अध्यक्ष, हिंदी विभाग  
सावित्री गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता

नयी सदी के कुछ महत्वपूर्ण उपन्यासों की कड़ी में उभरता है एकांत श्रीवास्तव का उपन्यास ‘पानी भीतर फूल’। इस उपन्यास में कथाकार ने ‘कुसुम पानी’ नामक गाँव का एक ‘लोकल’ चुना है जो भारत के छत्तीसगढ़ आँचल की स्थानिकता को संकेतित करता है। आज कला एवं संप्रेषण के क्षेत्र में दृश्यात्मकता की खासी जगह बन गई है। ‘विजुअलाइजेशन’ में कम्युनिकेट करने की क्षमता बढ़ जाती है। ‘पानी भीतर फूल’ की पृष्ठभूमि एक बड़े ‘कोलाज’ की तरह संयोजित की गई है— कवि-कथाकार एकांत जी का यह पहला उपन्यास है। कलात्मक शब्दचित्र इसके कलेवर में संतरण करते नजर आते हैं। उपन्यास की शुरुआत इस प्रोक्ति से होती है— ‘सूर्य पश्चिम में डूबकर भी नहीं डूबता था। वह दिये के तेल में गोता लगाकर छुप जाता था। फिर बाती की फुनगी में ज्योति फूल बनकर खिल उठता था।’ कथा का मुख्य पात्र नितार्ई एक शिक्षक है और श्यामली उसकी पत्नी एक समाज-परायण-स्नेहशील स्त्री। उनका जीवन बहुत ही नैसर्गिक, बहुत ही निश्चल है। वे मनुष्य की परंपरा में प्रकृति की निसर्गता के सहयोगी हैं। मिट्टू तोता उड़न-पक्षी होते हुए भी स्वेच्छा से स्वयं उनके पिंजड़े में रहना पसंद करता है। झब्बू कुत्ता गलियों-मुहल्लों में घुमक्कड़ी कर उनके ही आश्रय में पनाह लेता है। बत्तखें दिनभर जल में तैरती हैं, परंतु रात को उनके खोखे में विश्राम लेती हैं। श्यामा गाय अगर कहीं जंगल में भटक भी जाये तब भी शाम तक आकर उनके खूँटे से लग जाती है। इस दंपति को उनकी परवाह है और उन्हें भी इनकी। प्रकृति ‘प्रकृत’ रूप से पशु-पक्षी, वनस्पति और धरती सब में उसके स्वाभाविक सौंदर्य को भरती है। मनुष्य मात्र में मनुष्यता की रक्षा करती है, मनुष्य की मनुष्यता उसकी स्वाभाविकता में है। ‘कुसुम पानी’ गाँव का स्थानिक पुष्ट पर्यावरण का आदर्श उदाहरण है। पर्यावरण में जहाँ विष नहीं है वहाँ मानवीयता में भी पाशविकता नहीं है। कभी कदा झंझा झकोर उत्पन्न होती, कभी केवड़ा जैसी सुंदर कन्या को भी सर्प दंश से जीवन खोना पड़ता है, कभी मंगलू भटक जाता है तो कभी कुन्दा, कभी वैशाखू झंझाड़ में भटक जाता है तो कभी मितार्ई सरोवर में डूबते चले जाते हैं परंतु अन्ततः हर समस्या अपना समाधान पा लेती है। उपन्यास के कलेवर में कथाकार ने पात्रों एवं परिस्थितियों का ऐसा सुंदर संयोजन किया है कि सारी बातें बड़ी अच्छी तरह से कम्युनिकेट हो जाती हैं। आज जब सारी दुनियाँ का पर्यावरण अपनी नैसर्गिकता खो बैठा है, कृत्रिमता और कुटिलता जब सबसे भारी है ऐसे में प्रकृति के सहारे मनुष्य अपनी मनुष्यता के ‘प्रकृत’ रूप को न केवल बचा ही सकता है बल्कि उसे विकसित भी कर सकता है। परंतु निरंतर उपभोक्ता संस्कृति एवं बाजार के हमलों से

निरंतर विनष्टता के कगार पर धकेली जा रही है। मनुष्य भी प्रकृति से दूर होकर अपने जड़ों से विलग होता जा रहा है। उसके मनुष्यता की स्वाभाविक प्रवृत्ति नष्ट हो रही है। आतंक, हत्या, आत्महत्या, जोर-जुल्म, बलात्कार और नाइंसाफी के इस दौर में कहाँ है साहित्य का वह शांत शीतल छाँव जहाँ से जीवन का निर्मल स्रोत प्रवाहित हो सके ?

‘कुसुम पानी’ गाँव का समाज पारस्परिकता और आपसदारी के भाव से गुंथा हुआ है। एक गाँव एक अविभाजित परिवार की तरह है जिसमें एक का दुःख दूसरे सभी को उद्वेलित करता है, तो एक का सुख दूसरे सभी में आह्लाद भर देता है। कथानक के सभी पात्र मिताई, श्यामली, बैशाखू, मोगरा, रामबाई, दुकलहिन, सोरदहिन, मंगलू, कोंदा, महरीदाई, घेंचकटा आदि सभी एक दूसरे के सुख-दुःख के बराबर साझीदार हैं। उनका श्रम सम्मिलित श्रम है जो धरती को अवशोषित नहीं करता बल्कि संवारता है। वे साथ मिलकर फसलें बोते हैं, उगाते हैं। विद्यालय में बुनियादी शिक्षा दी जाती है— श्रम और सम्पत्ति का बराबर विनियोजन की बात सिखाई जाती है। गुरु और शिष्य सभी मिलकर सब्जी, फल और फूल पैदा करते हैं और उसका वितरण भी करते हैं। बाजार से बेचकर जो आय होती है वह शिक्षार्थियों के खर्च में शामिल होती है। उपन्यास का मुख्य पात्र मिताई गाँधी जी की युक्ति का उल्लेख छात्रों के सामने करते हैं और कहते हैं “गाँधी जी कहते थे कि पूँजी का रिश्ता यदि पसीने से नहीं होगा तो वह आदमखोर हो जाएगी। पैसे से पैसा बनाना किसी स्वस्थ और सभ्य समाज का आधार नहीं हो सकता। अनैतिक साधनों के सहारे ही कोई बहुत पैसे वाला हो सकता है। उनसे पहले ईसा मसीह ने भी ऐसा कहा था कि किसी अमीर का स्वर्ग में प्रवेश उतना ही असंभव है; जितना असंभव है सुई की छेद से ऊँट का निकलना। कुल मिलाकर यह कि पूँजी बने, पूँजी बढ़े और सब में बँट जाए। मनुष्य के पसीने और जनकल्याण से जुड़कर ही पूँजी अपने नैतिक और कल्याणकारी स्वरूप को प्राप्त कर सकती है।” (पृष्ठ-65)

‘कुसुम पानी’ गाँव की स्थानिकता में गाँधी के ग्राम

स्वराज्य की धारणा की झलक मिलती है। ऊँच-नीच, जाति-पाति, भेद-भाव से दूर सारे लोग एक ही धरातल पर जहाँ उदीयमान पूरब है खास-निखालिस आशाओं के अजोर से आपूरित एवं दीप्त।

गाँव के समाज में मेले का महत्त्व है— लोगों की खरीद-फरोख्त, मिलना-जुलना, आनंद-उत्सव सब एक साथ मेले से जुड़ा होता है। मेला एक बड़ा समागम है जहाँ विभिन्न तरह के लोग अपनी-अपनी तैयार की गयी चीजों की प्रस्तुति करते हैं। लोगों का हाट-बाजार भी हो जाता है, मनोरंजन भी और परिचितों, नाते-रिश्तेदारों से मेल-मिलाप और मुलाकात भी। उपन्यास के एक अंश में उल्लिखित है— ‘आदमी का प्रेम घर से बाहर निकलकर अड़ोस-पड़ोस में फैलता है तभी सामाजिक होता है। यही आत्म से अनात्म तक की यात्रा है।’ (पृष्ठ-40)

आलोच्य उपन्यास में मनुष्य और प्रकृति के अभिन्न संबंध को बहुत बारीकी से दर्शाया गया है, “प्रकृति मनुष्य को संस्कार देती है। उसके अंतःकरण में निराकार को आकार देती है, मनुष्य के क्रोध में बादलों की गर्जना सुनायी देती है और प्रेम में ‘पीपल पात सरिस मन’ डोलने लगता है। प्रकृति मनुष्य के मनोभावों को रंग और आकार देकर चित्रित करती है।” (पृष्ठ-65) आधुनिक सभ्यता प्रकृति एवं पर्यावरण का अवशोषण कर रही है। ऐसे में स्वार्थ में डूबा मनुष्य निरंतर अपने संवेदना का क्षय कर रहा है। तमाम विमर्शों से दीगर पर्यावरण आज एक बड़ा विमर्श बनकर खड़ा हो गया है। उपन्यास उस अनोखे पर्यावरण की हिमायत करता है जिसमें मनुष्य समाज सुरक्षित हो सके। उपन्यास का एक अंश द्रष्टव्य है— “इन्हें (प्रकृति) को देखने के लिए एक दूसरी दृष्टि चाहिए, सुनने के लिए दूसरे कान, जो दृष्टि सोने की चमक से चुंधियाई हुई हो, जिन कानों में केवल अशर्फियों की खनकार भरी हो— उनके लिए ये आवाजें व्यर्थ हैं। इन आवाजों का इनके लिए कोई महत्त्व नहीं है। लेकिन आदमी के पास यदि निझाँव (खाली वक्त) न हो तब भी ये आवाजें अनसुनी रह जाती हैं। हम जब बहती हुई नदी के बीच में होते हैं तब हमारे भीतर भी एक सोता फूटकर बहने लगता है— कितने कलुष धुलकर बह जाते हैं; कितने पाप। बिन पानी, बिन

साबुन कबीर के निर्मल होने का अर्थ शायद यही है। नदी जगत के धूल को बहाकर ले जाती है जिसकी एक परत हमारे अंतस में भी जम गयी है। प्रकृति इस तरह हमें निर्मल करती है।” (पृष्ठ-92)

‘पानी भीतर फूल’ उपन्यास में एक ऐसे जीवन दर्शन की प्रतिस्थापना की गयी है जो व्यक्ति और समाज दोनों को एक सूत्रित करता है। व्यक्ति व्यक्ति से जुड़ता है और समाज बनता है। वह समाज के लिए होता है और समाज उसके लिए। रात्रि के निविड़ अंधकार में कौंदा चरवाहा गाय की तलाश करते हुए रास्ता भटक जाता है लेकिन समाज के लोग उसे खोजने जाते हैं। ‘मिताई की टोली ने सर्वाधिक जोखिम उठाकर डोंगरी पर चढ़ने का फैसला किया था, अंधेरे में पहाड़ी पर चढ़ने में कंटीली झाड़ियों और चुभीली पत्तियों से उनके हाथ-पाँवों में खरोंचे आ गयी थी। झाड़ियों में सोये परिन्दें घबराकर उड़ने लगते थे। लालटेन का उजाला था जरूर लेकिन जंगल पहाड़ के अंधकार की तुलना में मद्धिम और मटमैला था। एक उजाला आत्मविश्वास होता था और दूसरा सबके साथ होने का उजाला था। ऐसे विकट, कठिन और सर्पगंधा अंधेरों में आदमी इसी उजाले के बल पर आगे बढ़ता जाता था। कंदील का उजाला, तो निमित्त मात्र था। वास्तविक उजाला तो ऐसे समय में आत्मा के गह्वरों से फूटने लगता था। इतने उजाले में रास्ते खुद ब खुद आदमी के पाँव तले बिछ जाते थे। साहस का उजाला सबसे बड़ा उजाला था; समूह और समाज का उजाला उससे भी बड़ा था- आकाश गंगा का आलोक भी इसके आगे फीका पड़ जाता था।” (पृष्ठ-129)

गाँव का समाज प्रेम और सौहार्द के धरातल पर खड़ा था। कुसुम पानी गाँव के दैनन्दिन का संदर्भ इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि “वह, थोड़े में निर्वाह के संतोष की मिट्टी थी जिससे गाँव बने थे- और अधिक की कामना ने नगरों को जन्म दिया था। यहाँ थोड़ा भी अधिक था और वहाँ अधिक भी कम था। जिंदगी यहाँ बिल्कुल अलग थी और वहाँ बिल्कुल अलग। इन दो जिन्दगियों के बीच जो पुल था- वह प्रत्येक समय-काल के तेज झंझावात में काँपता रहता था। (पृष्ठ-146)

घेंचकटा उर्फ मोहन का जीवन प्रसंग भी संवेदना एवं प्रेरणा के पानी से सिंचित है। जीवन से उपराम होकर मोहन प्रेम की वंशी बजाता दर-दर भटकता रहता है। परंतु जैसे ही रामबाई के प्रति उसका प्लेटोनिक प्यार विश्वास पाता है वह पुनः जी उठता है। दूसरी तरफ मरही दाई का मातृत्व उसे अपने स्नेह की छांव में जीवन का रतन आयाम देता है। रामबाई और मोहन का भावनात्मक एवं उदात्त प्रेम ‘उसने कहा था’ की याद दिलाता है। कुसुम पानी के गाँव समाज ने ‘मोहन के मन के अ-भाव को भावपूर्ण कर दिया था।’ ‘धरती उसके तलुओं में ऐसे महसूस हो रही थी जैसे वह कोई नवजात शिशु हो जिसने अभी-अभी नया जन्म लिया हो और इस संसार में आया हो। हवा उसकी देह को एक नया संस्पर्श प्रदान कर जाती थी। धूप उसके मन-प्राण को मांगलिक कर जाती थी। अब नई आँखों से वह अपने जीवन को और संसार को देख रहा था। वह सोचता था कि ये नई आँखें अब तक कहाँ थीं।... और इधर मरही दाई का जीवन तो जैसे फूल भरे गाछ में बदल गया था। जीवन साथ रहने का वसंत था और साथ के छूट जाने का पतझड़ भी। साथ की कामना से घर बनते थे और घरों से समाज और संसार। वसुधैव कुटुम्बकम् क्या यही नहीं था?’ (पृष्ठ-156)

हिंदी उपन्यास लेखन की परंपरा में ‘पानी भीतर फूल’ एक नये अर्थ में इतिहास को दुहरा रहा है। प्रेमचंद यथार्थ को आदर्श की ओर उन्मुख कर रहे थे। एकांत आदर्श को यथार्थ की ओर उन्मुख कर रहे हैं। कुल जमा कल का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद आज यथार्थोन्मुख आदर्श की चेष्टा है। हिंदुस्तान के समाज का ‘स्वराज’ आज भी सपनों में खोया है जिसे यथार्थ की वास्तविकता में रूपायित होना है। यशपाल का ‘झूठा-सच’ इस उपन्यास में सच्चा झूठ बनकर उभरता है “जिंदगी सच की उजली चादर थी। इस पर झूठ के दाग-धब्बे बहुत कम थे। श्यामली को चिंता और परेशानी से बचाने का दूसरा कोई उपाय भी मिताई के पास नहीं था। ऐसा सच जिससे किसी का मन दुखे झूठ से बदतर था और ऐसा झूठ जिससे किसी का मन दुखने से बच जाये; सच से महान था।” (पृष्ठ-179) कथाकार का किस्सागो मेले में गन्ना के रस वाले की ईमानदार

व्यवसायिकता पर भरपूर विश्वास करता है 'रस तो अच्छा था ही; रसवाला भी अच्छा था। मिताई ने सोचा संसार में बुरे लोग कम ही हैं। सभी रस वाले की तरह अच्छे हैं। सब लोग रसवालों की तरह कुछ अच्छा करना चाहते हैं लेकिन जब अनुमति नहीं देती। लेकिन अच्छा करने की सोचना भी कम बड़ी बात है। संस्कृति तो विचार ही है, जब वह व्यवहार में आती है, तब सभ्यता में बदलती है। कुछ अच्छा करने की सोचना यदि विचार तक आ जाता है तो कभी-न-कभी कर्म तक भी आ जाता है और विचार की संस्कृति कर्म की सभ्यता में बदल जाती है।' (पृष्ठ-26) कर्म की सभ्यता का आदर्श इस इबारत में निहित है "बूंद-बूंद पसीना टपकता और पूँजी में बदल जाता। ऐसी पूँजी देर तक और दूर तक आदमी का साथ देती। इस पूँजी से किसी खून की गंध नहीं आती। इसकी खनक में कोई हाहाकार छुपा नहीं होता।" (पृष्ठ-64) हिंदी उपन्यास लेखन की परंपरा में प्रेमचंद और यशपाल के सशक्त हस्ताक्षर रेणु जी हैं। उनका 'मैला आंचल' भारतीय गाँव समाज का चित्र उकेरता है। आजाद भारत की गोद में पल रहा भ्रष्टाचार का दैत्य बावनदास को कुचल देता है। एक सपना घायल होता है और भीष्म साहनी का तमस गहराता चला जाता है। नवीं सदी में आकर यथार्थ जादुई रंग ले लेता है 'आदर्श' वह लाल खोखम का फूल है जो यथार्थ के पारदर्शी पानी के भीतर यथार्थ में स्वप्न की तरह खिल रहा है। वह सच कुछ समय का झूठ है लेकिन लंबे समय के सत्य को समेटे हुए है। उस आदर्श को यथार्थ में बदलना होगा। तथ्य से सत्य की यात्रा की ओर निकलना होगा।

उपन्यास की भाषा सुंदर साज से सजी-धजी है। कथाकार तमाम तरह की उक्तियों एवं प्रोक्तियों के माध्यम से 'एलिगोराइज' करते हैं, उपन्यास जैसे प्रबंधात्मक विधा में कथाकार काव्यात्मक लालित्य का समावेश करते हैं। शब्दों एवं बिम्बों का संयोजन मनहर है जैसे- "तारों भरा

झिलमिल आकाश स्वयं लग्न मण्डप था। जानकी जी दुल्हन और राम जी दुल्हा बनकर बैठे थे।... थोड़ी देर के लिए जैसे उस अंधेरी कोठरी में 108 दिये झिलमिलाने लगे। दियों के सोनल लौ में पूरा घर सुनहरा हो गया। जैसे दो नदियों का संगम होता है। भीतर और बाहर का उजाला मिलकर एक हो गया।" (पृष्ठ 8-9) एक और शब्द चित्र द्रष्टव्य है- "बेर पक गये थे- पीले, लाल की आँख में। और हृदय प्रेम में पक गया था। घड़ा आँखों में पक गया था; सपना नींद में। फिर भी जीवन यहाँ-वहाँ कितना हरा था; कितना कच्चा!" (पृष्ठ-162) या आकाशगंगा की बेलें धरती तक लटकी थीं। उन्हीं बेलों से झूला बंधा था। झूले में जगह-जगह तारों के फूल टँके थे। पवन इस झूले को धीरे-धीरे झुलाता था। (पृष्ठ-166)

सम्पूर्ण उपन्यास की प्रतीकात्मकता लेखक की इस युक्ति में निहित है। जगत के कुज में झुरमुटों के बीच मनुष्य का हृदय एक कुण्ड था- कुण्ड में पानी था- मीठा और पारदर्शी- और पानी भीतर एक फूल था - जिसे सब नहीं देख पाते थे-लेकिन इसके सुवास से जीवन का पूरा अरण्य महकता था।" (पृष्ठ-172)

कथाकार की जीवन-दृष्टि अनेक प्रोक्तियों एवं अन्योक्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। यह उपन्यास अन्तर्पाठीय शैली में लिखी गई है। इसका सम्पूर्ण टेक्स्ट अथवा पाठ अन्तर्पाठ की अन्ततः सम्मभावनाओं को समेटे हुए है। कृति पठनीय तो है ही हिंदी उपन्यास लेखन की परंपरा में दृष्टि विश्लेषण की एक नई धारा को आमंत्रित करती है। अतः स्वागत योग्य है।

**समीक्ष्य पुस्तक :** पानी भीतर फूल

**लेखक :** एकांत श्रीवास्तव

**समीक्षक :** डॉ. मीरा सिन्हा

**प्रकाशक :** वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण- 1913

**मूल्य :** 300/- रुपये मात्र

**संपर्क :**

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन, सलकिया,  
हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल, फोन 0332675 7195/1686



## आदमी की तलाश का अफ़साना 'मेनलैंड का आदमी'

डॉ. गोरेलाल चंदेल

समकालीन साहित्य में यात्रा संस्मरण एक विधा के रूप में अपना स्थान बना रहा है, या यों कहें कि बना लिया है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस दौर की लघु पत्रिकाएँ इसे स्थापित करने की पुरजोर कोशिश कर रही हैं। किसी भी लघु पत्रिका का अंक देख लीजिए एक न एक यात्रा संस्मरण तो मिल ही जायेगा। साहित्य की अन्य विधाओं की तरह इसमें भी एक मुकम्मल साहित्य का रूप भी है और स्थान विशेष का चित्रण भी है। विवरण को साहित्य के बजाय रिपोर्टाज ही कहा जा सकता है। यात्रा संस्मरण के नाम पर लिखे जाने वाले साहित्य में विवरण की अधिकता ही दिखाई देती है। बहुत कम यात्रा संस्मरण हैं जो साहित्य की शर्तों का पालन करते हुए यात्रा के संस्मरण को सृजनात्मक लेख की ऊँचाई देने का प्रयास करते हुए दिखाई देते हैं, एक सार्थक साहित्य की रचना करने में सफल हो पाते हैं। इसके लिए यात्रा संस्मरण के लेखक के पास पैनी दृष्टि होना जरूरी है। हमारे चिंतक कह चुके हैं कि दृष्टि विचार से बनती है। जिसकी दृष्टि जितनी वैचारिक वैज्ञानिकता से जुड़ी होगी वह उतनी ही अधिक गहराई से स्थान विशेष की नब्ब को पकड़ने में सफल होती है। स्थान विशेष की भौगोलिकता के साथ ही साथ सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं को पकड़ने में कामयाब होती है और उस स्थान की धड़कन की एक गति को अपने संस्मरण का हिस्सा बनाने में सफल होती है। ऐसा संस्मरण मात्र विवरण न होकर एक मुकम्मल रचना होता है और उसमें पाठक को रचना का रस पिलाने लगता है, रस अभिव्यक्ति की बाहरी धारा में डुबकी लगाने का अवकाश मिलता है।

मेरे हाथ में विनोद साव का यात्रावृत्त 'मेनलैंड का आदमी' है। जिसमें बारह यात्रा संस्मरण संग्रहीत हैं। यह यात्रा का संस्मरण मात्र नहीं है वरन रचनाकार का एक सृजन है, जिसमें कहीं कहानी का तेवर दिखाई देता है तो कहीं कविता का। कहीं भूगोल दिखाई देता है कहीं समाजशास्त्र, कहीं अर्थशास्त्र दिखाई देता है तो कहीं धर्मशास्त्र। कहीं संस्कृतिशास्त्र है तो कहीं मनोविज्ञान। स्थानीयता का प्रेम लहराता हुआ दिखाई देता है तो सड़क में वर्ग विभाजित समाज का चरित्र भी दिखाई देता है। रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, भाषा-बोली, सब कुछ अपनी स्वाभाविकता के साथ जुड़कर, रचना की ज़मीन तैयार कर उस यात्रा संस्मरण को रचनात्मक जमीन पर खड़ा कर देता है। यह सही है कि विनोद साव प्रकृति के चित्र उकेरते समय अपनी काव्यात्मकता को भावुकता के हद तक ले जाते हैं और कई स्थानों पर इन भावों की आवृत्ति भी दिखाई देती है किंतु जब स्थानीय सामाजिक जीवन को उकेरते हैं तब यथार्थ की ठोस ज़मीन पर खड़ा होकर स्थान विशेष की जिंदगी के सच का चित्र खींचने में सफल दिखाई देते हैं, और स्थान विशेष का समाज अपने तमाम विसंगतियों और अंतर्विरोधों के साथ खड़ा हुआ दिखाई देता है।

विनोद साव अपनी यात्रा के दौरान बहुत छोटी और बेमानी सी चीजों को भी पकड़ने की कोशिश करते हैं। उनकी पकड़ इतनी मजबूत होती है कि वह अपने अतीत और वर्तमान का बयां किये बिना छूट नहीं सकती चाहे वह उदयपुर का सीटी महल हो या पिछौला झील हो। नेहरू उद्यान हो या हनुमान मंदिर का छप्पन भोग हो। अंदमान का जेल हो या पोर्टब्लेयर की कहानी हो या अंदमान के निवासियों का इतिहास हो। केरल के प्रतिष्ठित चर्च हों या फिर वहां का खान-पान हो, मथुरा का द्वारकाधीश का मंदिर हो या उसकी बगल में बनी शाही मस्जिद हो। विश्राम घाट का काला सांड हो या फिर कंस का कारागर हो, या फिर बिना

श्रोताओं के प्रवचन करते पंडितजी हों। मेनपाट का पत्थर हो या खंडहर होने की कगार पर खड़ा अंबिकापुर किले का दरवाजा हो। या रामगढ़ की नाट्यशाला या दौहद तालाबों वाला गाँव और उसके मेले में सूपा-टोकरी का सामाजिक स्थान। बर्दवान का इतिहास हो या दिल्ली की महानगरीय संस्कृति। मुंबई की मानक संस्कृति हो या पुणे-खंडाला की जीवन पद्धति। सब कुछ को पकड़ने की कोशिश में वे किसी एक स्थान पर ठहर नहीं पाते हैं। सब कुछ को जल्दी-जल्दी देख लेने की ललक इसलिए वे सामाजिक दृष्टि को पकड़ने की वैचारिक भूल-भुलैया में प्रवेश करने के पचड़े से दूर ही रहना चाहते हैं।

‘मेनलैंड का आदमी’ स्थानीय इतिहास की जानकारी देकर पाठक के इतिहास ज्ञान में इजाफा करता है। किस महल को किसने बनाया, उसका शिलान्यास किसने किया, किसने स्थानीय मूल निवासियों के साथ विश्वासघात किया, मेनलैंड से दूर रहने की कौन सी विवशता थी, धार्मिक स्थानों का इतिहास और समाजशास्त्र क्या होता है और उस समाजशास्त्र की रचना में कितनी भूमिका होती है इन सबको खंगालने का विनोद का प्रयास एक रचनाकार का रचनात्मक प्रयास ही कहा जा सकता है। इसके लिए वह स्थानीय स्तर पर प्रचलित कथाओं को अपने इतिहास बोध की कसौटी पर कसते हुए इतिहास की सच्चाई तक पहुँचने की कोशिश करते हैं। वैसे ही सांस्कृतिक यथार्थ को भी इतिहास और परंपरा की रौशनी में देखने के उनके प्रयास को सृजनकर्म का प्रयास ही माना जा सकता है। स्थानीय कथाओं में कहीं सामंतवाद का प्रभाव दिखता है तो कहीं कर्मवाद का। कहीं परंपरा का प्रभाव है तो कहीं अंग्रेजियत का। उन सबको सामने रखकर विनोद साव सामाजिक यथार्थ तक पहुँचने का रास्ता तैयार करते हैं। विनोद साव इस रास्ते पर कितनी दूर तक चले? यह प्रश्न गौण है। मुख्य यह है कि हम उस रास्ते पर चलकर उस सामाजिक यथार्थ तक पहुँचते हैं अथवा नहीं? हमारी कोशिश उस यथार्थ तक पहुँचने की होनी चाहिए।

संग्रह का ‘ब्लर्ब’ लिखते समय ललित सुरजन ने ‘टूरिस्ट’ और ‘सैलानी’ को अलग अलग नजरिए से देखा है और विनोद साव को सही अर्थों में ‘सैलानी’ माना है।

यात्रा-संस्मरणों में इन दोनों शब्दों की बड़ी भूमिका है। टूरिस्ट जहाँ दूर खड़े होकर स्थान विशेष को देखता है वहीं सैलानी स्थानीय जिंदगी के साथ जुड़कर सब कुछ देखता है। टूरिस्ट की नजर स्थान विशेष पर, टूरिस्ट प्लेस की ओर होती है। ऐतिहासिक और धार्मिक महत्त्व के स्थानों पर प्रभावी दृष्टि टिकी होती है जबकि सैलानी स्थानीय जिंदगी को, स्थानीय संस्कृति और खान-पान, पहनावे और वेशभूषा को, बाजार और हाट को, रिक्शा और ऑटो को, सबको देखता है और उसके भीतर जिंदगी की तलाश करता है। जिंदगी की धड़कन को सुनने का प्रयास करता है। विनोद साव की सैलानी आँखें ‘मेनलैंड का आदमी’ में टैक्सी ड्राइवर के मेनलैंड से दूर होने की पीड़ा को देखता है तो वर्तमान के रिक्शे में बैठकर रिक्शा वालों के साथ समाज के मधुर और सम्मानजनक व्यवहार से अभिभूत भी होता है- ‘रिक्शेवाले से सब कोई प्रेम से बात करते हैं। आखिर यह मजदूर हितों का देश है, मैं भी इसे सलाम करता हूँ।’ (शस्यश्यामला धरती, पृ. 53) वह शीताभोग मिठाई की विशेषता को भी जानने की कोशिश करता है। और दिल्ली में दलितों की जुलूस को भी देखते हैं। ‘ईश्वर का निजी देश’ में लूंगी पहने लोगों को देखते हैं और मछुवारों की मशक्कत भी देखते हैं। मुंबई के मुंबा देवी में भी रमते हैं और सिद्ध विनायक की भीड़ पर भी नज़र फेरते हैं। पुणे में दुपहिया ट्रैफिक का भी आनंद उठाते हैं और केसरीवाडा के दरवाजे का भी नाप-जोख करते हैं। ये सब सैलानी की आँखें ही देख सकती हैं। टूरिस्ट की आँखें वहाँ तक पहुँच नहीं पाती। टूरिस्ट के बेगानेपन से हटकर विनोद सैलानी के अपनेपन में डूबकर यात्रा संस्मरण को रचना के खांचे में डालते हुए दिखाई देते हैं।

विनोद जहाँ जाते हैं रचनात्मक विषय की ओर आकर्षित होते हैं। रचनाकार की तरह उन विषयों का विश्लेषण करते हैं। वे रचनाकारों से भी मिलते हैं। दिल्ली जाते हैं तब राजेंद्र यादव से मिलने जाते हैं। विनोद एक स्थापित व्यंग्यकार हैं वे एक व्यंग्यकार की नज़र से भी देखते हैं। राजेंद्र यादव की एक-एक गति को देखते हैं। उनके हाव-भाव और मेल जोल के तरीके को बेबाकी से पकड़ने की कोशिश करते हैं। संजीव से मिलते हैं तो उनकी अर्थराइटिस

की पीड़ा को जानकर पूरी संवेदना से मिलते हैं। प्रेम जनमेजय से जब मिलते हैं तब एक व्यंग्यकार को दूसरे व्यंग्यकार से जैसे मिलना चाहिए वैसे मिलते हैं। वे दोनों समकालीन व्यंग्य साहित्य पर चिन्ता करते हैं और जब उदयप्रकाश से मिलते हैं तो एक लेखक की अस्त-व्यस्त जिंदगी के बिखरे-फैले निवास उनसे छुप नहीं पाते। केसरीवाडा जाते हैं तो तिलक द्वारा संपादित समाचार पत्र 'केसरी' के पहले अंक की छाया प्रति प्राप्त करने को अपनी यात्रा की उपलब्धि बनाते हैं। मुंबई जाते हैं तो शरद जोशी को याद करते हैं। बनारस जाते हैं तो वहां के गली-कूचों में भारतेन्दु हरिश्चंद का घर तलाश लेते हैं। काशीनाथ सिंह से बतियाते हैं तो उनकी अक्खड़ शैली को रेखांकित करते हैं। विनोद के इस बेबाकीपन ने 'मेनलैंड के आदमी' को अधिक रोचक रचना में रूपांतरित कर दिया है।

'मेनलैंड का आदमी' मेनलैंड में रहने वाले और मेनलैंड से वंचित, दोनों तरह के आदमी को देखते और उनके भीतर के आदमीपन की तलाश करते हैं। मेनलैंड के आदमी में एक एक चेहरे को, मेनलैंड के केनवास पर उकेरने की कोशिश करते हैं। उसमें यथार्थ का ऐसा रंग भरते हैं कि वह चेहरा अपनी पूरी विशेषताओं के साथ खुलने लगता है। बदरंग चेहरों में रंग संयोजन उनके अनुरूप होता है। मथुरा में बच्चे को कंधे पर बैठाकर भीख मांगते सफेदपोश, या श्रोताविहीन सभागारों में केवल टी.वी. पर अपना प्रचार करवाने के लिए प्रवचन देते पंडित, उदयपुर में निश्कतजनों के चिकित्सालय प्रांगण में बने बजरंगबली के मंदिर में बेकरी आईटम के छप्पन भोग को संजोते भक्तजन, सिद्धिविनायक एवं मुम्बादेवी के भक्तों-पुजारियों के चेहरे को अपने शब्दों के रंगों से सजाने संवारने में विनोद पूरी ईमानदारी बरतते हैं। ये अलग बात है कि मंदिरों, महलों, विश्वविद्यालयों और अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों में इतिहास का रंग तलाशते हुए वे अतीत की सैर कर लेते हैं पर सामाजिक विसंगतियों और धार्मिक आडम्बरों को उनकी ऐतिहासिक परतों को खोलने की दिशा में कदम नहीं बढ़ाते। उनके चरित्र को तो रंगते हैं पर इनकी परंपरा की परतों को वे नहीं खोलते। शायद विस्तार भय से वे ऐसा नहीं कर पाते हैं।

भूमंडलीकरण और वैश्वीकरण के दौर में बहुत तेजी से सांस्कृतिक परिवर्तन शुरू हो जाता है। सांस्कृतिक अधिरचनाएँ महानगरीय जीवन का अंग बनता जा रहा है। परिणाम स्वरूप महानगरीय जीवन में, खासकर महानगर के मध्य-वर्गीय जीवन के युवा वर्ग में यह परिवर्तन बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा है। उम्र-दराज लोग एक ओर इस परिवर्तन से परेशान हैं तो दूसरी ओर नव-जवान पीढ़ी इस परिवर्तन को अपनाने में अंधी दौड़ लगा रही है। विनोद साव अपनी यात्रा के दौरान महानगर के इस परिवर्तन को न केवल मूकदर्शक बनकर देखते हैं वरन इस सांस्कृतिक द्वंद्व को पकड़ने की कोशिश भी करते हैं। दोनों संस्कृति की अधिरचनाओं को पकड़कर सांस्कृतिक संघर्ष का ऐसा चित्र बनाते हैं जिसमें द्वंद्व उभरकर सांस्कृतिक विघटन के प्रति चिन्ता भी जाहिर कर लेते हैं। एर्नाकुलम के जोसेफ के इस कथन में महानगरीय सभ्यता का सच खुल जाता है 'लेकिन अब सोचता हूँ कि यहाँ का मकान बेचकर यहीं पास में अपने गांव चला जाऊँ। शहर बड़ा है लेकिन यहाँ अपना कहने को कोई नहीं! गाँव छोटा है लेकिन सारे अपने लोग हैं। जिंदगी का आखिरी वक्त कम से कम गांव में कटे' (ईश्वर का निजी देश, पृ. 13) जोसेफ की पत्नी की भी यही शिकायत है कि 'प्रभु की प्रार्थना के भरोसे चल रहे हैं यहाँ। बड़ा शहर घूमने के लिए तो ठीक है, मरने के लिए अपना गांव ही सही।' वैश्वीकरण का सारा संकट इन वाक्यों में खोल देते हैं मेनलैंड के लेखक। यह परिवर्तन शहर से चलकर गांव की ओर जाने लगा है। विनोद इसके एक एक डग को पहचानने में लगे हैं। जिस तालाब ने लोगों को हँसना सिखाया अब उसका वजूद ही खतरे में पड़ गया है- 'अब तो गांव में ही हर घर में नहानी बन गई है, तालाब कोई जाता नहीं है। तालाब के पानी सड़ रहे हैं (तालाबों ने उन्हें हँसना सिखाया, पृ. 37) पर नई पीढ़ी को बदलता हुआ गांव भी रास नहीं आता। वह तो शहरी चकाचौंध का दीवाना है- 'कॉलेज की छुट्टियों पर न जीजा जी... गांव आना पड़ता है पर यहाँ मन नहीं लगता, रायपुर में दोस्तों के साथ घूमने और मद्रासी होटल में चिकन खाने का मज़ा ही कुछ और है।' (पृ. 37) अब गांव में चरवाहा भी जींस पहनने लगा है। बर्दवान में अंग्रेजी और भारतीय

संस्कृति को एक साथ रिकशे पर सवार देखने से लेखक नहीं चूकते। पुणे में जींस-टाप को अब लड़कियों के आम फैशन के रूप में देखते हैं। सैलानी नयी पीढ़ी की मौज मस्ती में वैश्विक संस्कृति के चरित्र की तलाश करते हैं। इसे विनोद की गहरी दृष्टि ही कही जा सकती है कि भूमंडलीकरण के दबाव को अपने गांव-शहर और कस्बों में भी देख पाते हैं। यह सामान्य टूरिस्ट के लिए संभव नहीं है।

विनोद साव, अपनी यात्रा में जहां भी जाते हैं उस स्थान को संपूर्णता में देखते हैं। स्थान के प्राकृतिक परिवेश का कहीं चित्र बनाते हैं, कहीं वहां के सामाजिक परिवेश में रंग भरते हैं। कहीं उस स्थान की गलियों-सड़कों की रेखाएं खींचते हैं तो साथ ही, वहां की यातायात पर बुश चलाने लगते हैं। वहां का खान-पान उन्हें आकर्षित करता है तो रिकशावाले, ऑटो वाले या टेक्सी वाले को जीवंत बनाने का प्रयास करते हैं। बाजार की भीड़ के चेहरे को पढ़ते हैं तो धार्मिक स्थलों के अंतर्विरोध और विसंगतियों को उकेरने लगते हैं। वहां के निवासियों के आदत स्वाभाव और रहन-सहन को बारीकी से पकड़ते हैं तो साथ ही वहां के इतिहास भूगोल को भी साकार करते हैं। याने कि विनोद स्थान विशेष को अपनी समग्रता के साथ जीवंत बना देते हैं। इतना जीवंत कि उस स्थान को एक साथ उठते विचरते हुए देखा जा सकता है। छोटे-छोटे टुकड़ों को इस तरह काट छांट कर अपने संस्मरण में जोड़ते हैं कि वह एक खूबसूरत कोलाज में तब्दील हो जाता है जो अलग रूप रंग और आकार-प्रकार के बावजूद एक बड़े कोलाज का अभिन्न अंग बन जाता है। जिसकी कई धड़कनें एक साथ सुनाई देने लगती हैं और कई धड़कनें एक साथ मिलकर एक धड़कन में तब्दील हो जाती हैं। इसे विनोद साव के यात्रा संस्मरण लेखन की खासियत मानी जा सकती है।

विनोद साव के यात्रा संस्मरण की भाषा यात्रा की नीरसता, ऊबाऊपन और बेजान विवरण को सरस और जीवंत बना देती है और पाठक को भी पूरी आत्मीयता से जोड़ देती है। विनोद के विचार कहीं भी वैचारिक जड़ता के शिकार नहीं होते वरन् ये स्थानीयता के हिस्से बन जाते

हैं। भाषा में ऐसा प्रवाह है कि पाठक भी उसमें डुबकी लगाते हुए बहने लगते हैं। स्थान विशेष की बोली या भाषा को पकड़ कर वे उस स्थान की भाषायी संस्कृति के साथ जुड़ जाते हैं। चाहे वह मथुरा की खड़ी बोली और ब्रज का संगम हो या दिल्ली का ठेठपन। उदयपुर की राजस्थानी हिंदी हो गांव की छत्तीसगढ़ी। बर्दवान की बंगाली हिंदी हो या मुंबई की मुम्बैया हिंदी। या फिर पुणे, सह्याद्री, की या बनारस की हिंदी सबका अलग रूप होते हुए भी जीवन को साकार करने वाली भाषा। यात्रा के दौरान ट्रेन के लोगों की भाषा तो आपको रेल यात्रा के कल्चर से रूबरू करवा ही देती है। कुल मिलाकर विनोद की भाषा चित्र बनाने में पूरी तरह सक्षम दिखाई देती है। उनके संस्मरण खुद-ब-खुद शब्द चित्र बन जाते हैं।

मेनलैंड का आदमी मेनलैंड से बेदखल पीढ़ियां उन जांबाजों की कहानी कहती है जिन्होंने ब्रिटिश हुकूमत के सामने विरोध का परचम लहराते हुए संघर्ष किया था। मेनलैंड में भी स्थान-स्थान पर अपनी परिस्थितियों के साथ संघर्ष करते हुए लोग दिखायी देते हैं। रचनाकार की आत्मीय संघर्ष यात्रा में मेनलैंड का हर आदमी लड़ता हुआ दिखाई देता है कहीं सूरज की चमकीली रोशनी के साथ तो कहीं सिल्क के समंदर के साथ और पहाड़ियों की ऊंचाई के साथ विनोद साव का कंधा थपथपाते हुए, उनमें ऊर्जा और रोशनी भरते हुए, कहीं मेनलैंड की तलाश करते हुए, तो कहीं मेनलैंड की जमीन का उबड़-खाबड़ नक्शा खींचते हुए। कुल मिलाकर सैलानी का यह सफरनामा मेनलैंड में आदमी की तलाश का सफरनामा है जिसमें हर चेहरे की एक एक लकीर में लेखक एक मुकम्मल आदमी को पाने के लिए प्रयासरत दिखायी देते हैं। यही उनके संस्मरण की रचनात्मकता कही जा सकती है।

**कृति :** मेनलैंड का आदमी (यात्रा-वृत्तांत)

**लेखक:** विनोद साव

**प्रकाशक:** साहित्य भंडार, 50, चाहचंद, इलाहाबाद

**मूल्य:** 225/मात्र

**संपर्क :** राऊचोरा, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़), मो. 9425560759

## छौद्विंश चिंतन का प्रकर्ष: महादेवी के साहित्य का गद्य पर्व

डॉ. अर्चना पाण्डेय

प्रवक्ता, हिंदी विभाग

खिदिरपुर कॉलेज, कोलकाता

आधुनिक काल में अन्याय गद्य-विधाओं के सदृश समीक्षा भी एक विधा के रूप में आकार ग्रहण करती है। परंतु, जब साहित्य के वर्गीकृत का प्रश्न समक्ष होता है तब प्रमुखतः सर्जनात्मक साहित्य और आलोचनात्मक साहित्य के मध्य विभाजक रेखा खींच दी जाती है।

सर्जनात्मक साहित्यांतर्गत कविता, कथा-साहित्य, नाटक, रेखाचित्र, संस्मरण, यात्रावृत्त, आत्मकथा, जीवनी, डायरी, साक्षात्कार तथा पत्र-साहित्य को अन्तर्भुक्त किया जाता है। किंतु, आलोचनात्मक साहित्य समस्त सर्जनात्मक साहित्य को समाविष्ट किए हुए है, उसमें उक्त साहित्य विधाओं की समीक्षा की जाती है।

सर्जनात्मक साहित्य की समालोचना तो विविध आलोचन पद्धतियों का अनुसरण कर सहजतापूर्वक समस्याओं से जूझते हुए निदान प्राप्त कर लेती है, किंतु आलोचन कृतियों को समीक्षित करते समय प्रश्न उत्पन्न होता है कि समीक्षित-कृति के लिए किन पद्धतियों का आश्रय ग्रहण किया जाये। फलतः 'आलोचना' की समीक्षा एक गंभीर संकट को जन्म देती है कि कृति-सम्मत आलोचना आलोचक के मानदंडों को समीक्षित करें अथवा 'कृति' के 'गुण-दोष विवेचन' को काम्य स्वीकारें।

'महादेवी के साहित्य का गद्य पर्व' प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी द्वारा लिखित समीक्षा-पुस्तक है, जो हमारे समक्ष प्रश्न उत्पन्न करती है और कृति-सम्मत समालोचना को प्रश्रय देती है। आलोच्य पुस्तक 'सूक्तियों' को समाहित कर कुल दस अध्यायों में विभक्त है, जिसमें कृतिकार की त्रिआयामी दृष्टि व्यंजित हुई है। उक्त कृति में तीन अध्याय महादेवी के 'स्त्री-विमर्श' विषयक चिंतन को प्रस्फुटित करते हैं और शेष अध्याय उनके वैचारिकी को प्रक्षेपित करते हैं।

समीक्ष्य पुस्तक के लिए लेखक की स्वीकारोक्ति है कि 'पाँच वर्षों' के कालखंड में विभिन्न अवसरों पर लिखे गए 'निबंधों का संग्रह' है। अतः पुनरावृत्ति स्वाभाविक है जो क्रमशः चिंतन की प्रौढ़ता को भी दर्शाती है।

सामान्यतः स्त्री विमर्शकारों के विषय-सम्मत मानदण्ड हैं- 'पुरुष-विरोध', 'स्त्री-स्वातंत्र्य' और 'भोगा हुआ यथार्थ'। इसलिए प्रथमतः कृति में विवेचित महादेवी के स्त्री-विषयक मान्यताओं का निदर्शन अपेक्षित है। लेखिका के स्त्री-विषयक चिंतन तथा उपर्युक्त निर्दिष्ट बिंदुओं से सम्मति-असम्मति पर विचार अपेक्षित है। कृतिकार की मान्यता है कि स्त्री-पुरुष के टकराव और संघर्ष को महादेवी का गद्य रेखांकित नहीं करता अपितु उनके सामंजस्य में विश्वास रखता है; यथा- "महादेवी स्त्री-पुरुष के टकराव के बजाय उनके ऐक्य पर जोर देती

हुई सामंजस्य विद्यायिनी दृष्टि का परिचय देती हैं। स्त्री-पुरुष यदि मिलकर राग अलापें तो अवश्य ही महाराग पैदा होगा।” (पृ. 16) वस्तुतः कृतिकार- ‘पुरुष-विरोध’ ही ‘स्त्री-विमर्श’ का ‘परमोद्देश्य’ बना हुआ है; उसका प्रतिकार महादेवी के गद्य में निहित है- जो कि अन्य विमर्शकारों एवं महादेवी के दृष्टिकोण संबंधी पार्थक्य को दर्शाता है- इसका निर्देशन करते चलते हैं।

‘स्त्री-स्वातंत्र्य’ की सीमा पर रचनाकार ने स्वयं महादेवी के मंतव्य को प्रकाशित किया है, यथा- ‘केवल स्त्री के दृष्टिकोण से ही नहीं, वरन् हमारे सामूहिक विकास के लिए भी आवश्यक होता जा रहा है कि स्त्री घर की सीमा के बाहर भी अपना विशेष कार्यक्षेत्र चुनने को स्वतंत्र हो। गृह की स्थिति भी तभी तक निश्चित है जब तक हम गृहिणी की स्थिति को ठीक-ठीक समझकर उससे सहानुभूति रख सकते हैं और समाज का वातावरण भी तभी तक सामंजस्यपूर्ण है, जब तक स्त्री तथा पुरुष के कर्तव्यों में सामंजस्य है।’ (‘शृंखला की कड़ियाँ’, महादेवी का गद्य पर्व- पृ. सं. 42)

विवेचक प्रो. तिवारी ने ‘भोगा हुआ यथार्थ’ विषयक महादेवी के मंतव्य को ‘समष्टि चेतस्’ बताया है ‘व्यष्टि चेतस्’ नहीं जो कि लेखिका के उक्त विषय से विभेद को ही दिग्दर्शित करता है; यथा- “रामा की बहू निरक्षर स्त्री के रूप में एक ‘वस्तु’ है, बूढ़ी कल्लू की माँ निराश्रित नौकरानी है, भाभी बाल-विधवा की यंत्रणा झेलती हुई घर में नजरबंद है, चीनी भाई की बहन विमाता के दुष्टता के कारण देह बेचने पर विवश की गई है, बिबिया अपनी मृत सौत के बेटे भीखन की कुदृष्टि से घायल और मर्यादा गँवाकर पति के घर से निकल भागकर अन्तर्धान हो जाती है, गुँगिया ससुराल से बहिष्कृत की गई है तो उधर लछमा का भी वही हश्र हुआ है।” (पृ. सं. 47) तात्पर्यार्थ नारी समाज की संरचना का विशेष विवेचन महादेवी के गद्य का विषय रहा है। स्त्री-शोषण के विविध रूपों का निक्षेप महादेवी के गद्य का एक पक्ष रहा है। वर्तमान समय के स्त्री-विमर्श एवं महादेवी सम्मत स्त्री-विमर्श का ‘स्वरूप’ एकीकृत नहीं है प्रत्युत, विषय-वस्तु की आधार भिन्नता है, जिससे यहाँ केवल ‘भोगा हुआ यथार्थ’ नहीं वरन् ‘स्व’

की सीमा का अतिक्रमण कर ‘पर’ के समाहार की कथा है, जिसे कृतिकार ने विवेच्य कृति में स्थापित किया है।

बौद्धिक चिंतन के धरातल पर अनुशीलित कृति में महादेवी के विचार को परंपरा और दर्शन संवलित स्वीकारा गया है- ‘उन्हें बुद्ध का दर्शन प्रिय है जो भारत भूमि की या भारतीय उपमहाद्वीप की एक विचार परक दार्शनिक परंपरा है, उसमें कोई तब प्रभावपूर्ण हो जाती है जब दर्शन की किसी शाखा में एतद्विषयक कोई पुष्टि मिल जाए।’ (पृ. सं. 24) इसी कड़ी में प्रो. तिवारी महादेवी के आलोचकीय व्यक्तित्व में भी चिंतन के प्राधान्य को ही स्वीकृति प्रदान करते हैं- ‘आलोचक जब आलोचना की कोई पुस्तक लिखता है तब वह किसी साहित्यकार या युग प्रवृत्तियों को दृष्टिपथ में रखकर किसी कोण से उन्हें महत्तर फैलाव देता है। महादेवी वर्मा का आलोचक से अधिक मोहक व्यक्तित्व चिंतक का है, जो अधिक पहचान में आता है।.... आलोचक अपनी आलोचना में अपने अध्ययन एवं अधिगृहीत ज्ञान की पृष्ठभूमि का प्रदर्शन करता चलता है जबकि चिंतक अपने विचारों का मौलिक प्रस्तोता होता है।

... अपने सुदीर्घ रचनात्मक जीवन में उन्होंने साहित्य और संस्कृति के प्रयोजनात्मक पक्षों को अपनी विचारणा और भावना का विषय बनाकर चिंतन ही किया है, दो-चार निबंधों को छोड़कर आलोचक की तरह ससंदर्भ जिरह नहीं की है। (पृ. सं. 51)

गद्य लेखिका के बौद्धिक चिंतन का एक प्रमुख आयाम उनकी समाज-चेतस् अन्तर्वृत्ति भी है; जो उनके अंतर्विषयी (Interdisciplinary) ज्ञान का परिचायक है, जिसका लेखक के शब्दों में प्रकाशन सर्वोचित है- “लेखक या बुद्धिजीवी स्वभाव से समाज-चेतस् होने के कारण समाजशास्त्री होता है। महादेवी में एतद्विषयक अतिरिक्त सजगता है जिससे यह सहज अनुमेय है कि जो वे कलाकार न होती, तो विशुद्ध रूप से समाजशास्त्री होतीं। महादेवी के बहुतेरे निबंध और ‘शृंखला की कड़ियाँ’ समाजशास्त्री निकष पर खरे और प्रासंगिक सृजन हैं। वे समाज के ऐतिहासिक, भौगोलिक और मानविकी धरातलों पर सुशृंखल तर्क पद्धति के बल पर विवेचन कर सकती हैं। वे नीतिपरक प्रजातांत्रिक और वैचारिक समाज के निर्माण का सपना देखती हैं, जहाँ

व्यक्ति और समाज के बीच सौख्यपरक सामंजस्य रह सके।” (पृ. सं. 38) उक्त विषयक विवेचन प्रमुखतः एक महत्वपूर्ण दृष्टि की ओर संकेतित करता है कि अन्तर्विषयी ज्ञान साहित्य को समृद्ध करता है, जो वर्तमान समय में साहित्य के मूल्यांकन का एक प्रमुख मानदण्ड बनता जा रहा है।

समीक्ष्य कृति में महादेवी के मानवेतर जीवों के प्रति प्रेम एवं संवेदनशीलता की सघन गहनता का उद्घाटन भी समीक्षक ने किया है। उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा का संस्पर्श मानव जगत से लेकर मानवेतर जगत तक प्रसार पाता है, जिसका चित्रण यथायोग्य कृति में किया गया है, यथा- ‘पशु-पक्षि जगत की स्मृतियों से सम्बद्ध रेखाचित्र हिंदी में पहले-पहल प्रस्तुत करने का मौलिक श्रेय महादेवी को जाता है।’ (पृ. सं. 74) महादेवी सृष्टि का प्रसार सह-अस्तित्व में स्वीकारती हैं। यह लेखक के शब्दों में ‘उनके गद्य की गुरु गंभीर विशेषता है।’

यद्यपि अब तक समीक्षा का केन्द्र बिंदु ‘रचना’ का विषय ही रहा है, तथापि भाषिक-संरचना के प्रस्फुटन को आयामित करना आवश्यक है। भाषिक संघटना विषयक महादेवी-सम्मत दृष्टिकोण पर कृतिकार ने महत्वपूर्ण एवं व्यापक दृष्टि निपेक्ष किया है, क्योंकि विषय की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम उसकी भाषिक क्षमता होती है। समालोचक का स्पष्ट मंतव्य है कि महादेवी की भाषा विषय सम्मत है; यथा- ‘महादेवी ने तत्सम शब्दों के माध्यम से वाक्य गठन किया है; तत्समता इसलिए उनकी प्रकृत भूमि है; उनका अपना पक्ष है जहाँ परंपरा से उपार्जित दाय के प्रति उनकी प्रतिबद्धता व्यक्त हुई है। फारसी, अरबी और अंग्रेजी के स्रोतों से महादेवी ने अत्यल्प भी शब्द नहीं लिए। वे ‘चालू’ या ‘अखबारी’ भाषा की पक्षधर नहीं हैं। अंग्रेजी

का पुख्ता ज्ञान होने के बावजूद भी उनकी शब्दावली अंग्रेजी शब्दों की घुसपैठ से मुक्त है। वास्तव में, गद्य-लेखन को ‘कवियों का निकष’ मानकर उन्होंने गद्याभ्यास किया है। वे हिंदी गद्य निर्माताओं में प्रथम पांक्तेय हैं और निर्माता का भार बखूबी वहन करने में अति समर्थ। इनकी गद्य भाषा ने रेखाचित्र, संस्मरण और निबंध जैसी महत्वपूर्ण विधाओं को ऊँचाइयाँ प्रदान की हैं।” (पृ. सं. 84)

आलोच्य कृति में महादेवी के गद्य को साहित्यशास्त्र एवं व्याकरण शास्त्र दोनों ही दृष्टियों से परीक्षित किया गया है, जो गद्य के मूल्यांकन के अभिनव प्रयोग को दर्शाता है। वे ‘गद्य के पद्यवत् आचरण की पहली मिसाल सादृश्य विधान द्वारा कायम करना चाहती हैं। महादेवी के गद्याचरण की यह महती विशेषता है। जहाँ रूप, गुण, धर्म या प्रभाव-साम्य की सृष्टि करना वे भूलती नहीं।” (पृ. सं. 86) आगे “एक-दो सर्वनामों और क्रिया रूपों को छोड़कर कहीं भी दिखने को दिखती है तत्समता ही। वे स्थल जो प्रत्यक्ष जीवन को उकेरने की गरज से लिखे गये हैं, वहाँ अवश्य ही तद्भविकृत शब्द व्यवस्था है।” (पृ. सं. 85)

सारांशतः समीक्षक ने महादेवी के गद्य की भावभूमि एवं कलाभूमि दोनों का ही सम्यक परीक्षण किया है जो गंभीर विवेचन दृष्टि की ओर संकेत करता है, किन्तु समीक्ष्य कृति की भी भाषा का विश्लेषण अपेक्षित है।

महादेवी ने जिस आलंकारिक भाषा में गद्य सृजन किया है। समीक्षक ने उसी आलंकारिक भाषा में समीक्षा भी लिखी है; यथा- “इस दृष्टि से पुष्कल साहित्यिक अभिवेग में महादेवी की कलम से अभिजात विशेषणों का प्रयोग दिखता है।” (पृ. सं. 85)

निष्कर्षतः सर्जनात्मक एवं मौलिक आलोचना के क्षेत्र में हिंदी साहित्य के परिदृश्य में एक रिक्ति उत्पन्न हो गई है; समीक्ष्य कृति कमोवेश उस रिक्ति को दूर करने के प्रयत्न की ओर अग्रसर है जो कि संतोषप्रद एवं अनुशंसनीय है।

**समीक्ष्य पुस्तक :** महादेवी के साहित्य गद्य का पर्व

**लेखक :** मुक्तेश्वर नाथ तिवारी

**समीक्षक :** डॉ. अर्चना पाण्डेय

**प्रकाशक :** अमन प्रकाशक, रामबाग, कानपुर

**संस्करण :** प्रथम

**मूल्य :** 70/- रुपये मात्र

**संपर्क :** द्वारा- श्री प्रदीप कुमार पाठक

311, रवीन्द्र सरणी, नूतन बाजार-700006

**मो. 9830839032**

## हिंदी साहित्य में बंगीय योगदान पर दो दिवसीय संगोष्ठी

भारतीय विद्या मंदिर एवं भारतीय संस्कृति संसद के संयुक्त तत्त्वाधान में 12-13 मार्च 2016 को 'हिंदी साहित्य में बंगीय योगदान' पर संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस अवसर पर भारतीय विद्या मंदिर द्वारा प्रकाशित डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र की पुस्तक 'हिंदी साहित्य : बंगीय भूमिका' का लोकार्पण हुआ।

उक्त संगोष्ठी में मुख्य अतिथि डॉ. इंद्रनाथ चौधरी ने अपना वक्तव्य रखते हुए कहा कि 'हिंदी का विरोध पहले जो बंगाल में था वह खत्म हो रहा है। यह देश बहुभाषीय देश है, इसमें विविधता है, धर्म-भाषा। संस्कृति आदि से। अतः राष्ट्र भाषा की बात छोड़कर 1965 के बाद सरकार ने भी और हिंदी के विद्वानों ने भी कहा कि क्यों नहीं हम हिंदी का प्रचार-प्रसार करें और उसकी व्यावहारिकता से लोगों को परिचित कराएँ। हिंदी को लेकर किसी के ऊपर दबाव नहीं है। इसका नतीजा हुआ कि हिंदी को आज कोई नहीं रोक पा रहा है। हिंदी अपने आप प्रचलित है। लोगों के विरोध के बावजूद भी हिंदी अग्रणी है।

संगोष्ठी के अध्यक्ष डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र ने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में कहा कि हिंदी भाषा तभी समृद्ध और प्रतिष्ठित होगी जब सभी हिंदुस्तानियों के घरों में हिंदी के अखबार पढ़े जायेंगे। उन्होंने यह भी कहा कि मैं बहुत पीड़ा के साथ कहना चाहूँगा कि पहले के लोग हिंदी की सेवा करते थे और अब के लोग हिंदी का सेवन कर रहे हैं। संगोष्ठी में कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो. अमरनाथ, बारसात विश्वविद्यालय के प्रो. अरुण होता, वैचारिकी पत्रिका के संपादक डॉ. बाबू लाल शर्मा आदि ने अपने वक्तव्य प्रस्तुत किए।

विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों से आए शिक्षकों एवं शोधार्थियों ने अपने आलेख एवं शोध पत्र का वाचन किया। अंत में संस्थाध्यक्ष डॉ. बिटुलदास मूंढड़ा ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

**प्रस्तुति : उमेश मेहता, महेश लोढ़ा**

## लोकार्पण सह परिचर्चा गोष्ठी का आयोजन

बुजुर्ग समाज पूर्णिया के बैनर तले भोलानाथ आलोक अध्यक्ष बुजुर्ग समाज पूर्णिया के सिपाही टोली आवासीय परिसर में बीते 10 अप्रैल 2016 को कवि द्वय डॉ. सुवंश ठाकुर अकेला एवं शिव नारायण शर्मा 'व्यथित' की कव्य-कृतियाँ क्रमशः 'गहरी स्मृति के दाग' एवं 'धूप जब आँगन उतरी' का लोकार्पण सह परिचर्चा गोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसकी अध्यक्षता प्रो. ए. हसन दानिश ने की तथा मंच संचालन अवधेश कुमार सिंह ने किया। समारोह के मुख्य अतिथि राष्ट्रीय स्तर के सुख्यात कथाकार चंद्रकिशोर जायसवाल थे। काव्य-कृतियों के लोकार्पण के पश्चात परिचर्चा के क्रम में बोलते हुए काव्यकार प्रो. इंदु शेखर ने कहा कि आज समय की अंधी दौड़ में जीवन की गंभीर जटिलताओं से घिरे रहने के बाद भी कवि अपने रचना क्रम में बेफ्रिक संलग्न रहता है, जिसे हम योद्धा कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं और इस काव्य-भूमि पर इन दोनों कवियों को खड़ा हुआ देखा जा सकता है। वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. राम नरेश भक्त ने वक्तव्य में कहा कि एक ओर कवि अकेला की कविताओं में तेवर की गूँज सुनायी पड़ती है, वहीं कवि व्यथित की कविताओं में प्राकृतिक छवियाँ दृश्यमान हुई हैं। सर्जना



की उर्वर धरातल पर कवि द्वय के काव्यात्मक मनोवेगों तथा रचनात्मक मनोभावों को देखा जा सकता है। डॉ. छोटेलाल बहरदार ने चर्चा करते हुए कहा कि कवि अकेला की कविता समय सापेक्ष है, जिसमें जन-चेतना मुखरित हुई है, वहीं कवि व्यथित की कविताएँ संवेदनाओं की पृष्ठभूमि पर बुनी गयी हैं। वहीं व्यथित की कविता में समकालीन भावना उभरकर सामने आयी है। मुख्य अतिथि कथाकार चंद्रकिशोर जायसवाल ने एक स्वस्थ साहित्यिक विमर्श के माध्यम से साहित्य के कुछ अनछुए विषयों पर विस्तार से चर्चा किया। अंत में प्रो. ए. हसन दानिश ने अपने अध्यक्षीय भाषण में आज के काव्यात्मक परिदृश्य की चर्चा की और कहा कि रेणु की कर्मभूमि के इन दोनों कवियों की कविताएँ यथार्थ की भाव-भूमि पर टिकी हैं, जो पाठकों से सीधे बात करती दिखायी पड़ती हैं। इस सारस्वत लोकार्पण समारोह में लोकार्पित काव्य-कृतियों के कवि सुवंश ठाकुर अकेला एवं शिव नारायण शर्मा 'व्यथित' सहित सुरेंद्र नाथ, केदारनाथ साह, गोविंद कुमार, श्याम लाल पासवान, डॉ. के. के. चौधरी, अनंत लाल यादव, परिमल मित्रा, त्रिलोकेश्वर तरुण, राजू गीरापू, बालकृष्ण कुंवर, ओम प्रकाश पांडेय, नरेश कुमार शर्मा, अशोक कुमार सिंह एवं स्थानीय समाचारों पत्रों, आकाशवाणी तथा टी. वी. चैनलों के मीडिया कर्मी भी उपस्थित थे। समारोह के समापन पर धन्यवाद ज्ञापन अशोक कुमार सिंह ने किया।

**प्रस्तुति :** नरेश कुमार शर्मा, साहित्य प्रेमी एवं अभिकर्ता, भा.जी.वी. निगम, पूर्णिया

### ‘मुक्तचल’ प्राप्ति स्थान

**आनंद प्रकाशन :** 176/178, रवीन्द्र सारणी, कोलकाता- 700007

**मानव प्रकाशन :** 131, चितरंजन एवेन्यू, कोलकाता- 700073

**मोहन बुक एजेंसी :** 2, डेकर्स लेन, कोलकाता-700069

**ओम न्यूज एजेंसी :** रंगमहल टाकीज के सामने, न्यू मार्केट भोपाल

**श्री सुमन कुमार :** प्रगतिशील पुस्तक भंडार, इलाहाबाद बैंक के सामने,  
अशोक राजपथ, पटना-800004

**पुस्तकालय :** सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता

**हेम बुक सेंटर :** जे.एन.यू. दिल्ली

**मौर्या बुक स्टाल :** लंका, वाराणसी

**परिदृश्य प्रकाशन:** 1, अनमोल बिल्डिंग, शोहराबजी, सांतुक लेन,  
धोबी तालाब, मरीन लाइन, ईस्ट मुंबई- 400002

**प्रभात बुक सेंटर :** सी/207, शीतल स्टार, शीतल नगर, एम.टी.एन.एल के पीछे,  
मीरा रोड (ईस्ट), मुंबई- 401107

**ज्ञानदीप :** नियर फिरारालाल, एच.बी. रोड, राँची-834001

**लालमणि साव बुक स्टॉल:** आर. एन. साव चौक, पूर्णिया-854301

**गोविंद न्यूज पेपर मार्केट :** कैंट साइट, रेल बाजार, कानपुर-208004

**श्याम सुंदर गुप्ता न्यूज पेपर मार्केट :** कैंट साइट, (नियर रेलवे स्टेशन) कानपुर-208004

‘मुक्तांचल’ का जनवरी-मार्च 2016 का अंक मिला। धन्यवाद! अंक स्त्री-लेखन पर केन्द्रित कर आपने अच्छा किया। इस्मत चुगताई पर एस. एम. याहिया इब्राहिम का लेख, विमल वर्मा का गीतांजलि श्री कहानी पर लेख, डॉ. सारदा बनर्जी का लेख- ‘स्त्री मुक्ति के सवाल और यशपाल’ खास तौर पर पसंद आये वैसे अन्य लेख भी ठीक लगे। कवयित्री महादेवी वर्मा के जन्म दिन पर उनकी एक गीत रचना का प्रकाशन जरूरी लगा। अगला अंक भी बेहतर निकलेगा, आशा है।

रामनिहाल गुंजन, आरा

‘स्त्री-लेखन’ पर केन्द्रित ‘मुक्तांचल-7’ (त्रैमासिक) का अंक मिला। धन्यवाद, आभार! लगभग सभी रचनाओं को पढ़ गया। पत्रिका स्तरीय है, रचनाएँ भी।

इस्मत चुगताई पर केन्द्रित एस. एम. याहिया इब्राहिम का आलेख काबिले तारीफ है। उर्दू अदब में ऐसी साहसी महिलाएँ कम हैं। डॉ. अमीर चंद वैश्य का लेख मर्मस्पर्शी है। समय आधुनिक हो अथवा उत्तर आधुनिक, महिलाओं के प्रति पुरुष सोच में कोई बदलाव देखने को नहीं मिलता।

महिलाएँ आज भी प्रताड़ित, लांछित होती हैं। दहेज-दानव-प्रथा का शिकार होती हैं। आत्महत्या करती हैं। धन-दौलत के लिए उनकी निर्मम हत्या की जाती है। बलात्कार तो अब आम बात हो गयी है। भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति ‘जस की तस’ है। दो चार घटनाएँ भले ही समाचार पत्रों में स्थान बना लें, गाँवों-देहातों की स्थिति अत्यंत शोचनीय है। पुरुष वर्ग ‘तन’ से भले ही आधुनिक हो, ‘मन’ से वह सामंतीय ही है। बेशक, कुछ महिलाएँ आगे आ रही हैं। यह शुभ है। वह दिन दूर नहीं जब पुरुष समाज उन्हें बराबरी का दर्जा देने के लिए बाध्य होगा अथवा वे स्वयं अपना अधिकार लेकर रहेंगी।

‘नामवर सिंह और रसशास्त्र का विखंडन’ शीर्षक प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी का आलेख ‘अथातो ब्रह्म जिज्ञासा’ की तरह बहस-तलब है। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने जब ‘रस’ को ‘रसो वै सः’ कह दिया तो फिर कहने के लिए क्या शेष बचा? फिर ‘एको रसः करुण एव’ भी तो है ही। ‘करुणा’ से यदि समाज बदल जाता तो क्या कहने? ‘मार्क्सवाद का क्या हुआ? पंडित जी का मार्क्सवाद बड़ा लचीला है। अस्तु कमल कुमार, रंजना श्रीवास्तव, शुभा उपाध्याय की कहानियाँ पाठक की चेतना को झकझोर देती हैं। स्त्री सोच पर केन्द्रित सविता मिश्र, मनीषा झा, मंजुला उपाध्याय, सोनम सिंह की कविताएँ अच्छी बन पड़ी हैं।

श्रीनिवास शर्मा, कोलकाता

प्रस्तुत अंक ‘स्त्री लेखन’ पर केन्द्रित साहित्य में प्रगतिशील चिंतन का विस्तृत परिदृश्य उपस्थित करने का उपक्रम है। समय और समाज आधुनिकता से उत्तर आधुनिकता की ओर पर्याप्त दूरी तक सफर कर चुका है। ऐसे में परंपराओं में बंध कर तो नहीं रहा जा सकता किंतु नैतिकता की बदल रही परिभाषाओं में मानवतावादी दृष्टिकोण से स्त्री मुक्ति की दिशा में साहित्यिक प्रयासों का अपना महत्त्व तो है ही। न्याय संगत, विवेक सम्मत और जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टि प्रदान करने वाला साहित्य अनैतिकता, कदाचार और छद्म मुक्ति का समर्थक नहीं हो सकता। मुक्तांचल का मतांतरो से आगे बढ़कर नीति का निर्धारण करने वाला साहसिक स्वातंत्र्य विषयक संस्तुतिकरण सत्ता व्यवस्था और समाज के लिए मार्गदर्शन बन सकता है।

स्त्रीवादी साहित्य के संचयन और प्रस्तुतीकरण का उपयुक्त माध्यम है यह अंक। सूर्यप्रसाद शुक्ल, कानपुर

अंक-7 मिला, आभार। सोच रहा हूँ, कहाँ से शुरू करूँ, इस गंभीर, शोधपरक पत्रिका में इतना कुछ है कि सब कुछ पर टिप्पणी करने का मन कर रहा है। इस पार से उस पार तक महिलाओं की इस मजलिश में पुरुष बेहैसियत सा लगता है। यह बेहैसियत लगना या होना अब जरूरी भी है। बहुत हुआ...

याद आती है परवीन शाकीर-

*‘वो झूठ बोलेगा और लाजवाब कर देगा  
मैं सच कहूँगी मगर फिर भी हार जाऊँगी।’*

औरत को हराने वाला मर्द आज कुछ हद तक हारा-हारा सा है लेकिन अभी भी उसका दंभ खत्म नहीं हुआ है। उस पार से महादेवी की यह अमरवाणी जीवन और उसके अमरत्व को दर्शाती है। यह जीवन के उलझनों का उत्तर भी है-

*‘मरण का उत्सव अजर है  
गीत जीवन का अमर है।’*

इस पार से उस पार तक कई पीढ़ियाँ गुजर गईं। फिर भी नारी अपने स्त्रीत्व के लिए संघर्षरत है लेकिन आधी दुनिया की ये सशक्त महिलाएँ कहीं-कहीं इतना मजबूत-बुलंद और हौसलों से भरपूर हैं कि उनके सामने हजारों मर्द नतमस्तक हैं, लेकिन क्या कीजिए मज़ाज़ लखनवी भी अपने दौर में परिशान थे- ‘कैसी मजबूरी है कि हुस्न मजदूरी करे...’ या यह कि ‘बड़ी मुश्किल है दुनिया का संवरना, तेरी जुल्फों का पेंच- वखम नहीं है।’ इस पार से शब्दों और उपमाओं तथा मुहावरों की ध्वनि अनामिका न जाने कहाँ-कहाँ से बिंब, छंद खोज लाती हैं : ज़रा देखिए तो, भला कभी किसी ने ऐसी कल्पना की है.... ?- ‘पुच्छल तारे से झाड़ू मांग ली है। और बुहार कायनात। रख लिया है इसी टोकरी में दिगंत’

इस अंक में कमल कुमार, रंजना श्रीवास्तव, डॉ. शुभ्रा उपाध्याय की कहानियाँ जिंदगी की रंग से भरपूर हैं। खासकर कमल कुमार की कहानी ‘मदर मेरी’ तो अंदर से हिलाकर रख देती है। शासन, प्रशासन, संविधान, नियम कानून और पुरुष लंटई पर तमाचा मारती हुई लगी, मदर मेरी। इस अंक का अग्रलेख ‘इस्मत चुगताई...’ (एस. एम. याहिया इब्राहिम) पर कई नई जानकारी प्राप्त हुई। पढ़कर आश्चर्य हुआ कि इस्मत की वंश परंपरा इस्लाम के तीसरे खलीफा हजरत उस्मान गनी (644 से 656) से जा मिलता है, यह शोध का विषय है। अगर ऐसा है तो वह भारतीय मुसलमान का अकेला पहला घराना है। मुझे तो यह जानकर अब डर लग रहा है कि मैं उस ‘लेडी चंगेज खाँ’ से मिला हूँ। मजे की बात यह है कि हमारे कुछ गौरवशाली परंपरा को ढोने वाले मुसलमान भाई चंगेज खाँ को भी मुसलमान ही मानते हैं।

खैर, भाई याहिया इब्राहिम को इस शोधपरक लेख के लिए बधाई! आपने छोटे से संपादकीय में कई तरह के भाव, संकेत, दुख और बाजार के बढ़ते कदम में सब कुछ समाहित होने के दर्द की ओर इशारा किया गया है। इसमें स्त्री भी एक पार्टी है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। संपादकीय में सबसे अहम इस बात की ओर संकेत किया गया है कि ‘लेखक का लेखन कम उसकी प्रशस्तियाँ अधिक बोलती हैं।’ यह बहुत हद तक सच है कि अपने ‘रूप’ को छुपाकर लिखना जरा मुश्किल है।’

इस अंक के मुख पृष्ठ का रेखांकन भी नारी की उन्मुक्तता, स्वच्छंदता को दर्शाता है। लेकिन कहीं-कहीं या आजादी अराजकता तक पहुँच गयी है। औरतें इसका नाजायज फायदा उठाकर घर तोड़ रही हैं। हद तो ये है कि ये पुरुषों को चिढ़ाते हुए दिखा-दिखाकर सिगरेट पी रही हैं। फेमिनिज्म का परचम उठाये सिमोन दा बुआ की अनुयायी इन महिलाओं को मालूम होना चाहिए कि विदेशों के खुलेपन को हम भारतीय परिवेश में लागू नहीं कर सकते। यहाँ नारी अपनी लाज और गृहस्थी को बचाये रखने के लिए जान तक दे देती है। यह गृहस्थी केवल चूल्हा फूँकना, रोटी बेलना या- ‘पढ़िए गीता बनिये सीता’ कविता तक ही सीमित नहीं है... औरत आजाद है, हमख्याल हो, जिंदगी में उनकी बराबरी की हिस्सेदारी हो, रसोई को तिलांजलि दें, दाम्पत्य को ढेंगा दिखा, रिलेशनशिप में रहने वाली बाल कटाकर मर्द ही बन जाने को प्रगतिशीलता मानने वाली महिलाएँ मेरी दृष्टि में समाज के लिए नासपिटी हैं-

‘हुये इस क्रूर मुहज्जब कभी घर का मुँह न देखा  
कटी उग्र होटलों में मरे अस्पताल जाकर।’

इस अंक में डॉ. इतु सिंह, पूनम सिंह, डॉ. दीपाविता माजि ने भारतीय नारी के संघर्ष, जिजीविषा, कल्पना और स्त्री होने के दर्द को बहुत गहरे तक अपने कलम से पाठकों तक पहुँचाने की कोशिश की है। जहाँ प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी ने अपने विमर्श के माध्यम से रस शास्त्र पर गंभीर चिंतन किया है वहीं बिमल वर्मा ने गीतांजलि श्री की कहानी ‘बेलपत्र’ पर समीक्षात्मक रायजनी की है। तो पूनम सिंह ने स्त्री की मौजूदा स्थिति पर विचार प्रस्तुत किया है और डॉ. आरती ने स्त्रीवाद के मुद्दे को राजनीति से जोड़कर देखा है।

इस मुक्तांचल के पृष्ठों पर कहीं मनीषा झा की कविताएँ ललकार रही हैं, व्यंग्य कर रही हैं तो कहीं सविता मिश्र की कविताएँ औरतों की दिनचर्या को नोट कर उनके गृहस्थ जीवन के प्रति ईमानदारी उनकी अहमियत बता रही हैं। बता रही हैं कि दुनिया को बचाये रखने के लिए औरत की कितनी जरूरत है। वहीं मंजुला उपाध्याय मंजुल की कविताएँ तस्लीमा नसरीन की जद्दोजेहद, निर्वासन, लज्जा, को बखूबी बयां करती हैं। और सोनम सिंह की कविताएँ आज की सीताओं की पीड़ा-दर्द को बताती हैं।

पुस्तकायन में डॉ. गीता दूबे ने अंग्रेजी के वरिष्ठ पत्रकार और उर्दू दां कुलदीप नैय्यर की आत्मकथा ‘एक जिंदगी काफी नहीं’ पर बड़ी गंभीर आलोचनात्मक दृष्टि डाली है। ढाई पृष्ठों में गीता ने नैय्यर की आत्मकथा की इतनी चुस्त दुरुस्त समीक्षा की है कि पूरी पुस्तक पढ़ने की जिज्ञासा हो उठती है। समीक्षा की यह कसौटी, नये रुझान के कलमकारों और कलम को तलवार बनाने वालों का स्वागत होना चाहिए।

लेकिन एक भूल पता नहीं कैसे हुई कि अंग्रेजी की आत्मकथा ‘बियॉग द लाइफ’ का हिंदी अनुवाद किसने किया है। यह समीक्षक से छूटा है या संपादन में या फिर कंपोजिंग के समय रह गया है। यह पाठक को मालूम होना चाहिए।

सेराज खान बातिश, खिदिरपुर, कोलकाता

प्रिय छात्र परमजीत के सहयोग से प्राप्त पूर्व के सभी अंकों की तरह ‘मुक्तांचल’ का अंक (जनवरी-मार्च, 2016) भी आद्योपांत पढ़ गया। शोध, समीक्षा, सृजन और संचार से युक्त यह अंक भी विद्यार्थियों-शोधार्थियों के लिए अति उपयोगी है। इस अंक के अधिकतर पाठ ‘स्त्री-विमर्श’ से संबद्ध हैं। यहाँ बाधाओं से लड़ती स्त्री रचनाकार की संघर्षमय जीवन की गाथा भी मौजूद है और स्त्री-विमर्श से जुड़ी रचनाओं पर गहन विचार-विमर्श भी। यहिया इब्राहिम का आलेख ‘इस्मत चुगताई: उर्दू फिक्शन का बागी तेवर’ बहुत अच्छा लगा। इस्मत चुगताई का संघर्षमय जीवन वाकई पाठकों के लिए प्रेरणाप्रद है। स्त्री-विमर्श पर आधारित अन्य पाठ भी दुनिया की लगभग आधी आबादी- स्त्री के संघर्ष, दुःख-दर्द और उनकी महत्वपूर्ण भूमिका को भली-भाँति समझाने में सक्षम हैं।

गंभीर विषयों पर आधारित प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। इस अंक में नामवर सिंह के संग रसशास्त्र पर गहन चर्चा वर्तमान समय में सूखते रस-कलश को भरने का महत्त प्रयास कहा जा सकता है।

‘सृजन’ के अंतर्गत सविता मिश्र की कविता ‘पंपा’ अभावग्रस्त कामगारों के बीच पल रहे सात्त्विक प्रेम का जीवंत दस्तावेज है। अन्य कविताओं में एक ओर जहाँ स्त्री की मानसिक-पीड़ा, चाहत एवं कोमल मन को वाणी मिली है तो दूसरी ओर आधुनिक समाज में वयोवृद्धों की उपेक्षा और अकेलेपन के दर्द को अभिव्यक्ति मिली है। पाठकों को झकझोर कर जगाने वाली संवेदनात्मक कविताओं के साथ-साथ स्त्री-विमर्श से जुड़ी ‘मदर मेरी’, ‘बॉम्बे कॉफी हाउस’, ‘संशय’ और ‘समागम’ जैसी उत्कृष्ट कहानियों के चयन एवं ‘मुक्तांचल’ के माध्यम से पाठकों तक पहुँचाने के लिए संपादक-मंडल को बहुत-बहुत धन्यवाद!

उस पार से... इस पार तक... उत्तम सामग्री-चयन, संपादन, निश्चित अवधि में प्रकाशन एवं पूर्व-निश्चित गरिमा को बरकरार रखने के लिए संपादक द्वय को बधाई... शुभकामनाएँ।

सुनील कुमार ‘सुयश’, रिसड़ा, हुगली

‘मुक्तांचल’ का जनवरी-मार्च अंक मिला। अनंत आभार। इस अंक को आपने स्त्री-लेखन पर केन्द्रित किया है। शोधपरक आलेख, मार्मिक कहानियाँ, चर्चित कवयित्री डॉ. शांति सुमन के आत्मकथ्य के साथ कविता, समीक्षाएँ आदि ढेर सी पठनीय सामग्री के साथ यह अंक संग्रहणीय हो चला है। बहुत बहुत बधाइयाँ।

अशोक ‘अंजुम’, अलीगढ़, उत्तर प्रदेश

‘मुक्तांचल’ (त्रैमासिक) पत्रिका का अंक-7, जनवरी-मार्च 2016 मिला। आभार।

यह अंक स्त्री-लेखन पर विशेष है। एम.एम. याहिया इब्राहिम का आलेख ‘इस्मत चुगताई: उर्दू फिक्शन का बागी तेवर’ इस्मत चुगताई की जिंदगी और लेखन पर उनकी प्रगतिशील रचना संसार और संघर्षों को बारीकी से उधेड़ा गया है। प्रगतिशील विचारों से लैस इस्मत आपा नारी जीवन के अनुभवों, संघर्षों और दुश्वारियों को बड़ी बेबाकी से कहानियों और उपन्यासों में परोसी हैं। इस्मत के फिक्शन में रूढ़िवादिता और गलत रीति-रिवाज पर तीखा प्रहार मिलता है। वहीं, पूनम सिंह का आलेख ‘स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में कामकाजी स्त्री का संघर्ष’ पठनीय है। कामकाजी महिलाओं का संघर्ष अंतहीन है। चुनौतियाँ इनके समक्ष हैं किंतु वे लगातार आगे बढ़ रही हैं।

डॉ. इतु सिंह का आलेख ‘कल्पना और भाषा के नए मुहाने गढ़ती समकालीन स्त्री कवि’ आज के जटिल समय में महत्वपूर्ण आलेख है। आलेख में ईमानदारी से स्त्री-कवियों की खबर ली गई है। सभी समकालीन स्त्री कवियों की कविताएँ अपने समय के यथार्थ को रच रही हैं। कविताओं में स्त्री जीवन और स्त्री-चेतना का स्वर मुखर है। वहीं, डॉ. दीपान्विता माजी का आलेख ‘आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास: स्त्रीवादी पाठ’ खोजपूर्ण है। चारों उपन्यासों से उद्धृत नारी पात्रों का विश्लेषणात्मक अध्ययन ईमानदारी से किया गया है। 1946 से 1976 के बीच लिखे गये उपन्यासों की रचना स्त्रियों की अस्मिता को प्रतिष्ठित करने के लिए ही हैं। वस्तुतः यहाँ स्त्रीवादी दृष्टि है।

अमीरचंद वैश्य का अनुशीलन आलेख ‘हिंदी में आधी दुनिया का सच’ भी पठनीय है। 2015 में प्रकाशित आलोचनात्मक कृति ‘स्त्री की दुनिया’ में मधुरेश ने वैविध्यपूर्ण दुनिया की सच्चाईयों को उजागर किया है। वहीं, डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी का विमर्श आलेख नामवर सिंह और रसशास्त्र का विखंडन’ शोध परक है।

कमल कुमार की ‘मदर मेरी’ कहानी अच्छी है जहाँ नारी परेशानियों से जूझ रही हैं। बच्चे के पिता के नाम से उसे जलन थी। वहीं, रंजना श्रीवास्तव की ‘बॉम्बे कैफे हाउस’ कहानी औरत की खुदमुख्तारी की बात करती है। औरत जब सोच ले तो कुछ भी कर सकती है। डॉ. शुभ्रा उपाध्याय की ‘संशय’ कहानी भी बेटी की बड़ी होती इच्छाएँ और भय को उकेरने में सक्षम है। सविता मिश्र, मनीषा झा, मंजुला उपाध्याय मंजुल और सोनम सिंह की कविताएँ भी अच्छी हैं।

कलाधर, पूर्णिया, बिहार

**केंद्रीय हिंदी संस्थान**  
**मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार**

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684, वेबसाइट: [www.hindisansthan.org](http://www.hindisansthan.org), [www.khsindia.org](http://www.khsindia.org)

**संक्षिप्त परिचय**

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

**संस्था के प्रमुख उद्देश्य-**

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ■ समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फेलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

**संस्थान के कार्य-**

● **शिक्षणपरक कार्यक्रम :** (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

● **अनुसंधानपरक कार्यक्रम :** (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● **शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास :** (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

**संस्थान के प्रकाशन :** हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका- 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

**पुस्तकालय :** भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

**संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय :** हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

**योजनाएँ :** ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत ■ अफगानिस्तान के नानारहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

-डॉ. कमल किशोर गोयनका

उपाध्यक्ष, के.हि.शि.म.

ई-मेल : [kkgoyanka@gmail.com](mailto:kkgoyanka@gmail.com)

-प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

निदेशक

ई-मेल : [nkpandey65@gmail.com](mailto:nkpandey65@gmail.com)

[directorofkhs@yahoo.co.in](mailto:directorofkhs@yahoo.co.in)

इस पार तक...

परमानंद श्रीवास्तव  
(10 फरवरी 1935 - 05 नवंबर 2013)



युवा लेखन के एकायामी होने की जो शिकायत की जाती है, वह वस्तु और शिल्प को अभिन्न मानकर चलनेवाली दृष्टि से प्रभावित है। इधर युवा लेखकों के जो भी उपन्यास प्रकाशित हुए हैं (यों ही हुए कितने हैं- और यह अलग से विचारणीय है कि 'उपन्यास' जैसी आज की एक महत्वपूर्ण केन्द्रीय विधा के प्रति युवा लेखक की उदासीनता किसी एक स्तर पर उसके मानसिक आलस्य और विपन्नता का ही फल या कारण तो नहीं) वे कथा-संदर्भ में विशिष्टता के परिचायक हो सकते हैं- शिल्प के रूप में प्रयोग का कोई विशेष साहस प्रदर्शित नहीं करते और अनजाने ही अपनी एक सीमा बना लेते हैं। यह स्थिति अधिक संतोषजनक नहीं कही जा सकती क्योंकि शिल्प की दृष्टि से किसी उपन्यास का विशिष्ट प्रयोग होना शिल्प के लिए ही उपयोगी नहीं होता, रचना के रूप में भी उसकी सार्थकता बढ़ा देता है।

उपन्यास का पुनर्जन्म



Application No:1254088

Title code: WBHINO1615/25/1/2014-TC, Dtd: 18/07/2014

हावड़ा विद्यापीठ मंत्र के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुई,  
शिक्षण, 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/1 अशुतोष मुखर्जी लेन,  
सालकिया, हावड़ा 711106 से प्रकाशित।  
संपादक : डॉ. मोर सिन्हा